टीका–टिप्पण्युपयुक्तग्रन्थसंकेतस्पष्टीकरणम् ।

अनुयोगद्वारवृत्तिः	
आचारा० सू०	आचाराङ्गसूत्रम्
आवश्यकनि० उवग्घायनि० / „ पढमाव० / „ सामायिकनि०	आवश्यकनिर्युक्तौ उपोद्घातनिर्युक्तिः, प्रथमावश्यकनिर्युक्तिः, सामायिकनिर्युक्तिः
उत्तरा०	उत्तराध्ययनसूत्रम् ।
ओघनि०	ओघनिर्युक्तिः ।
का०	कारिका ।
गु० मू०	*गुलाबविजयसत्का सन्मतिसूत्रमूलप्रतिः ।*
जीवविचा०	जीवविचारप्रकरणम् ।
जीवाजीवाभि० प्रतिप०	जीवाजीवाभिगमसूत्रे प्रतिपत्तिः ।
जम्बूद्वीपप्र० वक्ष०	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ वक्षस्कारः ।
तत्त्वार्थ० / तत्त्वार्थसू०	तत्त्वार्थसूत्रम् ।
तत्त्वार्थ० भा०	तत्त्वार्थभाष्यम् ।
तत्त्वार्थराजवा०	तत्त्वार्थराजवार्तिकम् ।
द्रव्यगुणपर्यायरासः	
धर्मसं०	धर्मसङ्ग्रहणीसूत्रम् ।
नवत०	नवतत्त्वप्रकरणम् ।
नैषध०	नैषधकाव्यम् ।
न्यायकुमुद० लि०	न्यायकुमुदचन्द्रोदयः लिखितः ।
पराशरमाधवः	
पातञ्जलद०	पातञ्जलदर्शनम् ।
पञ्चाध्या०	पञ्चाध्यायी अमृतचन्द्रीया
पञ्चाश०	पञ्चाशकम् ।
पञ्चाशकटी०	पञ्चाशकटीका ।
पञ्चास्ति०	पञ्चास्तिकायः ।
प्रवचन० / प्रवचनसा०	प्रवचनसारः ।
प्रवचनसारो० द्वा०	प्रवचनसारोद्धारे द्वारम् ।
बृहत्सं० वृक्ष०	बृहत्संहिता (वाराही संहिता) वृक्षायुर्वेदप्रकरणम्
ब्रह्मसू० शां०	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् ।
भगव० / भगवतीसू०	भगवतीसूत्रम् ।
मनु० / मनुस्मृ०	मनुस्मृतिः ।
महाभा० शान्ति० मो० प० अ०	महाभारतम् शान्तिपर्वणि मोक्षपर्वं अध्यायः
महाव्युत्पत्तिः	बौद्धग्रन्थः ।
यास्कनि०	यास्कनिरुक्तम् ।

वाच०	वाचस्पत्य।
वायुपुराणम्	
विशेषाव०	विशेषावश्यकभाष्यम्।
वैद्यक० सिं०	वैद्यकशब्दसिन्धुः।
वैशेषिकद्वात्रिंशिका	
श० } शत० }	शतकम्।
शास्त्रदी०	शास्त्रदीपिका।
शास्त्रवा० समु० स्तब०	शास्त्रवार्तासमुच्चये स्तबकः।
श्लो० वा० वाक्याधि०	श्लोकवार्तिके वाक्याधिकारः।
,, औत्पत्तिकसू०	,, औत्पत्तिकसूत्रम्।
षड्द० स०	षड्दर्शनसमुच्चयः।
षड्द० वृ०	षड्दर्शनसमुच्चयस्य वृहद्वृत्तिः।
सनातन प्र० गु०	सनातनजैनग्रन्थमाला प्रथमो गुच्छकः।
सनातन प्र० गु० स्वयंभूस्तो० अर०	,, अरनाथस्तोत्रम्।
सूर्यसिद्धान्तः	
स्वयंभू० } स्वयंभूस्तो० }	स्वयंभूस्तोत्रम्।

विषयानुक्रमः।

विषयः पृष्ठम्

संपादकीय निवेदन ।

सन्मतिना पांचमा भागमां त्रीजुं कांड पूरुं आवी गयुं छे. अने ए रीते त्रिकांडी आ आखो ग्रंथ मूळ अने टीका साथे पांच भागोमां पूरो थाय छे.

१९८६ नी शरुआतमां ज छपाई गयेलुं आखुं त्रीजुं काण्ड तैयार हतुं एथी मात्र मूळ अने टीकाटिप्पणी पूरतो पांचमो भाग बीजा भागोनी जेम प्रगट करी शकाय तेम तो हतो पण एमां केटलांक आवश्यक परिशिष्टो उमेरवानां होवाथी तेनुं प्रकाशन लंबाववामां आव्युं छे. आ पांचमा भागने अंगे अमारुं निवेदन नीचेना मुद्दा परत्वे छे.

१ त्रीजा कांडना मूळ अने टीकानुं परिमाण.

२ मूळनो विषय अने मूळकारनी तेजस्विता.

३ टीकाना स्वरूपनी चर्चा अने टीकाकारना समयनुं वातावरण.

४ कांडनां नामो अने ग्रंथना पूर्वमुद्रित नामनुं परिवर्तन.

५ प्रतिओनो उपयोग अने परिशिष्टोनो परिचय.

(१) आ कांडनी मूळ गाथाओ मात्र मूळवाळा लिखित पुस्तकमां ७० छे अने मूळसहित टीकावाळां लिखित पुस्तकोमां एक गाथा ओछी छे—६९ छे. मूळवाळा लिखित पुस्तकमां जे गाथा ७० मी छे ते गाथाने टीकावाळां पुस्तकोमां छेल्ली एटले ६९ मी गणवामां आवी छे. एटले मूळवाळा पुस्तकमां जे गाथा ६९ मी छे ते गाथाने टीकावाळां पुस्तकोमां स्थान आपवामां नथी आव्युं. अमारा मुद्रणमां अमे ए गाथाने पाठांतर तरीके पृ. ७५७ मां नोंधेली छे.

सन्मति प्रकरणनी छेल्ली गाथा आशीर्वादात्मक मंगळ सूचवे छे. अने आ वधारानी गाथा नमस्कारात्मक मंगळरूप छे. कहेवाय छे के शास्त्रना आदि, मध्य अने अंतमां मंगळ होवां जोइए, ते प्रमाणे आ प्रकरणमां पण आदि अने अंतमां मंगलात्मक शब्दनो निर्देश मळे छे. ए रीते विचार करीए अने आ वधारानी गाथाने वधारानी न मानीए तो अंते बे मंगळ थई जाय छे जेनो खास कंई उपयोग जणातो नथी. तेथी एम कल्पी शकाय छे के कदाच आ नमस्कारात्मक मंगळने सूचवती गाथा वधारानी ज होय अने मूळग्रंथकारनी कृति न होय. आ एक वात्त.

बीजी वात ए छे के टीकाकारे आ प्रकरणनी बधी गाथाओनी व्याख्या करेली छे. जे गाथा सहजमां समजाय एवी छे,तेनी पण व्याख्या करवी छोडी नथी. जो आ गाथा मूळनी ज होत तो टीकाकारे पोतानी शैली प्रमाणे जरूर तेनी व्याख्या करी होत. छेवटे कांई नहि तो आ गाथा लखीने 'सुगमार्था' के 'स्पष्टार्था' आवुं पण लख्युं होत. पण टीकानी कोई प्रतिओमां—जेमांनी केटलीक आजथी ५०० वर्ष जेटली जूनी छे तेमां—एकेमां आ गाथानो उल्लेख ज नथी. आ बन्ने कारणोथी अमारी कल्पना एवी थाय छे के अनेकांतवादना कोई भक्ते आ गाथाद्वारा अनेकांतवादनुं खरुं महत्त्व बतावी अनेकांतवादना आ प्रतिष्ठित प्रकरणमां एने उमेरेली होवी जोईए.

बृहट्टिप्पनीकारे आ प्रकरणनी १७० गाथा नोंधेली छे. अने जैनग्रंथावलीमां ए १६८ नोंधायेली छे. पण अमारी सामेनी टीकावाळी बधी प्रतिओमां १६६ थी वधारे गाथाओ क्यांये मळती नथी. तेथी वधारानी गाथानो खुलासो अमे उपर प्रमाणे करीए छीए, अने एथी आ त्रीजा कांडनी ६९ , होवानुं प्रमाणित करीए छीए.

आगळना भागो—कांडो—नी जेम आ भागमां पण टीकाकारे पोतानी टीकाने केटलेक स्थळे विस्तारेली छे अने केटलेक स्थळे टूंकावी छे. एकंदर जोतां कोई पण भाग करतां आ भागमां टीकानुं परिमाण खास ओछुं जणाशे नहि. आ भागमां द्वितीय भागनी अपोहचर्चानी जेम कणादमतनी परीक्षाना प्रकरणमां श्रीशांतरक्षितना तत्त्वसंग्रहनुं पूरेपूरुं प्रतिबिंब छे, जे अमे टिप्पणमां एनी कारिकाओ वगेरे मूकीने जणाव्युं छे.

(२) *न्यायना कोई पण ग्रंथमां प्रमाण* अने *प्रमेय* ए बे तत्त्वनी चर्चा प्रस्तुत होय छे ज्यारे जैनन्यायना ग्रंथमां ए बे उपरांत त्रीजी नयनी चर्चा पण होय छे. प्रस्तुत प्रकरणमां पहेलामां नयनी, बीजामां ज्ञान वा प्रमाणनी अने त्रीजा कांडमा ज्ञेय के प्रमेयनी चर्चा करेली छे.

गौतम के दिग्नागनी प्रमेयनी चर्चाओनी जेम आ प्रकरणनी प्रमेयनी चर्चामां पदार्थना स्वरूप विषे एटले के संसारमा मुख्य तत्त्वो अमुक अमुक छे, तेना भेदो प्रभेदो अमुक छे अने ते प्रत्येकनुं स्वरूप अमुक जातनु छे, एवी खास कंई चर्चा करवामां नथी आवी. परंतु पदार्थना स्वरूपने कई रीते समजवुं जोईए अने पदार्थने कई रीते जोईए तो बराबर समजाय एवी समजण वधु वीगतथी आपवामां आवी छे, अने विचारना जगतमा जीव अने जगत विषे जे जे विरोधी मान्यताओ चाली आवे छे तेनो समन्वय करवानी दृष्टि पण आ प्रकरणमां खास मूकवामां आवी छे.

एक अनुभवी कहे छे के दृश्य अने अदृश्य बधुं नित्य छे, अने बीजो अनुभवी कहे छे के ए बधुं अनित्य छे. आ मान्यताओ जे बे दृष्टिकोण उपर रहीने स्थिर करवामां आवी छे ते दृष्टिकोण जिज्ञासुओना ख्यालमां आवी जाय तो ए बे वच्चेनो विरोध तुरत टळी जाय. ए विरोध टाळनारी सरळ अने समाधायक पद्धति आ ग्रंथमां खास स्पष्ट करवामां आवी छे.

एक द्रष्टा एम कहे छे के अमुक पदार्थ मने तो लांबो देखाय छे, बीजो कोई एम कहे के मने तो ए ज पदार्थ टूंको देखाय छे अने त्रीजो एम कहे के ए त्रिकोण देखाय छे; त्यारे आ बधाना दृष्टिकोणने समजनारो वैज्ञानिक एम कहे के ए पदार्थ लांबो, टूंको अने त्रिकोण देखाय छे ए बधुं सापेक्ष भावे बराबर छे. कारण के जोनाराओनी निर्दोष दृष्टिओ अने पदार्थ वच्चेनो संबंध जुदी जुदी जातना छे. आ समाधानकारी दृष्टिनुं नाम अनेकांतवाद विभज्यवाद के स्याद्वाद छे.

जैन आगमोमां आ दृष्टिनुं दिग्दर्शन तो छे ज पण आ ग्रंथकारे आ प्रकरणमां ए दृष्टिने एक वैज्ञानिकनी रीते समजावेली छे. एटले के जेम कोई वैज्ञानिक कोई तत्त्वनुं पृथक्करण करीने तेमाना प्रत्येक अंशने स्पष्ट करी बतावे छे तेम आचार्य सिद्धसेन दिवाकरे आ कांडमा अनेकांतवादनी बधी बाजुओने खुल्ली रीते समजावेली छे. एम अनेकांतवादनुं शास्त्रीय पृथक्करण आ पुस्तकमां ज पहेलुं थयुं छे.

आ प्रकरणना प्रांत भागमा केटलीक गाथाओ एवी पण छे जे उपरथी आपणे तेना कर्तानी तेना पोताना युगमां व्यापेली मदताने तोडनारी तेजस्विता अने रूढ विचारधारानी सामे स्थापेल रचनात्मक विचारप्रवाहने पण जोई शकीए छीए.

केटलीक वार एवुं बने छे के पोताने सत्यद्रष्टा माननारा भलभला मोटा माणसो पण मात्र शब्दस्पर्शी होय छे, जे शब्दस्पर्शथी पोतानुं जीवन अने सामाजिक जीवन छिन्नभिन्न थतुं होय छे. ज्यारे बधी बाजी हाथमांथी जवानो वखत आवे छे त्यारे पण ए शब्दस्पर्श नथी मूकातो.

आचार्य सिद्धसेनना जमानामां आवुं आवुं होवानुं झांखुं झांखुं दर्शन थाय छे.

तेओ कहे छे के—

"कांई शासन उपरना मात्र रागने लीधे कोई सिद्धांतनो ज्ञाता एटले सिद्धांतनो बधी रीते तलस्पर्शी अभ्यासी थई शकतो नथी. तेम ज कोई अमुक अमुक ज दृष्टिकोण उपर रहीने शास्त्रने समजावतो होय ते पण तेनी प्ररूपणामां निश्चित होई शकतो नथी" (गाथा. ६३).

"सूत्र अर्थना आधाररूप छे. माटे सूत्रने ज वळगी रहेवामां आवे अने तेना व्यापक अर्थनो विचार न करवामां आवे तो कदी पण अर्थनी प्रतिपत्ति थई शकती नथी. ए अर्थनुं भान तो तेने ज थई शके छे जे दुर्गम एवा नयवादना गहन वनमां प्रवेश करवाने उत्साही होय." (गा० ६४)

आवुं छे माटे आचार्यश्री कहे छे के—

"सूत्रना भणनाराए अर्थसंपादनमां खूब यत्न करवो जोईए. ते न करनारा केटलाक धृष्ट अने अशिक्षित आचार्यो महापुरुषोनी आज्ञानी फजेती करे छे." (गा० ६५)

"जेने अज्ञ लोको बहु ज्ञानी समजता होय, जे एवा ज लोकोमां पूजातो होय अने जेनो शिष्य-परिवार कांई ठीक ठीक होय तेवो आचार्य जो अनेकांतना स्वरूपने निश्चितपणे न समजतो होय तो ते आचार्य सिद्धांतनो द्रोही छे." (गा० ६६)

आजना क्रांतदर्शी संतनी जेम आचार्य सिद्धसेन आटलेथी न अटकतां वधुमां जणावे छे के:—

"जेओ पोताना क्रियाकांडमां कुशळ छे अने ए क्रियाकांडने ज प्रधानपणे वळगीने चाले छे तेओ जो पोताना सिद्धांतनुं अने परसमयनुं विशाळ ज्ञान न धरावता होय तो तेओ ए क्रियाकांडना मारनो कशो उद्देश ज समजता नथी." (गा० ६७)

आचार्यश्रीनां आ वचनो उपरथी तेमना समयना तमोमय वातावरणनो ख्याल आववा साथे ते वातावरणने भेदवानुं सामर्थ्य धरावनारुं तेमनुं तेज पण प्रगट थाय छे.

(३) टीकाकारश्रीए पोतानी शैली जेवी बीजा बे कांडोमां एकसरखी राखी छे तेवी आमां पण राखी छे. तेमनो उद्देश तो ए लागे छे के मूळ ग्रंथने आश्रीने तेमना पोताना समय सुधी स्थिर थयेलां बधां तत्त्वचिंतनो आ टीकामां गोठवी देवां जे बधां कांडोमां एकसरखी रीते जळवाई रहेलो देखाय छे.

आ कांडनी टीकामां एक स्थळे ब्राह्मणत्व विषे (गाथा ४९ पृष्ठ ६९९) चर्चा छे अने एक स्थळे मूर्तिना शृंगार (भूषा) विषे (गा० ६५. पृ० ७५४) चर्चा छे. ते बन्ने चर्चाओ टीकाकारना समयना वातावरणनो ख्याल आपवाने पूरती छे.

जातिवाद विषे जैनोनो अने बौद्धोनो एकसरखो मत ए छे के कोई जाति मात्र जातिने लीधे मान्य के पूज्य गणाती नथी जो तेमां लायकात न होय तो. आ वस्तु भगवान महावीर पछी जैनोना जीवनमां घणा वखत सुधी टकी रहेली हती, आजे तो ते नथी. तेने लोपावानो प्रसंग ब्राह्मणोना जातिप्रधान बंधारणना सामर्थ्यनी असर सिवाय बीजो कल्पी शकातो नथी, पण ते लोपावानी तारीखनो निर्णय करवो कठण छे. छतां य टीकाकार अभयदेवे आ टीकामां ए जातिवादनी सामे थवाने बौद्धाचार्य शांतरक्षित जेवो ज प्रयास करेलो छे, तेथी कदाच एम कल्पी शकाय छे के एना जमाना सुधी श्वेतांबर जैनोमां ए जातिवादनी असर न होय अथवा टीकाकारे आ वात मात्र चर्चा तरीके ज लखेली होय.

बीजुं ए के टीकाकारना जमानामां मूर्तिनो शृंगार करवा न करवानी चर्चा वधु पडती चालती हशे जेथी एमणे आ टीकामां पोतानो शृंगार करवानो पक्ष स्थापित करेलो जणाय छे. वस्तुतत्त्वविचारना ग्रंथोमां आवी चर्चाओने अवकाश न होवो जोईए छतां ते ते समयनुं सांप्रदायिक वातावरण ——ओने छेडी दे छे.

(४) टीकावाळी कोई प्रतिमां कांडनां खास नामो लखवामां आव्यां नथी. मात्र मूळनी प्रतिमां पहेला कांडनुं नाम 'नयकांड' छे, अने बीजानुं नाम 'जीवकांड' छे. त्रीजानुं कशुं नाम नथी आप्युं.

अमे अहीं कांडोनां जे नामो राखेलां छे ते मूळना विषयने अनुसरीने राखेलां छे. मूळनी प्रतिमां जे बीजा कांडनुं नाम 'जीवकांड' लखेलुं छे तेना करतां मूळनो विषय जोतां तेनुं 'ज्ञानकांड' नाम वधारे बंधबेसतुं लागे छे. तेथी ज अमे ए प्रतिमांनुं पहेलुं नाम कायम राख्युं छे. बीजा कांडनुं नाम बदल्युं छे अने त्रीजा कांडनुं नाम तो अमारे विषय प्रमाणे नवुं कल्पवुं पड्युं छे.

आगळना चारे भागोमां परंपराप्रसिद्ध एवुं 'सम्मति' नाम कायम राखेलुं पण ए विषे विशेष ऊहापोह करीने अमे आ भागमां 'सन्मति' एवुं नाम राखेलुं छे. ए विषे अमे तेम करवाना कारणनी सप्रमाण चर्चा छट्टा भागमां प्रस्तावनामां करेली छे.

(५) पाठांतरोनी पद्धति आ भागमां बीजा भागोना जेवी ज राखी छे अने बीजा भागोमां वपरायेली प्रतिओनो उपयोग पण तेटलो ज थयो छे. कोई खास नवी प्रति उमेराणी नथी पण ताडपत्रनी बे प्रतिमांनी ल० संज्ञावाळी प्रतिनो अंतनो घणो भाग अधूरो होवाथी तेनो उपयोग अमे आमां करी शक्या नथी.

परिशिष्टोनो परिचय.

ग्रंथनुं रहस्य, संशोधकोने उपयोगी एवी ऐतिहासिक वस्तु अने संपादनशैली वगेरेने समजवा माटे ग्रंथने अंते नीचे जणावेला स्वरूपवाळां १३ परिशिष्टो अकारादि क्रममां आपवामां आव्यां छे.

१. पहेला परिशिष्टमां सन्मतिनी मूळ गाथाओ तेना कांडना अने गाथाना अंक साथे मूकवामां आवी छे.

२. जे जे श्वेताम्बरीय के दिगम्बरीय न्यायग्रंथो प्रस्तुत संपादनने अंगे अमारा जोवामां आवेला, तेमां ज्यां ज्यां सन्मतिसूत्रनी मूळ गाथाओ उद्धृत करायेली छे, तेने लगतुं बीजुं परिशिष्ट छे. एमां नयचक्र अने सिद्धिविनिश्चय जेवा केटलाक हस्तलिखित दुर्लभ ग्रंथोनी पण नोंध छे.

३. त्रीजुं परिशिष्ट पण बीजाना जेवुं ज छे, मात्र तेमां सन्मतिना रहस्यने पूरेपूरुं पामी पोतानी कृतिमां परिणमावनाराओमां विरल एवा श्रीमान् यशोविजय उपाध्यायजीना लगभग बधा मुद्रित ग्रंथोनो उपयोग करेलो छे.

श्रीमान् यशोविजयजीए पोताना ग्रंथमां ज्यां ज्यां सन्मतिसूत्रनी गाथाओ उद्धरेली छे त्यां त्यां बधे तेमणे विवरण पण करेलुं छे. एमांनुं केटलुंक विवरण तो स्वतंत्र छे, जे प्रस्तुत टीकाने अनुसरतुं पण नथी. अमे एम धारेलुं के श्रीमान् यशोविजयजीना विवरणवाळी बधी गाथाओनो एक संग्रह करवो, जे सन्मतिनी लघु टीका जेवो बनी जाय; पण ए माटे एक खास जुदो बीजो भाग ज तैयार करवो पडत जेथी ग्रंथ प्रकाशनमां घणो वधारे विलंब थात, तेथी ए संग्रह न करतां अहिं आ परिशिष्ट ज एवुं आपेलुं छे के तेने वांचनारो कोई व्युत्पन्न विद्यार्थी पण ए संग्रहने सुखेथी करी शके.

४. परिशिष्ट चोथामां कांडना अने गाथाना अंक साथे तथा गाथानी व्याख्याना पृष्ठांक साथे मूळगाथागत शब्दोनो कोश आपेलो छे. जे एक ज शब्द ज्यां ज्यां जेटली वार वपरायो छे, तेना पण उपर लख्या प्रमाणेना बधा अंको आपी दीधा छे.

५. पांचमा परिशिष्टमां पूर्वपक्ष दर्शाववा के संवाद माटे टीकाकारे उद्धरेलां अन्यग्रंथगत सघळां गद्य के पद्य अवतरणोनो ग्रंथना पृष्ठांक साथे उतारो छे. तथा जे अवतरणो उपर विशेष टिप्पणी

करवामां आव्यां छे, ते अवतरणो पासे कोष्ठकमां टिप्पणीना अंको पण मूकवामां आव्या छे. (आ प्रत्येक अवतरणोनां टीकाकारे नहिं दर्शावेलां मूळ स्थानो मळ्यां त्यां सुधी शोधी शोधीने मूकेलां छे. जे मूळ स्थानो मळी शक्यां नथी ते अवतरणो पासे ग्रंथमां खाली [ ] आवुं निशान मूकेलुं छे.

६. परिशिष्ट छट्ठामां टीकाकारे नोंधेला ग्रंथकारो अने ग्रंथोनां नामोनो उल्लेख छे.

७. सातमा परिशिष्टमां टीकाकारे चर्चेला वादो अने वादीओनां नामोनो निर्देश छे.

८. परिशिष्ट आठमामां दर्शनशास्त्र अने खास तो जैनदर्शनने लगता अने टीकाकारे निर्देशेला विशिष्ट शब्दोनो कोश ग्रंथना पृष्ठांक साथे आपवामां आव्यो छे. जे शब्दो उपर खास टिप्पणो करवामां आव्यां छे ते शब्दोनी पासे कोष्ठकमां टिप्पणीना अंको पण जणाववामां आव्या छे.

९. नवमा परिशिष्टमां समग्र ग्रंथमां टीकामां वपरायेला देशसूचक, स्थळसूचक, आचाररूढिसूचक, वस्तुसंज्ञासूचक अने ग्रन्थान्तर विषय वगेरेना सूचक एवा खास ऐतिहासिक विशिष्ट शब्दोने पृष्ठना अने पंक्तिना अंको साथे मूकवामां आव्या छे. अने जे शब्दो उपर टिप्पणो करेलां छे तेओ पासे कोष्ठकमां टिप्पणीना अंको पण आपेला छे.

१०. टीकाकारे जेना स्थळोनो निर्देश नथी कर्यो एवां अवतरणोनां अमोए शोधेलां स्थळोनां नामोनो आ दशमा परिशिष्टमां निर्देश छे.

११. परिशिष्ट अगीआरमामां प्रतिओमां मळी आवेलां टिप्पणोनो ते ते प्रतिना नाम साथे अने अमे करेलां टिप्पणोनो ग्रंथ–पृष्ठ अने टिप्पणना अंक साथे संग्रह करेलो छे.

१२. परिशिष्ट बारमामां संपादन माटे एटले विवेचन, तुलना, टिप्पण के अवतरण वगेरे माटे संपादकोए निर्देशेला ग्रंथकारो अने ग्रथोना नामोनो ग्रंथना पृष्ठ अने टिप्पणना अंक साथे निर्देश करेलो छे.

१३. परिशिष्ट तेरमामां संपादनने अंगे वपरायेला ग्रंथमात्रनां मुद्रण स्थान, संपादक अने मुद्रणसमय वगेरेनो उल्लेख छे.

श्रीमान् प्रवर्तक कान्तिविजयजीना शिष्य श्रीमान् चतुरविजयजी अने पुण्यविजयजीना आभारनो उल्लेख अमे प्रत्येक भागमां करता आव्या छीए, पण आ भागमां तो अमारा उपर एमनुं ऋण निःसीम छे, एम कहेवामां काई उपचार करवा जेवुं नथी. कारण के आ भागमां आपेलां बधां परिशिष्टोनां तथा छट्ठा भागमां आवनार गुजराती अनुवाद अने प्रस्तावनानां बधां प्रूफो तेमणे घणी काळजीथी तपासी आपवानी कृपा करी छे. जो तेमनी आ कृपानो लाभ अमे न मेळवी शक्या होत तो अमारी शारीरिक अगवडोने लीधे आ भाग कोण जाणे क्यारे बहार पडत अने समग्र ग्रंथ प्रकाशमां पण क्यारे आवत ए कही शकात नहि. आ साथे जैनसाहित्यप्रेमी श्रीकेशवलालभाई प्रेमचंद मोदीना पण अमे कृतज्ञ छीए, जेमना तरफथी आ प्रवृत्तिने अंगे अनेक वार उपयोगी सहायता अमे मेळवेली छे. परिशिष्टना विधानमां खास सहायक एवा सहृदय विद्वान् मित्र श्रीमान् रसिकलाल भाईनो आभार पण भूली शकाय तेम नथी.

सुखलाल
अने
बेचरदास.

सम्पादकीयं निवेदनम् ।

सन्मतेरस्मिन् पञ्चमे भागे तृतीयं काण्डं समाप्तम् । एवं च काण्डत्रयमितः सटीकोऽयं समग्रः समूलो ग्रन्थः पञ्चसु भागेषु पूर्णो जातः ।

गतवर्षारम्भ एव तृतीयं काण्डं मुद्रितमासीत् । ततश्च अन्यभागवदयमपि मूलटीकाटिप्पणियुक्तः पञ्चमो भागः प्राकाश्यं नेतुं योग्योऽभवत् परन्तु अनेन भागेन सह मुद्रणीयानि उपयोगीनि आवश्यकानि च परिशिष्टानि क्रियमाणानि आसन्, अत एवायं भागो विलम्बेन विदुषां करतलमागतः । अस्य भागस्य सबन्धे निवेदनीयानि मुख्यानि वस्तूनि इमानि ।

(१) तृतीयस्य काण्डस्य मूलटीकयोः परिमाणम् ।

(२) मूलस्य विषयो मूलकारस्य च तेजस्विता ।

(३) टीकास्वरूपचर्चा टीकाकारसमयस्य च परिस्थितिः ।

(४) काण्डानां नामानि पूर्वमुद्रितस्य च ग्रन्थनाम्नः परिवर्तनम् ।

(५) प्रतीनामुपयोगः परिशिष्टानां च परिचयः ।

(१) मूलमात्रे लिखितपुस्तकेऽस्य भागस्य सप्ततिर्गाथाः प्राप्यन्ते । मूलसहिते च तादृशे टीकापुस्तके गाथानामेकोनसप्ततिर्लभ्यते । मूलमात्रपुस्तके या सप्ततितमी गाथा सैव सटीकेषु पुस्तकेषु अन्तिमा अर्थादेकोनसप्ततितमी गणिता । या गाथा मूलपुस्तके एकोनसप्ततितमी सा टीकापुस्तकेषु कापि न दृश्यते । अतश्च सा मूलपुस्तकगता गाथा ७५७ पृष्ठे पाठान्तरत्वेनास्माभिर्निर्दिष्टा ।

सन्मतिप्रकरणस्यान्तिमा गाथा आशीर्वादरूपं मङ्गलं सूचयति । इयं च मूलपुस्तकगता अन्तिमा विवादग्रस्ता गाथा नमस्कारात्मकमङ्गलरूपा । शास्त्रस्यादौ मध्येऽन्ते च मङ्गलमावश्यकमिति प्राचीनः प्रवादः । प्रवादानुसारेण चास्मिन् प्रकरणे आदावन्ते च मङ्गलात्मकता व्यक्ता । यदि मूलपुस्तकगता अन्तिमा गाथा प्रक्षिप्ता नावधार्येत तदा प्रकरणस्यान्ते मङ्गलद्वयापत्तिर्जायेत । न चान्ते मङ्गलद्वयस्य कश्चिदुपयोगः । अतो मूलपुस्तकगता अन्तिमा नमस्कारात्मकमङ्गलसूचिका गाथा अधिकैव भवेत् न मूलकारकृतिरिति ।

अन्यच्चास्य प्रकरणस्य सर्वा अपि गाथा टीकाकारेण व्याख्याताः । या गाथा श्रवणमात्रेणैव गतार्था साऽपि टीकाकृता स्वव्याख्यया नास्पृष्टा रक्षिता । इयं च गाथा यदि मूलकारकृतिरेवाभविष्यत् तदा टीकाकारस्तामवश्यं व्याख्यास्यदेव । अन्ततो नान्यत्किमपि किन्तु इमा गाथां निर्दिश्य 'सुगमार्था' 'स्पष्टार्था' वेत्युल्लेखं तु सोऽकरिष्यदेव । परन्तु टीकायाः कस्मिंश्चित् प्राचीनतमे एकस्मिन्नपि पुस्तके नेयं गाथा उल्लिखिता दृश्यते । अतो विवादाध्यासिता सा गाथा अनेकान्तवादस्य केनचिद्भक्तेन तन्माहात्म्यदर्शनाय अस्मिन् प्रतिष्ठिते अनेकान्तवादप्रकरणे प्रक्षिप्ता भवेदिति अस्मन्मतम् ।

बृहट्टिप्पणिकृता अस्य प्रकरणस्य गाथाना सप्तत्यधिकं शतं निर्दिष्टम् । जैनग्रन्थावल्या तु अष्टषष्ट्यधिकं शतं प्राप्यते । उपयुज्यमानासु सर्वास्वपि सटीकप्रतिषु कापि षट्षष्ट्यधिकशतादतिरिक्ता एकाऽपि गाथा न लभ्यते । अतस्तस्या अधिकाया गाथायाः पूर्वोक्तमेव निराकरणं स्थिरीकृतमस्माभिः । ततश्चास्य काण्डस्य एकोनसप्ततिर्गाथाः प्रमाण्यन्ते ।

अस्मिन्नपि काण्डे टीका कियत्सु स्थलेषु विस्तारिता कियत्सु च संक्षेपिता। प्रमाणतोऽस्य काण्डस्यापि व्याख्यानं न न्यूनं प्रतिभाति। अस्मिन्भागेऽपि कणादमतपरीक्षाप्रकरणं सर्वथा शान्तरक्षितकृततत्त्वसङ्ग्रहप्रतिच्छायैव। तच्चास्माभिस्तत्त्वसङ्ग्रहकारिकाः पञ्जिकां च टिप्पणे उपन्यस्य सुस्पष्टितम्।

(२) न्यायविषयके ग्रन्थे सर्वत्रापि प्रमाणं च प्रमेयं चेति तत्त्वद्वयी एव प्रस्तुता। जैनन्यायग्रन्थे तु सैव नयतत्त्वाधिका तत्त्वत्रयी चर्च्यते। प्रस्तुते प्रकरणे प्रथमे नयो द्वितीये प्रमाणम् तृतीये च काण्डे प्रमेयमिति तत्त्वत्रयी चर्चिताऽस्ति।

गौतमो दिङ्नागो वा स्वीये स्वीये प्रकरणे 'जगति प्रधानानि तत्त्वानि इमानि, तेषां भेदाः प्रभेदा एते, तेषु एकैकस्य स्वरूपमेतत्' इत्यादिपद्धत्या यथा प्रमेयं चर्चयाञ्चकार तथा नायमाचार्योऽस्मिन् प्रकरणे किमपि तादृशं चर्चयामास। किन्तु पदार्थस्वरूपं कया रीत्या बोद्धव्यं कया रीत्या च पदार्थो दर्शनीयो येन सुज्ञानः स्यादित्येतादृशी बोधसरणी सविस्तरमत्र प्रकरणे ग्रन्थकृता निरूपिता। यच्च संसारे जीवजडविषया या या विरोधिन्यः परम्पराः परम्परातः प्रचलिताः कर्णोपकर्णमायाताश्च सन्ति तासां सर्वासां समन्वयबीजमपि अत्र प्रकरणे प्रतिष्ठापितमाचार्येण।

एकः कश्चिदनुभवी कथयति 'यदिदं दृश्यमदृश्यं वा तत्सर्वं नित्यम्'। द्वितीयश्च महानुभावः कथयति 'यदिदं सत् तत्सर्वमनित्यम्' इति। यां मूलदृष्टिमालम्ब्य एते विरुद्धे मते तैस्तैरनुभविभिः स्थिरीकृते सा दृष्टिर्यदि तत्त्वजिज्ञासुभिर्ज्ञायेत–विचारगोचरं प्राप्येत तदा तयोर्विरुद्धयोर्मतयोर्विरोधस्तूर्णमुपशान्तः स्यात्। या च तद्विरोधशमनी सरला समाधायिका पद्धतिः सैवास्मिन्ग्रन्थे सुस्पष्टिता। सा दृष्टिरनेकान्तवादो विभज्यवादः स्याद्वादो वा इति नाम्ना जैनशास्त्रे विश्रुता।

जैनागमेषु तस्या दृष्टेर्बीजं विद्यत एव परन्तु वैज्ञानिकेन इव मूलकृता सिद्धसेनाचार्येण प्रस्तुते प्रकरणे सा दृष्टिस्तदीयांशान् पृथक् पृथक् कृत्वा विशदीकृत्य च दर्शिता। अनेकान्तवाददृष्टेरेतादृशं शास्त्रीयं पृथक्करणमस्मिन् पुस्तक एव प्रथमं प्राप्यते।

अयं महावादी सिद्धसेनाचार्यो रूढमार्गानुगामी नासीत् किन्तु स्वयुगव्याप्तं सामाजिकाज्ञानान्धतमसं दूरीकर्तुं स दिवाकरो दिवाकर एव जातः। एतच्चास्य प्रकरणस्य प्रान्तस्थिताभिर्गाथाभिः स्पष्टमवगम्यते।

इतरेषां सत्प्रवृत्तिं तिरस्कुर्वन्तः स्वप्रवृत्तिमेव सत्यशोधिकां च मन्यमानाः सूरयो न सत्याचारपराः किन्तु केवलं शब्दग्रहाविष्टा वाक्पटव एव इत्यपि जगति दृश्यते। ततश्च निखिलः समाजोऽपि उत्पथानुगो भवति। तादृशं समाजं पश्यन्तोऽपि ते शब्दस्पर्शपरा गुरवः कुनृपा इव स्वसत्तासाधकं दुराग्रहं न त्यजन्ति। एतादृशान् सिद्धान्तपण्डितंमन्यमानान् सूरीन् सिद्धसेनाचार्या एवं शिक्षयन्ति—

"जिनशासनरागमात्रेण कश्चित् सिद्धान्तज्ञो न हि भवितुमर्हति। शास्त्रज्ञोऽपि कश्चिदेकान्तग्रहेण तत्त्वनिरूपणायां निश्चितो न भवति।" (गाथा ६३)

"सूत्रमेवार्थस्य मूलम् अतस्तद्रटनमेव श्रेय इति मन्यमानाः सूत्रगतं व्यापकमर्थं न विचारयेयुः तदा कदाऽपि ते न सूत्रार्थं प्रतिपत्तुं समर्थाः। सूत्रार्थं सम्यक्कृतया त एव प्रतिपद्यन्ते ये दुर्गमं नयवादगहनवनमवगाहितुमुत्साहिन इति।" (गा० ६४)

सूत्रं रटद्भिस्तद्रटनापेक्षया तदर्थसंपादने भूरि भूरि यतितव्यम्। तदकुर्वन्तः कियन्तो धृष्टा अशिक्षिताश्चाचार्या महापुरुषाज्ञां विडम्बयन्ति।" (गा० ६५)

"[illegible]ज्ञा ज्ञानिनं मन्यन्ते पूजयन्ति च यस्य च शिष्यपरिवारो गणनाकोटिमागत एतादृश[illegible]न्तस्वरूपं सम्यग् नावगच्छेन् तर्हि स जिनसिद्धान्तद्रोही बोध्यः।" (गा० ६६)

अद्यतनः क्रान्तदर्शीव सिद्धसेनाचार्यो न इयतैव कथनेन विरमति किन्तु किञ्चिदधिकमपि उद्घोषयति।

"स्वसिद्धान्तं परसमयं च गभीरतया अजानन्तः क्रियाकाण्डमेव च प्रधानया अवलगन्तस्ते कमपि क्रियाकाण्डमारोद्देशमेव नावबुध्यन्ते।" (गा० ६७)

उपर्युक्तगाथागतैराचार्यवचनैस्तत्समयतमोमयपरिस्थितिभेदकमाचार्यतेजः सुस्पष्टतया प्रकटीभवति।

(३) टीकाकृता काण्डद्वये या टीकाशैली योजिता सैवास्मिन्काण्डेऽपि दृश्यते। मूलग्रन्थमाश्रित्य स्वसमयं यावत् स्थिरीभूतानि सर्वाणि तत्त्वचिन्तनानि अस्यां टीकायां योजनीयानीत्युद्देशेनेयं टीका कृता इत्यवभाति। स चोद्देशस्त्रिष्वपि काण्डेषु समान एव व्यवस्थितो दृश्यते।

ब्राह्मणत्वं नित्यमनित्यं वेति जिनमूर्तिराभूषणैराभूषणीया न वेति च चर्चाद्वयं टीकाकृता अस्य काण्डस्य टीकायां प्रक्रान्तम्। तदेतत् टीकाकृत्समयस्थितिं संसूचयितुमलम्।

"कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ" (उत्तराध्ययन अध्ययन २५ गाथा ३१) इत्यागमवचनाद् जिनशासनप्रवराः कामपि जातिं जातित्वेनैव न उत्कर्षयन्ति किन्तु गुणैः प्रधानामेव प्रधानां मन्यन्ते। बौद्धानामपि जातिवादविषये ईदृशमेव मतम्। तच्च आचार्यशान्तरक्षितेन तत्त्वसङ्ग्रहे सुसमर्थितम्। गुणप्रधानामेव जातिं सुजातिं मन्वानः श्रीज्ञातपुत्रीयः सिद्धान्तो ज्ञातपुत्रजिननिर्वाणानन्तरमपि तदनुयायिभिश्चिरमाचरितः, परन्तु अधुनातनजैनेषु तदाचरणा न दृश्यते। ते तु केवलं जातिमेव प्रधानां मन्वाना अधुनातनब्राह्मणा इव दृश्यन्ते। एतादृशविपरीताचारप्रसरणे जातिप्रधानब्राह्मणसमाजप्रबलसंसर्गमन्तरा नान्यत्किमपि प्रबलं कारणमवभाति। यच्च मूर्तिभूषाविषयो विवादोऽत्र टीकाकृता उदलेखि स तु साम्प्रदायिक एव। वस्तुतस्तु एतादृशेषु तत्त्वविचारग्रन्थेषु एते साम्प्रदायिका विवादा न स्थानमर्हन्ति। किन्तु "तत्त्वाद्रूढिर्बलीयसी" इति न्यायेन तत्त्वविचारेष्वपि अहो! रूढिसाम्राज्यं सुदुर्निवारम्।

(४) टीकाप्रतिषु क्वापि काण्डनाम्नामुल्लेखो न विद्यते। केवलं मूलप्रतौ नयकाण्डेति नाम्ना प्रथमं काण्डं जीवकाण्ड इति नाम्ना च द्वितीयं काण्डमभिहितं तृतीयस्य तु किमपि नाम न निर्दिष्टम्। अत्र तु मूलग्रन्थविषयमनुसृत्य काण्डनामानि अस्माभिः परिवर्तितानि प्रकल्पितानि च।

पूर्वमुद्रितेषु चतुर्षु अपि भागेषु मुखपृष्ठे परम्पराप्रसिद्धं 'सम्मति' इति नाम मुद्रितम्। अस्मिन् भागे तु तत्स्थाने 'सन्मति' इति नाम सविशेषं विचार्य योजितम्। एतद्विषया सप्रमाणा चर्चा षष्ठे भागे प्रस्तावनायामस्माभिः कृता।

(५) पाठान्तरयोजनपद्धतिः प्रतीनामुपयोगश्च पूर्वमुद्रितभागवदत्रापि अवगन्तव्यः। केवलं 'ल' संज्ञिका ताडपत्रप्रतिः प्रान्ते त्रुटिताऽऽसीत्।

परिशिष्टानां परिचयः।

ग्रन्थरहस्यं संशोधकोपयोगि ऐतिहासिकं वस्तु सम्पादनशैलीं चावगन्तुं ग्रन्थान्ते त्रयोदश परिशिष्टानि अकारादिक्रमेण योजितानि। तत्स्वरूपं यथा—

(१) सन्मतेः सर्वा मूलगाथाः काण्डाङ्केन गाथाङ्केन च सह प्रथमपरिशिष्टे दर्शिताः।

(२) श्वेताम्बरीया दिगम्बरीयाश्च ये ये न्यायग्रन्थाः प्रस्तुतसम्पादनाय अस्माभिरवलोकि यत्र यत्र सन्मतिसूत्रमूलगाथा उद्धृतास्तत्तद्गाथास्थलदर्शकं द्वितीयं परिशिष्टम्। नयचक्र-सिद्धिश्रयप्रमुखा हस्तलिखिता दुर्लभा ग्रन्था अपि अत्र परिशिष्टे उपयुक्ताः।

(३) तृतीयमपि परिशिष्टं द्वितीयपरिशिष्टमिव ज्ञेयम्, नवरम् सन्मतिसूत्ररहस्यं यथार्थं प्राप्य स्वकृतौ तदवतारयत्सु प्रधानानां श्रीमतां यशोविजयोपाध्यायानां प्रायस्सर्वे मुद्रिता ग्रन्था अत्र परिशिष्टे उपयुक्ताः।

श्रीमता उपाध्यायेन स्वकृतौ यत्र या गाथा उद्धृता तत्र तस्या विवरणमपि कृतम्। तच्च विवरणं क्वचित् क्वचित् स्वतन्त्रम्–प्रस्तुतां टीकां नानुसरति। एकस्मिन् परिशिष्टे ताः सर्वाः सविवरणा गाथाः संयोज्य मुद्रणीया येन तत्संग्रहः सन्मतिलघुटीकेव स्यादित्यासीदस्माकं भावना। परन्तु तदर्थं पृथगेवैको भागो मुद्रणीयो भवेत् तत्र च स्यादसह्यः कालविलम्बः इति न तत्करणे प्रयत्नं कृतवन्तः, किन्तु इदं परिशिष्टमेवैतादृशं व्यधायि यत् केनचित् व्युत्पन्नेन च्छात्रेणापि तद्दर्शनमात्रेणैव स संग्रहः सुकरः।

(४) काण्डस्य गाथायाश्चाङ्केन तद्व्याख्यायाश्च पृष्ठाङ्केन सह मूलगाथागतशब्दानां कोशो दर्शितश्चतुर्थे परिशिष्टे। यः शब्दो यत्र यत्र यतिकृत्वः समागतस्तस्य तानि सर्वाणि स्थलानि दर्शितानि।

(५) पूर्वपक्षं दर्शयितुं स्वमतं संवदितुं च टीकाकृता यानि अन्यग्रन्थगतानि गद्यपद्यानि अवतरणानि उद्धृतानि तानि सपृष्ठाङ्कं दर्शितानि पञ्चमे परिशिष्टे। तथा यानि अवतरणानि सटिप्पणानि तेषां पार्श्वे कोष्ठके टिप्पणाङ्कोऽपि निहितः। (तेषां च टीकाकारादर्शितानि मूलस्थलान्यपि संशोध्य संशोध्य दर्शितानि यथासम्भवम्, येषाञ्च मूलस्थानानि न प्राप्तानि तेषां पार्श्वे ग्रन्थे [ ] एतादृशं रिक्तं चिह्नं विहितम्)

(६) टीकाकारेण दर्शितानां ग्रन्थकाराणां ग्रन्थानां च नामानि स्थापितानि षष्ठे परिशिष्टे।

(७) टीकाकृता चर्चितानां वादानां वादिनां च नामानि निर्दिष्टानि सप्तमे परिशिष्टे।

(८) दर्शनशास्त्रगोचरा मुख्यतया तु जैनपरिभाषाविषयाः टीकाकारनिर्दिष्टा विशिष्टाः शब्दाः सपृष्ठाङ्कं दर्शिता अष्टमे परिशिष्टे। तथा ये शब्दाः सविवेचनास्तेषां पार्श्वे कोष्ठके तट्टिप्पणाङ्कोऽपि दर्शितः।

(९) समग्रे ग्रन्थे टीकोपयुक्ता देश–स्थल–रूढाचार–पदार्थसंज्ञासूचका ग्रन्थान्तरविषयबोधकाश्च ऐतिह्यप्रधानाः शब्दाः सूचिता नवमे परिशिष्टे। तथा तेषु ये शब्दा विवेचितास्तेषां पार्श्वे कोष्ठके टिप्पणाङ्कोऽपि निक्षिप्तः।

(१०) टीकाकारानिर्दिष्टस्थलेष्ववतरणेषु येषां स्थलानि अस्माभिरुपलब्धानि. तानि नामग्राहं *निर्दिष्टानि दशमे परिशिष्टे।*

(११) प्रतिमाप्तानि टिप्पणानि तत्तत्प्रतिनामग्राहमस्मत्सन्निवेशितानि टिप्पणानि च सपृष्ठाङ्कं निवेशितानि एकादशे परिशिष्टे।

(१२) सम्पादनप्रवृत्तौ उपयुक्तानां ग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां च नामानि सपृष्ठाङ्कं सटिप्पणाङ्कं च निर्दिष्टानि द्वादशे परिशिष्टे।

(१३) सम्पादनोपयुक्तानां ग्रन्थानां मुद्रणस्थानानि सम्पादकनिर्देशो मुद्रणसमयादिकं च निर्दिष्टं त्रयोदशे परिशिष्टे।

श्रीमत्प्रवर्तकश्रीकान्तिविजयशिष्याणां तत्रभवतां श्रीचतुरविजय–पुण्यविजयानामाभारं प्रतिभागं समुल्लिखन्तो वयमस्मिन्भागेऽपि तान्भूरि भूरि स्मरामः। अस्य भागस्य परिशिष्टसंबन्धि पष्ठभागगतानुवादसंबन्धि च सर्वं प्रूफशोधनादिकं तैरेव महानुभावैर्व्यधायि । यदि ते एतन्नाकरिष्यन् तर्हि शरीरव्यथाबाधिता वयं किमपि कर्तुं समर्था न अभविष्याम। परिशिष्टविधाने सहायकानां सहृदयविद्वन्मित्राणां रसिकलालानामपि सादरं नामस्मरणमावश्यकम्। सम्पादनप्रवृत्तौ धनपुस्तकादिसाहाय्यकर्तॄणां जैनसाहित्यरसिकानां श्रीमोदीकेशवलालानामपि नाम न विस्मर्यते।

सुखलालः
बेचरदासश्च।

सन्मति-प्रकरणम् ।



पञ्चमो विभागः ।

तृतीयः काण्डः ।



[सामान्यविशेषयोरन्योन्यानुविद्धस्वरूपत्वप्रदर्शनम्]

एवं दर्शन-ज्ञानात्मनोः परस्पराविनिर्भागरूपतां प्रतिपाद्य इदानीं सामान्य-विशेषयोरन्योन्यानुविद्धं स्वरूपमुपदर्शयन्नाह—

सामण्णम्मि विसेसो विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो ।
दव्वपरिणाममण्णं दाएइ तयं च णियमेइ ॥ १ ॥

सामान्ये 'अस्ति' इत्येतस्मिन्, **विशेषो** द्रव्यमित्ययम्, तथा **विशेषपक्षे च** घटादौ, 'अस्ति' इत्येतस्य **वचनस्य**—नाम-नामवतोरभेदात्—सत्तासामान्यस्य, **विनिवेशः** प्रदर्शनम्, **द्रव्यपरिणतिमन्यां** सत्ताख्यस्य द्रव्यस्य पृथिव्याख्यां परिणतिमन्यां सत्तारूपापरित्यागेनेव वृत्तां **दर्शयति** विशेषाभावे सामान्यस्याप्यन्यथाभावप्रसक्तेः—यद् यदात्मकं तत् तदभावे न भवति, घटाद्यन्यतमविशेषाभावे मृद्वत् विशेषात्मकं च सामान्यमिति तदभावे तस्याप्यभावः । तथा, **तकं च** विशेषम्, द्वितीयपक्षे सामान्यात्मनि **नियमयति** विशेषः सामान्यात्मक एव तदभावे तस्याप्यभावप्रसङ्गात् यतः सामान्यात्मकस्य विशेषस्य सामान्याभावे घटादेरिव मृदभावे न भावो युक्तः ॥ १ ॥

[सामान्यविशेषयोरेकान्तभेदं वदतो दोषापत्तिप्रकटनम्]

न च विशेषाद् व्यतिरिक्तं सामान्यमेकान्ततः, तस्माद् वा विशेषा नियमतो भिन्ना इत्यभ्युपगन्तव्यम् अध्यक्षादिप्रमाणविरोधात् इत्याह—

एगंतणिव्विसेसं एयंतविसेसियं च वयमाणो ।
दव्वस्स पज्जवे, पज्जवाहि दवियं णियत्तेइ ॥ २ ॥

एकान्तेन निर्गता विशेषा यस्मात् सामान्यात् तद् विशेषविकलं सामान्यं **वदन् द्रव्यस्य पर्यायान्** ऋजुत्वादीन् **निवर्तयति** ऋजु-वक्रतापर्यायात्मि(त्म)काङ्गुल्यादिद्रव्यस्य

१ श्रीहरिभद्रेण ईदृशमङ्गुल्युदाहरणमित्थं स्थित धर्मसमहण्याम्—

"दीसइ पच्चक्खं चिय एय वक्कम्मि उज्जुए होंते । अगुलिदव्वम्मि परं भावेतव्व इहेक्केण ॥
वक्कत्तमगुलीओ कहचि अभिन्न ति तीए जोगाओ । भिन्न पि अवत्थतरभावे ततो नियत्तीओ ॥
त चिय वहं चऽवत्थतरे वि त तुल्लबुद्धितो हंदि । एगतेणऽभत्ते भिज्जेज्ज इमी वि तह चेव" ॥

—गा० ३४८-३५० पृ० १५२-१५३ ।

"से णूण भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ ?"—[भगवतीसू० श० १ उ० ३ सू० ३२] इत्यादि सूत्र विवृण्वन् श्रीअभयदेवसूरिरीदृशमङ्गुलिदृष्टान्त दर्शितवान् ।

अध्यक्षादिप्रमाणप्रतीयमानस्य विनिवृत्तिप्रसक्तेरध्यक्षादिप्रमाणबाधापत्तिः। तथा, **एकान्तविशेषं सामान्यरहितं वदन् पर्यायेभ्यो** विशेषेभ्यो **द्रव्यं निवर्तयति,** एवं चाङ्गुल्यादिद्रव्याऽव्यतिरिक्तऋजु-वक्रतादिविशेषस्य प्रत्यक्षाध्यवगतस्य निवृत्तिप्रसक्तिः। न चाऽबाधितप्रमाणविषयीकृतस्य तथाभूतस्य तस्य निवृत्तिर्युक्ता, सर्वभावनिवृत्तिप्रसक्तेः अन्यभावाभ्युपगमस्यापि तन्निबन्धनत्वात् तत्प्रतीतस्याप्यभावे सर्वव्यवहाराभाव इति प्रतिपादितम्।

अथाद–**'सामण्णम्मि'**[1] इत्यादिकाण्डं नाऽऽरब्धव्यम् उक्तार्थत्वात् यतो न तावदनेन वस्तु अनेकान्तात्मकं प्रतिपाद्यते **'एगदवियम्मि'**[2] [प्र० का० गा० ३१] इत्यादिना **'दृहरा समूहसिद्ध'**[3]– [प्र० का० गा० २७] इत्यादिना च तस्य प्रतिपादितत्वात्। तथा, **'उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं'**[4] [प्र० का० गा० १२] इत्यनेन लक्षणद्वारेण सर्वस्य सतः अनेकान्तात्मकत्वं प्रदर्शितमेव। अथ प्रमाणविषयवाक्यनिरूपणार्थमिदं प्रस्तूयते, तदपि न सम्यक्; **'सवियप्प-णिव्वियप्पं'**[5] [प्र० का० गा० ३५] इत्यादिना तस्यापि निरूपितत्वात् वाक्यस्य च वस्तुत्वात् तन्निरूपणे तस्यापि निरूपितत्वाच्च तन्निरूपणार्थमप्येतदपुनरुक्तम्, एवमेतत्; किन्तु प्रमेयप्राधान्येन तद्ग्राहकस्य प्रमाणस्यापि निरूपणमित्येतत्प्रदर्शनद्वारेण तत्प्रतिपादकवाक्यावतारः प्राग् विहितः, इह त्वविद्यमानप्रमेयस्य प्रमाणस्य प्रमाणत्वासंभवात् प्रमाणनिरूपणद्वारेण प्रमेयनिरूपणमिति प्रदर्शनद्वारेणैतद्वाक्यावतार इत्यदोषः। यद्वा अनेकान्तपक्षोक्तदोषपरिहारोऽनेकधा व्यवस्थाप्यत इति न कश्चिद् दोषः **'सामण्णम्मि'**[6] इत्यादि सूत्रसंदर्भविरचने ॥ २॥

[आप्तवचनस्यानेकान्तात्मकवस्तुबोधकत्वेन स्वरूपकथनम्]

सामान्य-विशेषानेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादकं वचनमाप्तस्य, इतरदितरस्येत्येतदेव दर्शयन्नाह–

पच्चुप्पन्नं भावं विगय-भविस्सेहिं जं समण्णेइ।
एयं पडुच्चवयणं दव्वंतरणिस्सियं जं च ॥ ३॥

प्रत्युत्पन्नं भावं–वस्तुनो वर्तमानपरिणामम् **विगत-भविष्यद्भ्यां** पर्यायाभ्यां **यत् समानरूपतया नयति** प्रतिपादयति वचः **तत् प्रतीत्यवचनं** समीक्षितार्थवचनं सर्वज्ञवचनमित्यर्थः, अन्यथानाप्तवचनम्।

ननु वर्तमानपर्यायस्य प्रागपि सद्भावे कारकव्यापारवैफल्यम् क्रिया-गुण-व्यपदेशानां च प्रागप्युपलम्भप्रसङ्गश्च। उत्तरकालं च सद्भावे विनाशहेतुव्यापारनैरर्थक्यम् उपलब्ध्यादिप्रसङ्गश्च। ततो यद् यदैवोपलम्भादिकार्यकृत् तत् तदैव न प्राक् न पश्चात् अर्थक्रियालक्षणसत्त्वविरहे वस्तुनोऽभावात्, असदेतत्; तस्य प्रागसत्त्वेऽदलस्योत्पत्त्ययोगात्। न चात्मादिद्रव्यं विज्ञानादिपर्यायोत्पत्तौ दलम् तस्य निष्पन्नत्वात्। न च निष्पन्नस्यैव पुनर्निष्पत्तिः अनवस्थाप्रसङ्गात्। न च तत्र विद्यमान एव ज्ञानादिकार्योत्पत्तिः 'तत्र' इति संबन्धाभावतो व्यपदेशाभावप्रसङ्गात्, समवायसंबन्धप्रकल्पनायां तस्य सर्वत्राविशेषात् तद्वद् आकाशादावपि तत् स्यात्। अथात्मादिद्रव्यमेव तेनाऽऽकारेणोत्पद्यत इति नाऽदलोत्पत्तिः कार्यस्य भवत्येवमुत्पत्तिः किन्त्वात्मद्रव्यं पूर्वमप्यासीत् पश्चादपि भविष्यति तत्सर्वावस्थासु तादात्म्यप्रतीतेः अन्यथा पूर्वोत्तरावस्थयोस्तत्प्रतिभासो न भवेत्। न चैकत्वप्रतिभासो भ्रान्तः, बाधकाभावे भ्रान्त्यसिद्धेः। न चार्थक्रियाविरोधो नित्यत्वे

१ पृ० ६२७ गा० १। २ पृ० ४३० गा० ३१। ३ पृ० ४२२ गा० २७। ४ पृ० ४१० गा० १२। ५ गा० ३५। ६ पृ० ६२७ गा० १।

बाधकः, अनित्यत्वे एवं तस्य बाधकत्वेन प्रतिपादनात्। न चोत्पाद-विनाशयोरपि तत्र प्रतिपत्तावेकान्ततो नित्यत्वमेव, परिणामनित्यतया तस्य नित्यत्वात्; अन्यथा खरविषाणवत् तस्याऽभावप्रसङ्गात्। न चैवं तस्य विकारित्वप्रसङ्गो दोषाय, अभीष्टत्वात्। न च नित्यत्वविरोधस्तथैव तत्त्वप्रतीतेः। न च तस्य तथात्वप्रतिपत्तिर्भ्रान्तिः, बाधकाभावादित्युक्तत्वात्। अथ ज्ञानपर्यायादात्मनो व्यतिरेके भेदेनोपलम्भः स्यात् अव्यतिरेके पर्यायमात्रम् द्रव्यमात्रं वा भवेत् व्यतिरेकाव्यतिरेकपक्षस्तु विरोधाघ्रातः अनुभयपक्षस्त्वन्योऽन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधेनाऽपरविधानादसंगतः, असदेतत्; व्यतिरेकाऽव्यतिरेकपक्षस्याऽभ्युपगमात्। न च व्यतिरेकपक्षभावी तद्व्यतिरेकेणोपलब्धिप्रसङ्गो दोषः, एकज्ञानव्यतिरेकेण ज्ञानान्तरेऽपि तस्य प्रतीतेर्व्यतिरेकोपलम्भस्य सद्भावात् अव्यतिरेकोऽपि, ज्ञानात्मकत्वेन तस्य प्रतीतेः। न च व्यतिरेकाऽव्यतिरेकयोरन्योऽन्यपरिहारेणावस्थानाद् विरोधः अबाधितप्रमाणविषयीकृते वस्तुतत्त्वे विरोधाऽसंभवात्; अन्यथा संशयज्ञानस्यैकानेकरूपस्य वैशेषिकेण, ग्राह्य-ग्राहकसंवित्तिरूपस्य बुद्ध्यात्मनश्चैकानेकस्वभावस्य सौगतेन कथं प्रतिपादनमुपपत्तिमद् भवेत् यदि प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुतत्त्वे विरोधः संगच्छेतेत्यादि पूर्वमेव प्रतिपादितम्। वर्तमानपर्यायस्यान्वयिद्रव्यद्वारेण त्रिकालास्तित्वप्रतिपादकं प्रतीत्यवचनमिति सिद्धम्।

परमाण्वारम्भकद्रव्यात् कार्यद्रव्यं द्व्यणुकादि **द्रव्यान्तरं** वैशेषिकाभिप्रायतः तेन **निःसृतं** संबद्धं कारणं परमाण्वादि **यत्** प्रतिपादयति तदपि **प्रतीत्यवचनम्**। तथाहि—द्व्यणुकरूपतया परमाणवः प्रादुर्भूताः द्व्यणुकतया प्रच्युताः परमाणुरूपतया अविचलितस्वरूपा अभ्युपगन्तव्याः अन्यथा तद्रूपतयाऽनुत्पादे प्राक्तनरूपताऽपगमो न स्यात् परमाण्ववस्थावत् प्राक्तनरूपानपगमे वा नोत्तररूपतयोत्पत्तिस्तदवस्थावत्। परमाणुरूपतयाऽपि विनाशोत्पत्त्यभ्युपगमे पूर्वोत्तरावस्थयोर्निराधारविगम-प्रादुर्भावप्रसक्तिः। न च तदवस्थयोरेवाऽऽधारत्वम्, तयोस्तदानीमसत्त्वात्। न च पूर्वोत्तरकार्यद्रव्यविनाश-प्रादुर्भावयोः कारणस्याविनाश-प्रादुर्भावौ, ततस्तस्यैकान्ततो हिमवद्-विन्ध्ययोरिव भेदप्रसक्तेः। न च कारणाश्रितस्य कार्यद्रव्यस्योत्पत्तेर्नायं दोषः, तयोर्युतसिद्धितः कुण्ड-बदरवत् पृथगुपलब्धिप्रसक्तेः। अयुतसिद्धावपि कार्योत्पत्तौ कारणस्याऽप्युत्पत्तिप्रसक्तिः अन्यथाऽयुतसिद्ध्यनुपपत्तेः। अथाऽयुताश्रयसमवायित्वमयुतसिद्धिः, सा च कार्योत्पत्तौ कारणानुत्पत्तावपि भवत्येव, न; समवायासिद्धावयुतसिद्ध्यसिद्धेः। न चायुतसिद्धित एव समवायसिद्धिः, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। न चाध्यक्षतः समवायसिद्धेर्नायं दोषः, तन्त्वात्मकपटप्रतिभासमन्तरेणाध्यक्षप्रतिपत्तावपरसमवायाप्रतीतेः—'इह तन्तुषु पटः' इत्यत्रापि प्रत्यये 'इह तन्तुषु' इति प्रतिपत्तिस्तन्त्वालम्बना, 'पटः' इति प्रतिपत्तिः पटालम्बना संवेद्यत इति नापरः समवायप्रतिभासः। न च 'इह तन्तुषु पटः' इति लौकिकी प्रतिपत्तिः, किन्तु 'पटे तन्तवः' इति। न चान्यथाभूतप्रतिपत्त्याऽन्यथाभूतार्थव्यवस्था। न चानुमानादपि समवायप्रसिद्धिः, प्रत्यक्षाभावे तत्पूर्वकस्य तस्य तत्राऽप्रवृत्तेः। अनुमानपूर्वकस्य तु तस्यानवस्थादिदोषाघ्रातत्वात् तत्राप्रवृत्तिरित्यनेकशः प्रतिपादितं न पुनरुच्यत इति व्यवस्थितमेतत् तथाभूतवस्तुप्रतिपादकमेवाऽऽप्तवचनम् एकान्तप्रतिपादकं तु नाप्तवचनम्।

अथवा एकद्रव्यादन्यद् द्रव्यं **द्रव्यान्तरं** तस्मिन् **निःसृतं** संबद्धं **यत्** तदपि **प्रतीत्यवचनम्**। यथा—दीर्घतरं मध्यमिकाङ्गुलिद्रव्यमपेक्ष्य ह्रस्वतरमङ्गुष्ठकद्रव्यमिति वचः। ह्रस्व-दीर्घादिकस्तु स्वधर्म एव द्रव्यान्तरविशेषाभिव्यङ्ग्यः पितेव पुत्रादिना।

यद्वा गोत्वसदृशपरिणतियुक्ताच्छावलेयद्रव्यात् तत्सदृशपरिणतियुक्तं बाहुलेयादि **द्रव्यान्तरं** तस्मिन् **निःश्रितं** संबद्धं वाचकत्वेन 'गौः' इति **यद्** वचनं तदपि **प्रतीत्यवचनम्**। न पुनः केवलतिर्यक्सामान्य-विशेष-तद्द्वयुभयादिप्रतिपादकम् असद्भूतार्थप्रतिपादकत्वाद् उन्मत्तवाक्यवत्॥ ३॥

[आप्तवचने समुपतिष्ठमानाया एकान्तपक्षाश्रिताया आशङ्काया अनेकान्तपक्षाश्रयणेन निराकरणम्]

ननु प्रत्युत्पन्नपर्यायस्य स्वकालवदतीताऽनागतकालयोः सत्त्वे अतीताऽनागतकालयोर्वर्तमानकालताप्राप्तेः-अन्यथा तद्रूपतया तयोस्तत्सत्त्वासंभवात्-त्रैकाल्यायोगात् तस्य त...स्तथाभूतार्थप्रतिपादकं वचनमप्रतीत्यवचनमेवेत्याशङ्क्याऽऽह—

दव्वं जहा परिणयं तहेव अत्थि त्ति तम्मि समयम्मि ।
विगय-भविस्सेहि उ पज्जएहिं भयणा विभयणा वा ॥ ४ ॥

द्रव्यं चेतनाचेतनम्, **यथा** तदाकारार्थग्रहणरूपतया, घटादिरूपतया वा **परिणतं वर्तमानसमये तथैव अस्ति । विगत-भविष्यद्भिस्तु पर्यायैर्भजना** कथंचित् तैस्तस्यैकत्वम्, **विभजना** विगतभजना नानात्वं कथंचित्, 'वा' शब्दस्य कथंचिदर्थत्वात् । ततः प्रत्युत्पन्नपर्यायस्य विगत-भविष्यद्भ्यां न सर्वथैकत्वमिति कथं तत्प्रतिपादकवचनस्याप्रतीत्यवचनतेति भावः ॥ ४ ॥

[संभवद्भिः पर्यायैर्घटादेर्वस्तुनः अस्तित्व-नास्तित्वप्ररूपणम्]

ननु घटादेरर्थस्य कैः पर्यायैरस्तित्वम् अनस्तित्वं वा ? इत्याह—

परपज्जवेहिं असरिसगमेहिं णियमेण णिच्चमवि नत्थि ।
सरिसेहिं पि वंजणओ अत्थि ण पुणऽत्थपज्जाए ॥ ५ ॥

वर्तमानपर्यायव्यतिरिक्तभूत-भविष्यत्पर्यायाः **परपर्यायास्तैर्विसदृशगमै**र्विजातीयज्ञानग्राह्यै**र्नियमेन** निश्चयेन **नित्यं** सर्वदा **नास्ति** तद् द्रव्यम्, **तैरपि** तदा तस्य सद्भावे अवस्थासंकीर्णताप्रसक्तेः । **सदृशैस्तु व्यञ्जनतः** सामान्यधर्मैः सत् द्रव्य-पृथिवीत्वादिभिः विशेषात्मकैश्च शब्दप्रतिपाद्यैरस्ति, सामान्य विशेषात्मकस्य शब्दवाच्यत्वात् । सामान्यमात्रस्य तद्वाच्यत्वे शब्दादप्रवृत्तिप्रसक्तेरर्थक्रियासमर्थस्य तेनानुक्तत्वात् सामान्यमात्रस्य च तदुक्तस्यार्थक्रियाऽनिर्वर्तकत्वात्, विशेषमन्तरेण सामान्यस्यासंभवात् सामान्यप्रतिपादनद्वारेण लक्षणया विशेषप्रतिपादनमपि शब्दान्न संभवति, क्रमप्रतिपत्तेरसंवेदनात्; विशेषाणां त्वानन्त्यात् संकेतासंभवतः शब्दाचाच्यत्वम् । परस्परव्यावृत्तसामान्य-विशेषयोरप्यवाच्यत्वम् उभयदोषप्रसङ्गात् । तत उभयात्मकं वस्तु गुण-प्रधानभावेन शब्देनाभिधीयत इति सदृशैर्व्यञ्जनतोऽस्तीत्युपपन्नम् । **न पुनर्नैव अर्थपर्यायैः** ऋजुसूत्राभिमतार्थपर्यायेण तद् अस्ति, अन्योन्यव्यावृत्तवस्तुस्वलक्षणग्राहकत्वात् तस्य । अयं चार्थः पूर्वसूत्र एव प्रदर्शित इत्यन्यथा गाथासूत्रं व्याख्येयम्—अन्यवस्तुगताः पर्याया विसदृशसदृशतया द्विप्रकाराः, तत्र **विसदृशै**र्विवक्षितो घटादिर्नैवास्ति । **सदृशैस्तु** कैश्चिदुक्तवदस्ति, कैश्चिन्नेति तात्पर्यार्थः ॥ ५ ॥

[वर्तमानपर्यायेऽपि द्रव्यस्यानेकान्तात्मकत्वसमर्थनम्]

ननु प्रत्युत्पन्नपर्यायेण भावस्यास्तित्वनियमे एकान्तवादापत्तिरित्याशङ्क्याह—

पच्चुप्पण्णम्मि वि पज्जयम्मि भयणागइं पडइ दव्वं ।
जं एगगुणाईया अणंतकप्पा गमविसेसा ॥ ६ ॥

वर्तमानेऽपि परिणामे स्व-पररूपतया सदसदात्मरूपताम्, अधो-मध्योर्ध्वादिरूपेण च भेदाऽभेदात्मकतां च **भजनागतिमासादयति द्रव्यम्, यत एकगुण**कृष्णत्वादयो**ऽनन्त**प्रकारास्तत्र गुण**विशेषा**स्तेषां च मध्ये केनचिद् गुणविशेषेण युक्तं तत् । तथाहि—कृष्णं द्रव्यं तद्द्रव्यान्तरेण तुल्यम् अधिकम् ऊनं वा भवेत् प्रकारान्तराभावात्, प्रथमपक्षे सर्वथा तुल्यत्वे तदेकत्वापत्तिः; उत्तरपक्षयोः संख्येयादिभागगुणवृद्धि-हानिभ्यां षट्स्थानकप्रतिपत्तिरवश्यंभाविनी ।

१-दृशैकस्तु वृ० आ० । २-त्मकां च वृ० आ० हा० वि० । ३ षट्स्थानकस्वरूपमित्यमवगन्तव्यम्—
"वुड्ढी वा हाणी वा अणंत-असंख-संखभागेहिं । वत्थूण संख-ऽसंख-ऽणंतगुणणेण य विहेआ ॥
अनन्ताऽसंख्यात-संख्यातभागैः संख्याताऽसंख्याताऽनन्तगुणनेन च वस्तूनां पदार्थानां वृद्धिर्वा हानिर्वा विधेया । इह हि षट्स्थानके त्रीणि स्थानानि भागेन भागहारेण वृद्धानि हीनानि वा भवन्ति, त्रीणि च स्थानानि गुणनेन गुण- ××× । तत्र भागहारे अनन्ताऽसंख्यात-संख्यातलक्षण क्रमः, गुणकारे च संख्याताऽसंख्याताऽनन्तलक्षण गा० ४३२ हा० २६० ।

स्यादेतत्, पुद्गलद्रव्यस्य तादृग्भूतापरपुद्गलद्रव्यापेक्षया अनेकान्तरूपता युक्ता, प्रत्युत्पन्ने त्वात्मद्रव्यपर्याये कथमनेकान्तरूपता? न, आत्मपर्यायस्यापि ज्ञानादेस्तत्तद्ग्राह्यार्थापेक्षयाऽनेकान्तरूपता पुद्गलवन्न विरुध्यते। तथा द्रव्य-कषाय-योगोपयोग-ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्यप्रभेदात्मकत्वादात्मनः पुद्गलवदनेकान्तरूपता आर्षे प्रतिपादितैव—

"कइविहे णं भंते! आया पण्णत्ते?

गोयमा! अट्ठविहे। तं जहा-दविए आया" [भगवतीसू० शत० १२, उ० १०] इत्यादी॥ ६॥

[आत्मनोऽनेकान्तात्मकत्वस्य बुद्धिगम्यतया प्रदर्शनम्]

इतश्चानेकान्तात्मकता आत्मनः प्रतिपत्तव्येत्याह—

कोवं उप्पायंतो पुरिसो जीवस्स कारओ होइ।
तत्तो [2]विभएयव्वो परम्मि सयमेव भइयव्वो॥ ७॥

कोपपरिणतिमुपनयन् पुरुषो जीवस्य परभवप्रादुर्भावे **निर्वर्तको भवति,** तन्निमित्तस्य कर्मण उपादानात्। कोपपरिणाममापद्यमानश्च पुरुषस्ततः परभवजीवाद् **विभजनीयो** भिन्नो व्यवस्थापनीयः, कार्य-कारणयोर्मृत्पिण्ड-घटवत् कथंचिद् भेदात्; अन्यथा कार्य-कारणभावाभावप्रसङ्गात्। न चासौ ततो भिन्न एव **परस्मिन्** भवे **स्वयमेव** पुरुषो **भजनीयः** आत्मरूपतया अभेदेन व्यवस्थाप्यत इति भावः घटाद्याकारपरिणतमृद्द्रव्यवत् कथंचिदभिन्न इत्यनेकान्तः।

यद्वा **कोपपरिणतिमन्यस्मिन्** जीवे **उत्पादयन् पुरुषः कारको भवति। ततो**ऽसौ कोपकारकत्वेन **विभजनीयः**—कोपपरिणतियोग्ये जीवे कारकः, अन्यत्राकारक इति॥ ७॥

[द्रव्य-गुणयोः कथंचिदभेदमनिच्छतां केषांचित् तयोर्भेदविषयाऽऽशङ्का]

[4] द्रव्यं गुणादिभ्योऽन्यत्, तेऽपि द्रव्यादन्य एवेत्येतदनेकान्तममृष्यमाणा आहुः—

[3]रूव-रस-गंध-फासा असमाणग्गहण-लक्खणा जम्हा।
तम्हा दव्वाणुगया गुण त्ति ते केइ इच्छंति॥ ८॥

---

१ "कइविहा णं भते! आया पण्णत्ता? गोयमा! अट्ठविहा आया पण्णत्ता। त जहा-दवियाया कसायाया जोगाया उवओगाया णाणाया दसणाया चरित्ताया वीरियाया" इत्यादि सपूर्णं सूत्रम्-भगवतीसू० पृ० ५८८ सू० ४६७।

२ वियभइयव्वो गु० मू० विना। ३ रूप-रस-आ० हा० वि०।

४ 'गुण'शब्दस्य वैशेषिकादिदर्शनेषु प्रतिनियतार्थत्वेन अतिप्रसिद्धत्वात् केषुचित् उत्तराध्ययन-तत्त्वार्थादिग्रन्थेषु च तस्य विशिष्टार्थत्वेन निर्देशात् भगवत्यादिषु चागमेषु गुण-पर्यायशब्दयोर्द्वयोरपि प्रयोगदर्शनात् जैनमते उपतिष्ठमानाम् 'किं गुणशब्दः पर्यायशब्दसमानार्थक एव उत भिन्नार्थक' इति विप्रतिपत्तिं निराकर्तुकामेन श्रीसिद्धसेनदिवाकरेण गुणशब्दस्य पर्यायशब्दसमानार्थकत्वपरं स्वकीय मतमाविष्कृतं मूलगाथायाम्।

परन्तु तयोर्द्वयोरपि शब्दयोरर्थमर्यादामवगन्तुमपरेषामपि अनेकेषामाचार्याणां तद्विषयाणि विविधानि मतानि परिज्ञातव्यानि सन्ति। तानि चेत्थम्—

उत्तराध्ययनसूत्रे गुण-पर्यायशब्दयो पृथक् पृथग् निर्देश तल्लक्षण चेत्थ निरूपितमस्ति। तथाहि—

"गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वस्सिआ गुणा। लक्खण पज्जवाणं तु उभओअस्सिआ भवे॥
एगत्त च पुहत्तं च सखा सठाणमेव य। सजोगा य विभागा य पज्जवाणं तु लक्खण॥
गुणाना तु रूपादीनामतिप्रतीतत्वात्लक्षण नोक्तमिति"—अ० २८ गा० ६ तथा १३।

श्रीमदुमास्वातिना सूत्रे भाष्ये च पृथक् पृथक् प्रयुक्तौ लक्षितौ च गुण-पर्यायशब्दौ तयोर्विभिन्नार्थत्वपरं तदीयं तात्पर्यं सूचयत। तथाहि—

[1]"गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्"—तत्त्वार्थ० ५, ३७।

"सर्वं त्रित्वं द्रव्य-गुण-पर्यायावरोधात्"–१, ३५ तत्त्वार्थ० भा०। "गुणान् लक्षणतो वक्ष्यामः। भावान्तरं संज्ञान्तरं च पर्यायः। तदुभयं यत्र विद्यते तद् द्रव्यम्"–५, ३७ तत्त्वार्थ० भा०।

श्रीकुन्दकुन्देन पृथक्तया प्रयुक्त–लक्षितौ अमृतचन्द्रेण च भिन्नार्थतया स्पष्टमेव व्याख्यातौ गुण-पर्यायशब्दौ विभिन्नार्थत्वपरमेव तदीयं तात्पर्यं ज्ञापयतः। तद्यथा—

"अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि। तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया" ॥ १ ॥
—प्रवचन० पृ० ११५।

"लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं। ते तब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया" ॥ ३८ ॥
प्रवचन० पृ० १८२।

"दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि। अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा" ॥ १३ ॥—
पञ्चास्ति० पृ० २९।

अस्य गाथात्रयस्य अमृतचन्द्रीया व्याख्यापि अत्रानुसंधेया।

श्रीराजमल्लेन तु अमृतचन्द्रवत् तौ द्वावपि शब्दौ भिन्नार्थतया स्पष्टमेव परिभाषितौ। यथा—

"द्रव्याश्रया गुणाः स्युर्विशेषमात्रास्तु निर्विशेषाश्च। करतलगतं यदेतैर्व्यक्तमिवालक्ष्यते वस्तु" ॥ १०४ ॥

"क्रमवर्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः। उत्पाद-व्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मकाः कथंचिच्च" ॥ १६५ ॥
—पञ्चाध्या० पृ० ३७, ५४।

पूज्यपादेन तु अन्वयित्व–व्यतिरेकित्वरूपेण गुण-पर्याययोः स्पष्टमेव भेदं प्रतिपाद्य तद्वाचकयोर्द्वयोः शब्दयोर्विभिन्नार्थत्वं तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यायां प्रदर्शितम्। तथाहि—

"के गुणाः? के पर्यायाः? अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिणः पर्यायाः। उभयैरुपेतं द्रव्यमिति। उक्तं च—

गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो। तेहिं अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवे णिच्चं ॥

ततः सामान्यापेक्षया अन्वयिनो ज्ञानादयो जीवस्य गुणाः, पुद्गलादीनां च रूपादयः। तेषां विकारा विशेषात्मना भिद्यमानाः पर्यायाः। घटज्ञानम् पटज्ञानम् क्रोधः मानः गन्धः वर्णः तीव्र. मन्द इत्येवमादयः"—५, ३८ सर्वार्थसिद्धिः पृ० १७५।

श्रीमदकलङ्केन गुण-पर्याययोः द्वयोरपि शब्दयोरेकार्थत्वम् विभिन्नार्थत्वं च द्वयमपि तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यायां समर्थितम्। तच्चैवम्—

"गुणा एव पर्याया इति वा निर्देशः। अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्याणि न (?) पर्यायाः न तेभ्योऽन्ये गुणाः सन्ति ततो गुणा एव पर्याया इति सति सामानाधिकरण्ये मतौ सति गुण-पर्यायवदिति निर्देशो युज्यते"—५, ३७ तत्त्वार्थराजवा० वा० २ पृ० २४३।

"नित्यं द्रव्यमाश्रित्य ये वर्तन्ते ते गुणा इति। पर्यायाः पुनः कादाचित्का इति न तेषां ग्रहणम् तेन अन्वयिनो धर्मा गुणा इत्युक्तं भवति तद्यथा जीवस्यास्तित्वादयः ज्ञान-दर्शनादयश्च पुद्गलस्य अचेतनत्वादयः रूपादयश्च। पर्यायाः पुनः 'घटज्ञानादयः कपालादिविकाराश्च"—५, ४० तत्त्वार्थराजवा० वा० ४ पृ० २४४।

प्रस्तुतविषये विशिष्टचर्चां विदधता विद्यानन्दिना पूज्यपादसरणिरेव अनुसृता। तथाहि—

"गुणाः वक्ष्यमाणलक्षणाः पर्यायाश्च तत्सामान्यापेक्षया × × × विशेषापेक्षया पर्यायाणां नित्ययोगाभावात् कादाचित्कत्वसिद्धेः"—५, ३८ तत्त्वार्थश्लो० वा० पृ० ४३८।

"कः पुनरसौ पर्यायः? इत्याह—

तद्भावः परिणामोऽत्र पर्यायः प्रतिवर्णितः। गुणाच्च सहभुवो भिन्नः क्रमवान् द्रव्यलक्षणम्" ॥—५, ४२ तत्त्वार्थश्लो० वा० पृ० ४४०।

गुण-पर्यायशब्दयोर्व्याख्यां विदधता श्रीअमृतचन्द्रसूरिणा स्वीये तत्त्वार्थसारे अकलङ्कमतमेव समाश्रितम्। तथाहि—

"गुणो द्रव्यविधानं स्यात् पर्यायो द्रव्यविक्रिया। द्रव्यं ह्ययुतसिद्धं स्यात् समुदायस्तयोर्द्वयोः ॥ ९ ॥
सामान्यमन्वयोत्सर्गौ शब्दाः स्युर्गुणवाचकाः। व्यतिरेको विशेषश्च भेदः पर्यायवाचकाः ॥ १० ॥
गुणैर्विना न च द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणाः। द्रव्यस्य च गुणानां च तस्मादव्यतिरिक्तता ॥ ११ ॥
न पर्यायाद् विना द्रव्यं विना द्रव्याच्च पर्ययः। वदन्त्यनन्यभूतत्वं द्वयोरपि महर्षयः" ॥ १२ ॥—
सनातन० ग्र० गु० पृ० १२१।

रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः असमानग्रहण-लक्षणा यस्मात् ततो द्रव्याश्रिता गुणा इति केचन वैशेषिकाद्याः, स्वयूथ्या वा सिद्धान्तानभिज्ञा अभ्युपगच्छन्ति । तथाहि—गुणा द्रव्याद् भिन्नाः, भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वात् भिन्नलक्षणत्वाच्च; स्तम्भात् कुम्भवत् । न चासिद्धो हेतुः, द्रव्यस्य 'यमहमद्राक्षं तमेव स्पृशामि' इत्यनुसंधानाध्यक्षग्राह्यत्वात् रूपादीनां च प्रतिनियतेन्द्रिय-प्रभवप्रत्ययावसेयत्वात् 'दार्शनं स्पार्शनं च द्रव्यम्' इत्याद्यभिधानादसमानग्रहणता द्रव्य-गुणयोः सिद्धा । तथा, विभिन्नलक्षणत्वमपि—

"क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम्" [वैशेषिकद० १-१-१५] "द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग-विभागेष्वकारणमनपेक्षः" [वैशेषिकद० १-१-१६] इति वचनात् सिद्धम् ॥ ८ ॥

श्रीसिद्धसेनसूरिणाऽपि एकार्थत्वम् विभिन्नार्थत्वं च द्वयमपि नयभेदेन व्यवस्थाप्य अकलङ्कीय एव पन्थास्तत्त्वार्थभाष्य-वृत्तौ स्पष्टमनुसृतः । तद् यथा—

" गुणाः शक्तिविशेषाः त एव क्रमेण सह च भवन्तः सर्वतोमुखत्वाद् भेदाः पर्यायास्तान् गुणान् पिण्डघटकपालादीन् रूपादींश्च ××× व्यवहारनयसमाश्रयणेन तु गुणाः पर्याया इति वा भेदेन व्यवहारः प्रवचने । युगपदवस्थायिनो गुणा रूपादयः, अयुगपदवस्थायिनः पर्यायाः । वस्तुतः पर्याया गुणा इति ऐकात्म्यम्"—५, ३७ तत्त्वार्थ० व्या० पृ० ४२८ ।

उक्तयोर्द्वयोरपि शब्दयोरेकार्थत्वं हृदि संमन्यमानेनापि वादिदेवसूरिणा प्राक्तनतर्कग्रन्थेषु तयोर्विभिन्नार्थत्वेन प्रयोगपरि-पाटिं पश्यता स्वीये प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारग्रन्थे पर्यायशब्दस्य अर्थं संकोच्य विभिन्नार्थत्वं तयोर्द्वयोः शब्दयोर्व्यावर्णितम्, उपपादितं च स्याद्वादरत्नाकरे । तच्चैवम्—

"विशेषोऽपि द्विरूपः-गुणः पर्यायश्चेति ॥ ६ ॥

गुणः सहभावी धर्मः यथा आत्मनि विज्ञानव्यक्ति-शक्त्यादिरिति ॥ ७ ॥

पर्यायस्तु क्रमभावी यथा तत्रैव सुख-दुःखादिरिति ॥ ८ ॥"—परि० ५ पृ० ७३५ ।

श्रीमता हरिभद्रेण तु प्रस्तुते विषये सिद्धसेनदिवाकरीय एव पन्था अनुसृतः प्रतिभासते, स एव च मार्ग उपाध्याययशोविजयेन अनुधावितः सविस्तरमुपपादितश्च—

"अन्वयो व्यतिरेकश्च द्रव्य-पर्यायसंज्ञितौ । अन्योन्यव्याप्तितो भेदाभेदवृत्त्यैव वस्तु तौ" ॥ ३१ ॥

—शास्त्रवा० समु० स्तब० ७ पृ० प्र० २६१ ।

"अन्वयो व्यतिरेकश्चेत्येतावंशौ द्रव्य-पर्यायसंज्ञितौ—द्रव्यं पर्यायश्चेति द्रव्य-पर्यायपदवाच्यौ । एतेन 'द्रव्यं गुणाः पर्यायाश्च' इति विभागः केषांचिद् अनभिज्ञस्वयूथ्यानाम् परयूथ्यानां वा निरस्तः, विभिन्ननयग्राह्याभ्यां द्रव्य-पर्यायत्वाभ्यामेव विभागात् । यदि च गुणोऽप्यतिरिक्तः स्यात् तदा तद्ग्रहार्थं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकवद् गुणार्थिकनयमपि भगवानुपादेक्ष्यत्, न चैवमस्ति; रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानामर्हता तेषु तेषु सूत्रेषु "वण्णपज्जवेहिं" इत्यादिना पर्यायसंज्ञयैव नियमनात् । गुण एव तत्र पर्यायशब्देन उक्त इति चेत्, नन्वेवं गुण-पर्यायशब्दयोरेकार्थत्वेऽपि पर्यायशब्देनैव भगवतो देशना इति न गुणशब्देन पर्यायस्य तदतिरिक्तस्य वा गुणस्य विभागौचित्यम् । 'एकगुणकालः' 'दशगुणकालः' इत्यादौ गुणशब्देनापि भगवतो देशना अस्त्येवेति चेत्, अस्त्येव संख्यानशास्त्रधर्मवाचकगुणशब्देन, न तु गुणार्थिकनयप्रतिपादनाभिप्रायेण" इत्यादि—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० प्र० २६१ ।

१ रूप-रसादीनामसमानग्रहण-लक्षणता वैशेषिकैरित्थं वर्णिताऽस्ति—"रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्" । × "रसो रसनग्राह्यः" । "गन्धो घ्राणग्राह्यः" । × "स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः" ।—प्रशस्त० कं० पृ० १०४-१०५-१०६ ।

२ एतद् वाक्यमेव श्रीयशोविजयोपाध्यायः स्वीये गूर्जरभाषानिबद्धे सस्तबके द्रव्यगुणपर्यायरासे इत्थमनूदितवान्—

"शक्तिरूप गुण कोइक भाषइ ते नही मारगि निरतइं रे. जिन०" । "कोइक दिगंबरानुसारी शक्तिरूप गुण भाषइ छइ, जे माटइं ते इम कहइ छइ जे जिम द्रव्यपर्यायनुं कारण द्रव्य तिम गुणपर्यायनुं कारण गुण" इत्यादि—ढा० २ दो० १० ।

३ मुद्रिते वैशेषिकदर्शने तु एवं पाठो दृश्यते—

"क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्" । "द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्" ।

[द्रव्य–गुणयोरेकान्तभेदाशङ्कां निराकर्तुं गुणशब्दस्यार्थपरीक्षा]

एतत्परिहारायाह–

दूरे ता अण्णत्तं गुणसद्दे चेव ताव पारिच्छं।

किं पज्जवाहिओ होज्ज पज्जवे चेव गुणसण्णा॥ ९॥

दूरे तावद् गुण–गुणिनोरेकान्तेनान्यत्वम्–असंभावनीयमिति यावत्–गुणात्मकद्रव्यप्रत्ययबाधितत्वाद् एकान्तगुणगुणिभेदस्य। न च समवायनिमित्तोऽयमभेदप्रत्ययः, तस्य निषिद्धत्वात्। न चैकत्वप्रत्ययस्य प्रागुपन्यस्तानुमानबाधा, एकत्वप्रत्ययाध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेनैकशाखाप्रभवत्वानुमानस्येव तस्य कालात्ययापदिष्टत्वात्। ततो गुण–गुणिनोरेकान्तान्यत्वस्यासंभवात् **गुणशब्दे एव तावत् परीक्ष्यमस्ति–किं पर्यायादधिके गुणशब्दः? उत पर्याय एव** प्रयुक्त इति? अभिप्रायश्च न पर्यायादन्यो गुणः, पर्यायश्च कथंचिद्द्रव्यात्मक इति विकल्पः कृतः॥ ९॥

[गुणस्य पर्यायाद् भेदे तृतीयस्य गुणार्थिकनयस्यापि वचनीयत्वप्रसञ्जनम्]

यदि पर्यायादन्यो गुणः स्यात् पर्यायार्थिकवद् गुणार्थिकोऽपि नयो वचनीयः स्यादित्याह–

दो उण णया भगवया दव्वट्ठिय-पज्जवट्ठिया नियया।

एत्तो य गुणविसेसे गुणट्ठियणओ वि जुज्जंतो॥ १०॥

द्वावेव मूलनयौ भगवता द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिकौ नियमितौ, तत्रातः पर्यायादधिके **गुणविशेषे** ग्राह्ये सति तद्ग्राहक**गुणास्तिकनयोऽपि नियमितुं युज्यमानकः स्यात्** अन्यथा अव्यापकत्वं नयानां भवेत् अर्हतो वा तदपरिज्ञानं प्रसज्येत॥ १०॥

[तृतीयस्य गुणार्थिकनयस्य भगवदनुक्तत्वोपपादनम्]

न च भगवताऽसावुक्त इत्याह–

जं च पुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईणं।

पज्जवसण्णा णियया वागरिया तेण पज्जाया॥ ११॥

---

१ अत्र टीकानुरोधेन 'पज्जवाहिए' इति पाठः संभाव्यते अथवा सप्तम्यर्थे प्रथमा समर्थनीया। २ पृ० १०६ पं० १०। ३ पृ० ६३३ पं० ३।

४ 'गुण–पर्याययोर्विभिन्नत्वे पर्यायप्रतिपादकपर्यायार्थिकवद् गुणप्रतिपादको गुणार्थिकोऽपि स्वतन्त्रो नयः कथमागमे नोक्तः' इत्याशङ्कया प्रेरितेन दिवाकरेण उक्तयोर्द्वयोः शब्दयोरेकार्थत्वं वर्णितं परंतु तयोर्विभिन्नार्थत्वं मन्यमानाभ्यामकलङ्क–विद्यानन्दिभ्यां सा शङ्का प्रकारान्तरेणैव अपाकृता, तदपाकरणयुक्तिरपि तयोर्द्वयोर्विभिद्यते, अकलङ्कीया युक्तिर्वस्तुस्थितिस्पर्शिनी विद्यानन्दीया च तर्कानुगामिनी इति द्वयोर्भेदः प्रतिभाति। तथथा–

"द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिक इति द्वावेव मूलनयौ। यदि गुणोऽपि कश्चित् स्यात् तद्विषयेण मूलनयेन तृतीयेन भवितव्यम् न चास्ति असौ इत्यतो गुणाभावाद् गुण–पर्यायवदिति निर्देशो न युज्यते, तन्न; किं कारणम्? अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्। उक्तं हि अर्हत्प्रवचने–'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' इति। अन्यत्र चोक्तम्–

गुण इति दव्वविधाणं दव्ववियारो य पज्जवो भणिदो। तेहि अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवदि णिच्चं॥

यदि गुणोऽपि विद्यते ननु चोक्तं तद्विषयस्तृतीयो मूलनयः प्राप्नोति, नैष दोषः; द्रव्यस्य द्वावात्मानौ सामान्यम् विशेषश्चेति। तत्र सामान्यमुत्सर्गोऽन्वयः गुण इत्यनर्थान्तरम्। विशेषो भेदः पर्याय इति पर्यायशब्दः। तत्र सामान्यविषयो नयो द्रव्यार्थिकः, विशेषविषयः पर्यायार्थिकः। तदुभयं समुदितमयुतसिद्धरूपं द्रव्यमित्युच्यते न तद्विषयस्तृतीयो नयो भवितुमर्हति विकलादेशत्वान्नयानाम् तत्समुदायोऽपि प्रमाणगोचरः सकलादेशत्वात् प्रमाणस्य" इत्यादि–

५,३७ तत्त्वार्थराजवा० वा० २ पृ० २४३।

"गुणवद् द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये। तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये"॥ २॥

–तत्त्वार्थश्लो० वा० पृ० ४३८।

बोध्यम् सेद्धत्वं च बहुलाधिकारात् समर्थनीयम्।

यतः पुनर्भगवता तस्मिंस्तस्मिन् सूत्रे "वण्णपज्जवेहिं, गंधपज्जवेहिं" [भगवतीसू० शत० १४, उ० ४ सू० ५१३] इत्यादिना पर्यायसंज्ञा नियमिता वर्णादिषु गौतमादिभ्यः व्याकृतास्ततः पर्याया एव वर्णादयो न गुणा इत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

[तुल्यार्थत्वाद् आगमाच्च पर्यायशब्देन गुणस्यैवाभिधानमिति कथनम्]

अथ तत्र गुण एव पर्यायशब्देनोक्तः तुल्यार्थत्वात् आगमाच्च—
"य एव पर्यायः स एव गुणः" [ ] इत्यादिकात्। एतदेवाह—

परिगमणं पज्जाओ अणेगकरणं गुण त्ति तुल्लत्था ।
तह वि ण 'गुण' त्ति भण्णइ पज्जवणयदेसणा जम्हा ॥ १२ ॥

परि समन्तात् सहभाविभिः क्रमभाविभिश्च भेदैर्वस्तुनः परिणतस्य गमनं परिच्छेदो यः स पर्यायः विषय-विषयिणोरभेदात्; अनेकरूपतया वस्तुनः करणं—करोतेर्ज्ञानार्थत्वात्-ज्ञानम्-विषय विषयिणोरभेदादेव-गुणः इति तुल्यार्थौ गुण-पर्यायशब्दो, तथापि न 'गुणार्थिकः' इत्यभिहितस्तीर्थकृता पर्यायनयद्वारेणैव देशना यस्मात् कृता भगवतेति ॥ १२ ॥

[भगवतो गुणद्वारेणापि देशनादर्शनान्न गुणाभाव इति पूर्वपक्षः]

गुणद्वारेणापि देशनायां भगवतः प्रवृत्तिरुपलभ्यते इति न गुणाभाव इत्याह—

जंपन्ति अत्थि समये एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो ।
रूवाई परिणामो भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ॥ १३ ॥

जल्पन्ति द्रव्य-गुणान्यत्ववादिन.-विद्यते एव सिद्धान्ते "एगगुणकालए दुगुणकालए" [भगवतीसू० शत० ५, उ० ७ सू० २१७] इत्यादि रूपादो व्यपदेशस्तस्माद् रूपादिर्गुण-विशेष एवेत्यस्ति गुणार्थिको नयः उपदिष्टश्च भगवतेति ॥ १३ ॥

[उक्तस्य पूर्वपक्षस्य सिद्धान्तवादिना निराकरणम्]

अत्राह सिद्धान्तवादी—

गुणसद्दमंतरेणावि तं तु पज्जवविसेससंखाणं ।
सिज्झइ णवरं संखाणसत्थधम्मो 'तइगुणो' त्ति ॥ १४ ॥

रूपाद्यभिधायिगुणशब्दव्यतिरेकेणापि 'एकगुणकालः' इत्यादिकं पर्यायविशेषसंख्या-वाचकं वचः सिध्यति न पुनर्गुणास्तिकनयप्रतिपादकत्वेन, यतः संख्यानं गणितशास्त्रधर्मः—'अयं तावद्गुण इति एतावताऽधिको न्यूनो वा भाव' इति गणितशास्त्रधर्मत्वादस्येत्यर्थः ॥ १४ ॥

[सिद्धान्तिना स्वोक्तस्यार्थस्य दृढीकरणम्]

दृष्टान्तद्वारेणामुमेवार्थं दृढीकर्तुमाह—

जह दससु दसगुणम्मि य एगम्मि दसत्तणं समं चेव ।
अहियम्मि वि गुणसद्दे तहेय एयं पि दट्ठव्वं ॥ १५ ॥

---

१ जीवाजीवाभि० प्रतिप० ३ सू० ७८ पृ० ९८ प्र० । जम्बूद्वीपप्र० वक्ष० २ सू० ३६ पृ० १६४ द्वि० । २ भगवतीसू० पृ० ६४० प्र० ।

३ मलयगिरीयाया धर्मसङ्ग्रहणिटीकायां शाकटायनसम्मत पर्यायलक्षणमित्थमुपन्यस्त वर्तते—
"यदाह शाकटायन -क्रमेण पदार्थानां क्रियाभिसम्बन्ध पर्याय इति"—पृ० १४४ प्र० प० १२ ।

४ भगवतीसू० पृ० २३५ प्र० । ५ "संखाणे ××× सुपरिनिट्ठिए" । "संखाणे त्ति गणितस्कन्धे सुपरिनिष्ठित इती योग"—[भगवतीसू० श० २ उ० १ सू० ९० पृ० ११२ द्वि० तथा पृ० ११४ प्र०] इत्येव गणितार्थवाचकः 'सङ्ख्यान'-शब्द भगवतीप्रभृतिसूत्रेषु विद्यते । ६ शब्दस्य व्य-भां० मा० ।

यथा दशसु द्रव्येषु, एकस्मिन् वा द्रव्ये दशगुणिते दशशब्दातिरेकेऽपि दशत्वं सममेव तथैव एतदपि न भिद्यते–'परमाणुरेकगुणकृष्णादिः' इति। एकादिशब्दाधिक्ये गुण-पर्यायशब्दयोर्भेदः वस्तु पुनस्तयोस्तुल्यमिति भावः। न च गुणानां पर्यायत्वे वाचकमुख्यसूत्रम्—"गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्" [तत्त्वार्थ० अ० ५, सू० ३७] इति विरुध्यते, युगपदयुगपद्भाविपर्यायविशेषप्रतिपादनार्थत्वात् तस्य। न चैवमपि मतुप्प्रयोगाद् द्रव्यविभिन्नपर्यायसिद्धिः, नित्ययोगेऽत्र मतुब्विधानात् द्रव्य-पर्याययोस्तादात्म्यात् सदाऽविनिर्भागवर्तित्वात् अन्यथा प्रमाणबाधोपपत्तेः। संज्ञा-संख्या-स्वलक्षणाऽर्थक्रियाभेदाद् वा कथंचित् तयोरभेदेऽपि भेदसिद्धेर्न मतुबनुपपत्तिः॥ १५॥

[भेदस्य निरासेनाभेदस्य फलितत्वेऽप्येकान्तिना तस्य दार्ढ्याय सोपनयमुदाहरणम्]

एवं द्रव्य-पर्याययोर्भेदैकान्तप्रतिषेधे अभेदैकान्तवाद्याह—

एयंतपक्खवाओ जो उण दव्व-गुण-जाइभेयम्मि।
अह पुव्वपडिकुट्ठो उआहरणमित्तमेयं तु॥ १६॥
पिउ-पुत्त-णत्तु-भंव्वय-भाऊणं एगपुरिससंबंधो।
ण य सो एगस्स पिय त्ति सेसयाणं पिया होइ॥ १७॥
जह संबन्धविसिट्ठो सो पुरिसो पुरिसभावणिरइसओ।
तह दव्वमिंदियगयं रूवाइविसेसणं लहइ॥ १८॥

एकान्तव्यतिरिक्ताभ्युपगमवादो यः पुनर्द्रव्य-गुण-क्रियाभेदेषु स यद्यपि पूर्वमेव प्रतिक्षिप्तः भेदैकान्तग्राहकप्रमाणाभावात् अभेदग्राहकस्य च 'सर्वमेकं सदविशेषात् विशेषे वा वियत्कुसुमवदसत्त्वप्रसङ्गात्' इति प्रदर्शितत्वात्।

तथापि तत्स्वरूपे दार्ढ्योत्पादनार्थमुदाहरणमात्रमभिधीयते—

पितृ-पुत्र-नप्तृ-भांगिनेय-भ्रातृभिर्य एकस्य पुरुषस्य संबन्धस्तेनासावेक एव पित्रादिव्यपदेशमासादयति। न चासावेकस्य पिता–पुत्रसंबन्धतः–इति शेषाणामपि पिता भवति।

यथा प्रदर्शितसंबन्धविशिष्टः पित्रादिव्यपदेशमाश्रित्यासौ पुरुषरूपतया निरतिशयोऽपि सन् तथा द्रव्यमपि घ्राण-रसन-चक्षुस्-त्वक्-श्रोत्रसंबन्धमवाप्य रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दव्यपदेशमात्रं लभते द्रव्यस्वरूपेणाविशिष्टमपि नहि शक्रेन्द्रादिशब्दभेदाद् गीर्वाणनाथस्येव रूपादिशब्दभेदाद् वस्तुभेदो युक्तस्तदा द्रव्याद्वैतैकान्तस्थितेः कथंचिद् भेदाभेदवादो द्रव्य-गुणयोर्मिथ्यावाद इति॥ १६॥ १७॥ १८॥

[कथंचिद् भेदाभेदं मिथ्या वदतोऽभेदैकान्तपक्षस्य निराकरणम्]

अस्य निराकरणायाह—

होज्जाहि दुगुणमहुरं अणंतगुणकालयं तु जं दव्वं।
ण उ डहरओ महल्लो वा होइ संबंधओ पुरिसो॥ १९॥

१ "ववदेसा सठाणा सखा विसया य होंति ते वहुगा। ते तेसिमणण्णत्ते अण्णत्ते चावि विज्जते" ॥ ४६ ॥—पञ्चास्ति०।
२ "भव्वो वहिणीतणए" "भव्वो भागिनेय"—देशीना० व० ६ गा० १००। तत्रैव च "भञ्चो" इति पाठान्तरम्।
३ ।२ पं० १७। ४ भगिनीवद् भमीशब्दोऽपि विद्यते ततो भम्या अपत्यं भामेय –वाच०।

यदि नाम आम्रादिद्रव्यमेव रसनसंबन्धाद् 'रसः' इति व्यपदेशमात्रमासादयेत् द्विगुणमधुरं रसतः कुतो भवेत् तथा नयनसंबन्धाद् यदि नाम 'कृष्णम्' इति भवेत् अनन्तगुणकृष्णं तत् कुतः स्यात् वैषम्यभेदावगतेर्नयनादिसंबन्धमात्रादसंभवात् । तथा, पुत्रादिसंबन्धद्वारेण पित्रादिरेव पुरुषो भवेत् न त्वल्पो महान् वेति युक्तः। विशेषप्रतिपत्तेरुपचरितत्वे मिथ्यात्वे वा सामान्यप्रतिपत्तावपि तथाप्रसक्तेरिति भावः ॥ १९ ॥

[अभेदैकान्तवादिन आशङ्का]

अत्राहाभेदैकान्तवादी—[1]

भण्णइ संबंधवसा जइ संबंधित्तणं अणुमयं ते।
णणु संबंधविसेसे संबंधिविसेसणं सिद्धं ॥ २० ॥

संबन्धसामान्यवशाद् यदि संबन्धित्वसामान्यम् अनुमतं तव, ननु संबन्धविशेषद्वारेण तथैव संबन्धिविशेषोऽपि किं नाभ्युपगम्यते ? ॥ २० ॥

[सिद्धान्तवादिनाऽऽशङ्कानिरसनम्]

सिद्धान्तवाद्याह—

जुज्जइ संबंधवसा संबंधिविसेसणं ण उण एयं ।
णयणाइविसेसगओ रूवाइविसेसपरिणामो ॥ २१ ॥

संबन्धविशेषवशाद् युज्यते संबन्धिविशेषः यथा दण्डादिसंबन्धिविशेषजनितसंबन्धविशेषसमासादितसंबन्धिविशेषोऽवगतः। द्रव्याद्वैतवादिनस्तु न संबन्धिविशेषः नापि संबन्धविशेषः संगच्छत इति कुतो रसनादिविशेषसंबन्धजनितो रसादिविशेषपरिणामः ? ॥ २१ ॥

[अनेकान्तवादे अनन्त-द्विगुणादिवैषम्यपरिणतिः कथं घटते इत्याशङ्का तन्निरासश्च]

नन्वनेकान्तवादिनोऽपि रूप-रसादेरनन्त-द्विगुणादिवैषम्यपरिणतिः कथमुपपन्ना ? इत्याह—

भण्णइ विसमपरिणयं कह एयं होहिइ त्ति उवणीयं ।
तं होइ परनिमित्तं ण व त्ति एत्थऽत्थि एगंतो ॥ २२ ॥

शीतोष्णस्पर्शवदेकत्रैकदा विरोधाद् भण्यते 'एकत्र आम्रफलादौ विषमपरिणतिः कथं भवति' इति परेण प्रेरिते उपनीतं प्रदर्शितमात्रेण तद् भवति परनिमित्तम्—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानां सहकारिणां वैचित्र्यात् कार्यमपि वैचित्र्यमासादयति—तद् आम्रादि वस्तु विषमरूपतया परनिमित्तं भवति, न[2] वा 'परनिमित्तमेव' इत्यत्राप्येकान्तोऽस्ति, स्वरूपस्यापि कथंचिन्निमित्तत्वात्। तन्न द्रव्याद्वैतैकान्तः संभवी ॥ २२ ॥

[प्रागुक्तस्य लक्षणस्य बाधाद् भेदैकान्तवादिना द्रव्य गुणयोर्लक्षणान्तराभिधानम्
अभेदैकान्तवादिना च विकल्प्य तद्दूषणम्]

द्रव्य-गुणयोर्भेदैकान्तवादिना प्राक् प्रदर्शिततल्लक्षणस्यैकत्वप्रतिपत्त्यध्यक्षबाधितत्वाद् लक्षणान्तरं वक्तव्यम् तदाह—

दव्वस्स ठिई जम्म-विगमा य गुणलक्खणं ति वत्तव्वं[3] ।
एवं सइ केवलिणो जुज्जइ तं णो उ दवियस्स ॥ २३ ॥

---

1 अत्राह भेदै-वा० बा० भां० मां० । 2 न चाप-वा० बा० भां० मां० । 3 वत्तव्यं छ दव्वस्स ' ॰ था॰ हा॰ वि॰ ।

द्रव्यस्य लक्षणं **स्थितिः जन्म-विगमौ लक्षणं गुणा**नाम्, **एवं सति केवलिनो युज्यते** एतल्लक्षणम्-तत्र किल केवलात्मना स्थिते एव चेतनाचेतनरूपा अन्ये अर्था ज्ञेयभावेनोत्पद्यन्ते, अज्ञेयरूपतया च नश्यन्ति। **न तु द्रव्यस्या**ण्वादेर्लक्षणमिदं युज्यते, न हि अणौ रूपादयो जायन्ते अत्यन्तभिन्नत्वात् गव्यश्वादिवत्। अथवा केवलिनोऽपि सकलज्ञेयग्राहिणो नैतल्लक्षणं युज्यते। न चापि द्रव्यस्य अचेतनस्य गुण-गुणिनोरत्यन्तभेदे असत्त्वापत्तेः—असतोश्च खरविषाणादेरिव लक्षणासंभवादिति ॥ २३ ॥

दव्वत्थंतरभूया मुत्ताऽमुत्ता य ते गुणा होज्ज।
जइ मुत्ता परमाणू णत्थि अमुत्तेसु अग्गहणं ॥ २४ ॥

द्रव्यार्थान्तरभूतगुणवादिनः **द्रव्यादर्थान्तरभूतगुणा मूर्ताः, अमूर्ता वा भवेयुः? यदि मूर्ताः परमाणवो न** तर्हि परमाणवो भवन्ति, मूर्तिमद्रूपाद्याधारत्वात् अनेकप्रदेशिकस्कन्धद्रव्यवत्। **अथामूर्ताः, अग्रहणं** तेषाम् अमूर्तत्वात् आकाशवत्। ततो द्रव्य-गुणयोः कथंचिद् भेदाभेदावभ्युपगमनीयौ अन्यथोक्तदोषप्रसक्तेः। तथाहि—द्रव्य-गुणयोः कथंचिद् भेदः यथाक्रममेकानेकप्रत्ययावसेयत्वात्, कथंचिदभेदोऽपि रूपाद्यात्मना द्रव्यस्वरूपस्य रूपादीनां च द्रव्यात्मकतया प्रतीतेः; अन्यथा तदभावापत्तेः ॥ २४ ॥

[प्रस्तुतप्रपञ्चस्य शिष्यबुद्धिवैशद्यमात्रप्रयोजनकत्वकथनम्]

ततः

सीसमईविप्फारणमेत्तत्थोऽयं कओ समुल्लावो।
इहरा कहामुहं चेव णत्थि एवं ससमयम्मि ॥ २५ ॥

शिष्यबुद्धिविकाशनमात्रार्थोऽयं कृतः प्रबन्धः; इतरथा कथैवैषा नास्ति स्वसिद्धान्ते 'किमेते गुणा गुणिनो भिन्नाः, आहोस्विद् अभिन्नाः' इति, अनेकान्तात्मकत्वात् सकलवस्तुनः ॥ २५ ॥

[वस्तुत्वे कथंचिद् भेदाभेदात्मके व्यवस्थितेऽपि तदन्यथावादिनां मिथ्यादृष्टित्वकथनम्]

एवंरूपे च वस्तुतत्त्वे अन्यथारूपं तत् प्रतिपादयन्तो मिथ्यावादिनो भवन्तीत्याह—

ण वि अत्थि अण्णवादो ण वि तव्वाओ जिणोवएसम्मि।
तं चेव य मण्णंता अवमण्णंता ण याणंति ॥ २६ ॥

नैवास्ति अन्यवादो गुण-गुणिनोः, **नाप्यनन्यवादो जिनोपदेशे** द्वादशाङ्गे प्रवचने -सर्वत्र-कथंचिदित्याश्रयणात्। तदेव अन्यदेवेति वा **मन्यमानाः** मननीयमेव **अवमन्यमाना** वादिनोऽभ्युपगतविषयावज्ञाविधायित्वाद् **अज्ञा भवन्ति** अभ्युपगमनीयवस्त्वस्तित्वप्रतिपादकोपायनिमित्तापरिज्ञानाद् शून्यवादिवदिति तात्पर्यार्थः। ततोऽनेकान्तवाद एव व्यवस्थितः ॥ २६ ॥

[अनेकान्तस्य व्यापकतां प्रदर्शयितुमनेकान्तेऽप्यनेकान्ताभ्युपगमनम्]

ननु 'सर्वत्रानेकान्तः' इति नियमे अनेकान्तेऽप्यनेकान्ताद् एकान्तप्रसक्तिः। अथ नानेकान्ते अनेकान्तवादस्तर्हि अव्यापकोऽनेकान्तवाद इत्यत्राह—

भयणा वि हु भइयव्वा जह भयणा भयइ सव्वदव्वाइं।
एवं भयणा णियमो वि होइ समयाविरोहेण ॥ २७ ॥

यथा भजना अनेकान्तो **भजते सर्ववस्तूनि** तदतत्स्वभावतया ज्ञापयति तथा भजनाऽनेकान्तोऽपि **भजनीयः**—अनेकान्तोऽप्यनेकान्त इत्यर्थः—नय-प्रमाणापेक्षया 'एकान्त-

श्चाऽनेकान्तश्च' इत्येवं ज्ञापनीयः । एवं च भजनाऽनेकान्तः संभवति, नियमश्च एकान्तश्च सिद्धान्तस्य "रयणप्पभा सिआ सासया सियाऽसासया" [जीवाजीवाभि० प्रतिप० ३ उ० १ सू० ७८] इत्येवमनेकान्तप्रतिपादकस्य "दव्वट्ठयाए सासया, पज्जवट्ठयाए असासया" [ ] इत्येवं चैकान्ताभिधायकाविरोधेन ।

न चैवमव्यापकोऽनेकान्तवादः, 'स्यात्'पदसंसूचितानेकान्तगर्भस्यैकान्तस्य तत्त्वात् अनेकान्तस्यापि 'स्यात्'कारलाञ्छनैकान्तगर्भस्य अनेकान्तस्वभावत्वात् । न चानवस्था, अन्यनिरपेक्षस्वस्वरूपत एव तथात्वोपपत्तेः यद्वा स्वरूपत एवानेकान्तस्यैकान्तप्रतिषेधेनानेकान्तरूपत्वात् 'स्यादेकान्तः' 'स्यादनेकान्तः' इति कथं नानेकान्तेऽनेकान्तोऽपि । अनेकान्तात्मकवस्तुव्यवस्थापकस्य तद्व्यवस्थापकत्वं स्वयमनेकान्तात्मकत्वमन्तरेणाऽनेकान्तस्याऽनुपपन्नमिति न तत्राऽव्यापकत्वादिदोष इत्यसकृदावेदितमेव ॥ २७ ॥

[षड् जीवनिकायास्तदघाते च धर्म इत्यत्राप्यनेकान्तव्यवस्थापनम्]

नन्वनेकान्तस्य व्यापकत्वे 'षड् जीवनिकायाः' 'तदघाते वा धर्मः' इत्यत्राप्यनेकान्त एव स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—

णियमेण सद्दहंतो छक्काए भावओ न सद्दहइ ।
हंदी अपज्जवेसु वि सद्दहणा होइ अविभत्ता ॥ २८ ॥

नियमेनाऽवधारणेन 'षडेवैते जीवाः कायाश्च' इत्येवं **श्रद्दधानः षट्कायान् भावतः** परमार्थतो **न श्रद्धत्ते** जीवराश्यपेक्षया तेषामेकत्वात् कायानामपि पुद्गलतयैकत्वात् जीव-पुद्गलप्रदेशानां परस्पराविनिर्भागवृत्तित्वाच्च जीवप्रदेशानां स्याद् अजीवत्वम् प्रत्येकं प्राधान्यविवक्षया स्याद् अनिकायत्वम् सूत्रविहितन्यायेन प्रवृत्तस्याऽप्रमत्तस्य 'हिंसाऽप्यहिंसा' इति 'तद्धाते स्यादधर्मः' इति । न भावसम्यग्दृष्टिरसौ स्यात्, द्रव्यसम्यग्दृष्टिस्तु स्यात् 'भगवतैवमुक्तम्' इति जिनवचनरुचि-

---

१ "इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं सासया ? असासया ?
गोयमा ! सिय सासता सिय असासया ।
से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सिय सासया सिय असासया ?
गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासता, वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासता से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुचति-तं चेव जाव सिय असासता । एवं जाव अधेसत्तमा"—जीवाजीवाभि० पृ० ९८ प्र० पं० ११—१४ ।

२ "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नयसाधनः । अनेकान्तः प्रमाणात् ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्" ॥ —सनातन० प्र० गु० स्वयंभूस्तो० अर० श्लो० १८ ।

"अनेकान्ते तदभावादव्याप्तिरिति चेत्, न; तत्रापि तदुपपत्तेः । ६ । स्यादेतत् अनेकान्ते सा विधि-प्रतिषेधविकल्पना नास्ति । यदि स्याद् यदाऽनेकान्तो न भवति तदैकान्तदोषानुषङ्गो भवेत् अनवस्थाप्रसङ्गश्च । ततस्तत्रानेकान्तत्वमेव इति सा सप्तभङ्गी व्याप्तिमती न भवतीति, तन्न; किं कारणम् ? तत्रापि तदुपपत्तेः 'स्याद् एकान्तः' 'स्याद् अनेकान्तः' 'स्याद् उभयः' 'स्याद् अवक्तव्यः' 'स्याद् एकान्तश्च अवक्तव्यश्च' 'स्याद् अनेकान्तश्च अवक्तव्यश्च' 'स्याद् एकान्तश्च अनेकान्तश्च अवक्तव्यश्च' इति । तत् कथमिति चेत् ? उच्यते—प्रमाण-नयार्पणाभेदादेकान्तो द्विविधः—सम्यगेकान्तः मिथ्यैकान्त इति । अनेकान्तो द्विविधः सम्यगनेकान्तः मिथ्यानेकान्त इति । तत्र सम्यगेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षः प्रमाणप्ररूपितार्थैकदेशादेशः, एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्रणिधिर्मिथ्यैकान्तः । एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकान्तः, तदतत्स्वभाववस्तुशून्यं परिकल्पितानेकात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्यानेकान्तः । तत्र सम्यगेकान्तो नय उच्यते, सम्यगनेकान्तः प्रमाणम् । नयार्पणादेकान्तो भवत्येकनिश्चयप्रवणत्वात् । प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात् । यद् यदि अनेकान्तोऽनेकान्त एव स्यात् नैकान्तो भवेत् एकान्ताभावात् तत्समूहात्मकस्य तस्याप्यभावः स्यात् शाखाद्यभावे वृक्षाद्यभाववत् तदविनाभाविविशेषनिराकरणादात्मलोपे सर्वलोपः स्यात् । एवमुत्तरे च भङ्गा योजयितव्याः"—तत्त्वार्थराजवा० १-६-६ पृ० २५-२६ । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० २२३ द्वि० पं० १—१० ।

३ "अनेकान्ततो"-वृ० टि० । ४ "एकान्तोऽपीति"-वृ० टि० । ५ "वस्तु-" वृ० टि० । ६-कायित्व-वृ० ।

स्वभावत्वात् । ततोऽपर्यायेष्वपि न विद्यन्ते अर्चि-र्मुर्मुरादयो विवक्षितपर्याया येषु पुद्गलेषु तेष्वपि अविभक्तश्रद्धानं यत् तदपि भावत एव भवेत्–'अर्चिष्मानयं भावो भूतो भावी वा' इति । तत्राऽव्यापकोऽनेकान्तवादः ॥ २८ ॥

[गतिमत्यपि द्रव्ये अपेक्षाविशेषेण गत्यगती प्रदर्श्यानेकान्तस्य व्यापकत्वोपपादनम्]

नन्वनेकान्तस्य व्यापकत्वे 'गच्छति तिष्ठति' इत्यत्राऽप्यनेकान्तः स्यात्, तथाभ्युपगमे च तयोरभावप्रसक्तिरित्येतदेवाऽऽह–

गइपरिगयं गई चेव केइ णियमेण दवियमिच्छंति ।
तं पि य उड्ढगईयं तहा गई अन्नहा अगई ॥ २९ ॥

'गतिक्रियापरिणामवद् द्रव्यं गतिमदेव' इति केचिद् मन्यन्ते, तदपि गतिक्रियापरिणतं जीवद्रव्यं सर्वतो गमनाऽयोगाद् ऊर्ध्वादिप्रतिनियतदिग्गतिकं तैर्वादिभिरभ्युपगन्तव्यम्; एवं च तत् तथा प्रतिनियतदिग्गमनेनैव गतिमत्, अन्यथाऽपि गतिमत् स्यात् तदाऽभिप्रेतदेशप्राप्तिवद् अनभिप्रेतदेशप्राप्तिरपि तस्य भवेदित्यनुपलभ्यमानयुगपद्विरुद्धोभयदेशप्राप्तिप्रसक्तेरत्राप्यनेकान्तो नाऽव्यापकः । अभिप्रेतगतिरेव तत्राऽनभिप्रेताऽगतिरिति चेत्, न; अनभिप्रेतगत्यभावाभावे प्रतिनियतगतिभाव एव न भवेत् तत्सद्भावे वा तदवस्थोऽनेकान्तः ॥ २९ ॥

[दहनादावपेक्षाविशेषेणादहनत्वादिकं निरूप्यानेकान्तस्य व्यापकत्वसमर्थनम्]

स्यादेतत् 'दहनाद् दहनः, पवनात् पवनः' इत्यत्राप्यनेकान्ते दहनादावदहनादेर्विरुद्धरूपस्य संभवात् स्वरूपाभावः स्यादित्यत्राह–

गुणणिव्वत्तियसण्णा एवं दहणादओ वि दट्ठव्वा ।
जं तु जहा पडिसिद्धं दव्वमदव्वं तहा होइ ॥ ३० ॥

गुणेन दहनादिना निर्वर्तितोत्पादिता संज्ञाऽभिधानं येषां तेऽपि दहन–पवनादय एवमेवाऽनेकान्तात्मका द्रष्टव्याः । तथाहि–दाह्यपरिणामयोग्यं तृणादिकं दहतीति दहनः तदपरिणतिस्वभावं स्वात्माकाशाऽप्राप्त-वज्राऽण्वादिकं न दहतीति । तेन यद् द्रव्यं यथा दहनरूपतया प्रतिषिद्धं तद् अद्रव्यमदहनादिरूपम् तथा भजनाप्रकारेण स्याद् दहनः स्यान्नेति भवति ततो नाऽव्यापी अनेकान्तः ।

तथा, 'अदहनः' इत्यत्राप्यनेकान्तः । तथाहि-यद् उदकद्रव्यं यथा दहनरूपेण प्रतिषिद्धं-दहनो न भवतीति 'अदहनः' इति तदपि न सर्वथा अदहनद्रव्य भवति, पृथिव्यादेरदहनरूपाद् व्यावृत्तत्वात् अन्यथा दहनव्यतिरिक्तभूतैकत्वप्रसङ्ग इत्यनेकान्त एव अदहनव्यावृत्तस्य तद्व्यत्वात् ॥ ३० ॥

[सर्वस्यापि वस्तुनः प्रतिनियतस्वरूपान्यथानुपपत्त्या स्वरूपास्तित्व–पररूपनास्तित्वाभ्युपगमेनानेकान्तात्मकत्वप्रदर्शनम्]

नन्वेवं तदतद्व्यत्वाद् जीवद्रव्यमजीवद्रव्यम् अजीवद्रव्यं च जीवद्रव्यं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह–

कुंभो ण जीवदवियं जीवो वि ण होइ कुंभदवियं ति ।
तम्हा दो वि अदवियं अण्णोण्णविसेसिया होंति ॥ ३१ ॥

कुम्भो जीवद्रव्यं न भवतीति जीवोऽपि न भवति घटद्रव्यम् । तस्माद् द्वावपि अद्रव्यमन्योन्यविशेषितौ परस्पराभावात्मकौ ।

१-त्रयोऽपि-आ० हा० वि० विना । २-नस्य त-मु० । ३ "दहनद्रव्यत्वात् ततोऽनेकान्तो दहनादहनयो "–० ।

यतोऽयमभिप्रायः—जीवद्रव्यं कुम्भादेरजीवद्रव्याद् व्यावृत्तम् अव्यावृत्तं वा? प्रथमपक्षे स्वरूपापेक्षया जीवो जीवद्रव्यम्, कुम्भाद्यजीवद्रव्यापेक्षया तु न जीवद्रव्यमित्युभयरूपत्वादनेकान्त एव। द्वितीयविकल्पे तु सर्वस्य सर्वात्मकतापत्तेः प्रतिनियतरूपाभावतस्तयोरभावः खरविषाणवत्। ततः सर्वमनेकान्तात्मकम्-अन्यथा प्रतिनियतरूपताऽनुपपत्तेः—इति व्यवस्थितम् ॥ ३१ ॥

[उत्पादपर्यायस्य प्रयोग-विस्रसाजन्यत्वेन द्वैविध्यकथनम्]

अत्र प्रागुक्तम्—'प्रत्युत्पन्नं पर्यायं विगतभविष्यद्भ्यां यत् समानयति वचनं तत् प्रतीत्यवचनम्' इति, तत्र वचनादिकोऽपि पर्यायः, स चाऽप्रयत्नानन्तरीयको वचनविशेषलक्षणः घटादिकस्तु प्रयत्नानन्तरीयक इति केचित् संप्रतिपन्नास्तन्निराकरणाय 'यद् यतोऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां प्रतीयते तत् तत एवाऽभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा कार्यकारणभावाभावप्रसक्तिः' इत्याह—

उप्पाओ दुवियप्पो पओगजणिओ य वीससा चेव।
तत्थ उ पओगजणिओ समुदयवायो अपरिसुद्धो ॥ ३२ ॥

द्विभेद उत्पादः—पुरुषेतरकारकव्यापारजन्यतया अध्यक्षाऽनुमानाभ्यां तथा तस्य प्रतीतेः। पुरुषव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेऽपि शब्दविशेषस्य तदजन्यत्वे घटादेरपि तदजन्यताप्रसक्तेर्विशेषाभावात् प्रत्यभिज्ञानादेश्च विशेषस्य प्रागेव निरस्तत्वात् **तत्र प्रयोगेण यो जनित** उत्पादः—मूर्तिमद्द्रव्यारब्धावयवकृतत्वात्—स **समुदायवादः**, तथाभूताऽऽरब्धस्य समुदायात्मकत्वात्। तत एवाऽसावपरिशुद्धः, सावयवात्मकस्य तच्छब्दवाच्यत्वेन अभिप्रेतत्वात् ॥ ३२ ॥

[विस्रसाजन्यस्याप्युत्पादस्य द्वैविध्यवर्णनम्]

विस्रसाजनितोऽप्युत्पादो द्विविध इत्याह—

साभाविओ वि समुदयकओ व्व एगंतिओ (एगत्तिओ) व्व होज्जाहि।
आगासाईआणं तिण्हं परपचओऽणियमा ॥ ३३ ॥

स्वाभाविकश्च द्विविध उत्पादः—एकः **समुदयकृतः** प्राक्प्रतिपादितावयवारब्धो घटादिवत्। अपरश्चैकत्विकोऽनुत्पादिताऽमूर्तिमद्व्यावयवारब्ध आकाशादिवत्। **आकाशादीनां च त्रयाणां** द्रव्याणामवगाहकादिघटादि**परद्रव्यनिमित्तो**ऽवगाहनादिक्रियोत्पादो**ऽनियमाद्** अनेकान्ताद् भवेत्—अवगाहक-गन्तृ-स्थातृद्रव्यसन्निधानतोऽम्बर-धर्मा-ऽधर्मेष्ववगाहन-गति-स्थितिक्रियोत्पत्तिनिमित्तभावोत्पत्तिरित्यभिप्रायः।

[आकाशादिद्रव्यत्रयस्य कथंचित् सावयवत्वसाधनम् सामयिकीनामाकाशादिसंज्ञानामुपपादनं च]

नन्वनारब्धाऽमूर्तिमद्द्रव्यावयवत्वे गगनादीनां निरवयवत्वप्रसक्तेरनेकान्तात्मकत्वव्याघातः, न; मूर्तिमद्द्रव्याऽनारब्धानामपि तेषां सावयवत्वात्। न च सावयवत्वमसिद्धम् प्रदेशव्यवहारस्याऽऽकाशे दर्शनात्। न च 'आकाशस्य प्रदेशाः' इति व्यवहारो मिथ्या, मिथ्यात्वनिमित्ताभावात्। न च संयोगस्याऽव्याप्यवृत्तित्वनिमित्तः सावयवत्वाध्यारोपो मिथ्यात्वकारणम् निरवयवेऽव्याप्यवृत्तिसंयोगाधारत्वस्याऽध्यारोपनिमित्तस्यैवाऽनुपपत्तेः। यदि च सावयवं नभो न भवेत् तदा श्रोत्राकाशसमवेतस्येव शब्दस्य ब्रह्मभाषितस्याऽप्युपलम्भोऽस्मदादि(दि)भिर्भवेत् निरवयवैकाकाशश्रोत्रसमवेतत्वात्। अथ धर्माधर्माभिसंस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धाकाशदेश एव श्रोत्रं तत्र च ब्रह्मभाषितस्याऽसमवायान्नास्मदादिभिः श्रवणम्। नन्वेवं सैव सावयवत्वप्रसक्तिः श्रोत्राकाशप्रदेशाद् ब्रह्मशब्दाधाराकाशदेशस्यान्यत्वात्। यदि च सावयवमाकाशं न भवेत्, शब्दस्य नित्यत्वं सर्वगतत्वं च स्यात् आकाशैकगुणत्वात् तन्महत्त्ववत्। अथ क्षणिकैकदेशवृत्तिविशेषगुणत्वस्य शब्दे प्रमाणतः प्रसिद्धेर्नायं दोषः। नन्वेवमेकदेशवृत्तिविशेषगुणत्वाभ्युपगमे कथं न शब्दाधारस्याऽऽकाशस्य सावयवत्व-

१ पृ० ६२८ गा० ३। २ प्र० पृ० गा० ३२। ३-शप्रदेश-भा० मां०। ४ प्रस्तुतचर्चागत क्वचित् क्वचिदंशः प्रायेण शब्दशः प्रमेयकमलमार्तण्डे वर्तते-पृ० १६८ प्र० पं० १०—। ५-त. सि-गां० मा०।

प्रसिद्धिः ? न हि निरवयवत्वे 'तस्यैकदेशे एव शब्दो वर्तते न सर्वत्र' इति व्यपदेशः संगच्छते । न च संयोगस्याऽव्याप्यवृत्तित्वनिबन्धनोऽयम् यत आकाशं व्याप्य संयोगो न वर्तते इति तदेकदेशे वर्तते इत्यभ्युपगमप्रसक्तिः व्याप्यवृत्तित्वं हि सामस्त्यवृत्तित्वम्, तत्प्रतिषेधश्च पर्युदासपक्षे एकदेशवृत्तित्वमेव, प्रसज्यपक्षे तु वृत्तिप्रतिषेध एव; न चासौ युक्तः संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् तदभावे च तदभावात् । न च निरवयवत्वे आकाशस्य संतानवृत्त्या आगतस्य शब्दस्य श्रोत्रेणाप्युपलब्धिः संभवति अन्यान्याकाशदेशोत्पत्तिद्वारेण तस्य श्रोत्रसमवेतत्वानुपपत्तेः । जलतरङ्गन्यायेनापरापराकाशदेशादापरापरशब्दोत्पत्तिप्रकल्पनायां कथं नाकाशस्य सावयवत्वम् ?

किञ्च, आकाशं शब्दोत्पत्तौ समवायिकारणमभ्युपगम्यते, यच्च समवायिकारणं तत् सावयवम्, यथा तन्त्वादि, समवायिकारणं च परेण शब्दोत्पत्तावाकाशमभ्युपगतम् । न च परमाण्वाऽऽत्मादिना व्यभिचारः तस्यापि सावयवत्वात्; अन्यथा द्व्यणुक-बुद्ध्यादेस्तत्कार्यस्य सावयवत्वं न स्यात् । न च बुद्ध्यादेः सावयवत्वमसिद्धम् आत्मनः सावयवत्वेन साधितत्वात् तद्विशेषगुणत्वेन बुद्ध्यादेः कथंचित् तादात्म्यसिद्धितः सावयवत्वोपपत्तेः । न च यत एव प्रमाणादणवः सिद्धास्तेषां निरवयवत्वमपि तत एव सिद्धमिति तद्ग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् सावयवत्वानुमानस्याऽप्रामाण्यम् प्रमाणतः परमाणूनामसिद्धावाश्रयासिद्धितः सावयवत्वानुमानस्याऽप्रवृत्तिरिति वाच्यम्, यतः सावयवकार्यस्य सावयवकारणपूर्वकत्वे साध्ये न पूर्वोक्तदोषावकाशः । न च कार्यकारणयोरात्यन्तिको भेदः, समवायनिषेधे हि हिमवद्–विन्ध्ययोरिव भेदे विशिष्टकार्यकारणरूपतानुपपत्तेः । ततो द्व्यणुकादेः परमाणुकार्यस्य सावयवत्वात् तदात्मभूताः परमाणवः कथं न सावयवाः इति न परमाण्वादिभिर्व्यभिचारः । अपि च, सावयवमाकाशं तद्विनाशान्यथानुपपत्तेः । न चाऽऽकाशस्य विनाशित्वमसिद्धम् । तथाहि–अनित्यमाकाशम्, तद्विशेषगुणाभिमतशब्दविनाशान्यथानुपपत्तेः । यतो न तावदाश्रयविनाशाच्छब्दविनाशोऽभ्युपगतस्तन्नित्यत्वाभ्युपगमविरोधात्; न विरोधिगुणप्रादुर्भावात्, तन्महत्त्वादेरेकार्थसमवायित्वेन रूप-रसयोरिव विरोधिताऽसिद्धेः । विरोधित्वे वा श्रवणसमयेऽपि तदभावप्रसङ्गः तदाऽपि तन्महत्त्वस्य सद्भावात् । नापि संयोगादिर्विरोधिगुणः तस्य तत्कारणत्वात् । नापि संस्कारः तस्य गुणत्वेन शब्देऽसंभवात् संभवे वा शब्दस्य द्रव्यत्वप्रसक्तिः । आकाशस्य द्रव्यत्वेन तत्संभवेऽपि तस्याभावे आकाशस्याऽप्यभावप्रसक्तिः तस्य तदव्यतिरेकात् । व्यतिरेके वा 'तस्य' इति संबन्धाऽयोगात् । नापि शब्दोपलब्धिप्रापकधर्माद्यभावात् तदभावः तस्य विभिन्नाश्रयस्थानेन विनाशयितुमशक्यत्वात् । शक्यत्वे वा तदाधारस्यापि विनाशप्रसङ्गः तस्य तदव्यतिरेकात् । ततोऽम्बरविशेषगुणत्वे शब्दस्य तद्विनाशान्यथानुपपत्त्या तस्यापि विनाशित्वम्, ततोऽपि सावयवत्वम् । न च बुद्ध्यादिभिर्व्यभिचारः उक्तोत्तरत्वात् । किंच, आश्रितविनाशे आश्रयत्वस्यापि विनाशः आश्रितत्वनिबन्धनत्वात् तस्य धर्मस्य च धर्मिणः कथंचिदव्यतिरेकात् तथाऽऽकाशस्य विनाशित्वात् सावयवत्वं घटादेरिवोपपन्नम् । किंच, सावयवमाकाशम्, हिमवद्–विन्ध्यावरुद्धविभिन्नदेशत्वात्, तदवरुद्धदेशभूभागवत्; अन्यथा तयो रूप-रसयोरिवैकदेशाकाशस्थितिप्रसक्तिः, न चैतद् दृष्टमिति सर्वं वस्तूत्पाद-विनाश-स्थित्यात्मकत्वात् कथंचित् सावयवं सिद्धम् । ततः प्रयोग-विस्रसात्मकमूर्तिमद्द्रव्यानारब्धत्वेनाऽऽकाशादेरुत्पाद ऐकत्विकोऽभिधीयते; न पुनर्निरवयवकृतत्वादैकत्विकः । अयमपि स्यादैकत्विकः स्यादनैकत्विकः; न त्वैकत्विक एव । एवं मूर्तिमदमूर्तिमदवयवद्रव्यद्वयोत्पाद्याऽवगाह-गति-स्थितीनां यथोक्तप्रकारेण तत्रोत्पत्तेः अवगाह–गति-स्थितिस्वभावस्य च विशिष्टकार्यत्वाद् विशिष्टकारणपूर्वकत्वसिद्धेस्तत्कारणे आकाशादिसंज्ञाः समयनिबन्धनाः सिद्धाः ॥ ३३ ॥

[उत्पादवद् विगमस्यापि द्वैविध्यवर्णनम्]

उत्पादवद् विगमोऽपि तथाविध एवेत्याह–

विगमस्स वि एस विही समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो ।
समुदयविभागमेत्तं अत्थंतरभावगमणं च ॥ ३४ ॥

---

१ पृ० १४९ पं० १९–। २ प्रमेयक० पृ० १६८ प्र० पं० १३। ३ प्र० पृ० पं० ११। ४ प्रमेयक० १६८ प्र० पं० १२–।

विगमस्याप्येष एव द्विरूपो भेदः—स्वाभाविकः प्रयोगजनितश्चेति तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुनोऽभावात् पूर्वावस्थाविगमव्यतिरेकेणोत्तरावस्थोत्पत्त्यनुपपत्तेः न हि बीजादीनामविनाशेऽङ्कुरादिकार्यप्रादुर्भावो दृष्टः । न चाऽवगाह-गति-स्थित्याधारत्वं तदनाधारत्वस्वभावप्राक्तनावस्थाध्वंसमन्तरेण संभवति तत्र **समुदयजनिते** यो विनाशः स उभयत्रापि **द्विविधः**-एकः **समुदयविभागमात्र**प्रकारो विनाशः यथा पटादेः कार्यस्य तत्कारणपृथक्करणे तन्तुविभागमात्रम्, द्वितीयप्रकार-**स्त्वर्थान्तरभावगमनं** विनाशः यथा मृत्पिण्डस्य घटार्थान्तरभावेनोत्पादो विनाशः । न चार्थान्तररूपविनाशविनाशे मृत्पिण्डप्रादुर्भावप्रसक्तिरिति वक्तव्यम्, पूर्वोत्तरकालावस्थयोरसंकीर्णत्वात्—अतीततरत्वेन प्राक्तनावस्थाया उत्पत्तेः अतीतस्य च वर्तमानताऽयोगात्—तयोः स्वस्वभावापरित्यागतस्तथानियतत्वात् तुच्छरूपस्य ह्यभावस्याऽभावः स्यादपि तदभावरूपः, न तु वस्त्वन्तरादुपजायमानं वस्त्वन्तरमतीततरावस्थारूपं भवितुमर्हति तर-तमप्रत्ययार्थव्यवहाराभावप्रसक्तेः । प्रतिपादितं च कस्यचिद् रूपस्य निवृत्त्या रूपान्तरगमनं वस्तुनः प्रागिति न पुनरभिधीयते ॥ ३४ ॥

[उत्पाद-विनाश-ध्रौव्याणां भिन्नाभिन्नकालत्वस्यार्थान्तरानर्थान्तरत्वस्य चाभिधानम्]

न चोत्पाद-विनाशयोरैकान्तिकतद्रूपताऽभ्युपगमे अनेकान्तवादव्याघातः, कथंचित् तयोस्तद्रूपताऽभ्युपगमात् । तदाह—

तिण्णि वि उप्पायाई अभिण्णकाला य भिण्णकाला य ।
अत्थंतरं अणत्थंतरं च दवियाहि णायव्वा ॥ ३५ ॥

त्रयोऽप्युत्पाद-विगम-स्थितिस्वभावाः परस्परतोऽन्य**काला**ः यतो न पटादेरुत्पादसमय एव विनाशः तस्यानुत्पत्तिप्रसक्तेः । नाऽपि तद्विनाशसमये तस्यैवोत्पत्तिः अविनाशापत्तेः । न च तत्प्रादुर्भावसमय एव तत्स्थितिः तद्रूपेणैवावस्थितस्यागवस्थाप्रसक्तितः प्रादुर्भावाऽयोगात् । न च घटरूपमृत्स्थितिकाले तस्या विनाशः तद्रूपेणावस्थितस्य विनाशानुपपत्तेः । न च घटविनाशविशिष्टमृत्काले तस्या एवोत्पादो दृष्टः । नाऽपि तदुत्पादविशिष्टमृत्समये तस्या एव ध्वंसोऽनुत्पत्तिप्रसङ्गत एव युक्तः । ततस्त्रयाणामपि भिन्नकालत्वात् तद् द्रव्यमर्थान्तरं नानास्वभावम् न ह्यन्योन्यव्यतिरिक्तकालोत्पाद-विगम-ध्रौव्याऽव्यतिरिक्तमेकस्वरूपं द्रव्यमुपपद्यते तस्य तेभ्यो भेदप्रसक्तेः । न च तद् भिन्नमेवास्तु तन्त्रितयविकलस्य तस्य तथाऽनुपलब्धितोऽसत्त्वात् । न चैकस्य द्रव्यस्याभावादनेकान्ताभावप्रसक्तिः यतोऽ**भिन्नकाला**श्चोत्पादादयः । नहि कुशूलविनाशघटोत्पादयोर्भिन्नकालता; अन्यथा विनाशात् कार्योत्पत्तिः स्यात् घटाद्युत्तरपर्यायानुत्पत्तावपि प्राक्तनपर्यायध्वंसप्रसक्तिश्च स्यात् । पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पादक्रियाया निराधाराया अयोगात् तदाधारभूतद्रव्यस्थितिरपि तदाऽभ्युपगन्तव्या । न च क्रियाफलमेव क्रियाधारः तस्य प्रागसत्त्वात्; सत्त्वे वा क्रियावैफल्यात् । ततस्त्रयाणामभिन्नकालत्वात् तदव्यतिरिक्तं द्रव्यमभिन्नं न नाना । न च घटोत्पाद-विनाशापेक्षया भिन्नकालतयाऽर्थान्तरत्वम् कुसूल-घटविनाशोत्पादापेक्षया अभिन्नकालत्वेनानर्थान्तरत्वादेकान्त इति वक्तव्यम्, द्रव्यस्य पूर्वावस्थायां भिन्नाऽभिन्नतया प्रतीयमानस्योत्तरावस्थायामपि भिन्नाऽभिन्नतया तस्यैव प्रतीतेरनेकान्ताऽव्याहतेः । न चाऽबाधिताऽध्यक्षादिप्रतिपत्तिविषयस्य तस्य विरोधाद्युद्भावनं युक्तिसंगतम् सर्वप्रमाण—प्रमेयव्यवहारविलोपप्रसङ्गात् । अत एव **अर्थान्तरमनर्थान्तरं** **चोत्पादादयो द्रव्यात्**, तद्वा तेभ्यस्तथेति प्रतिक्षेयम् **द्रव्यात्** तथाभूततद्ग्राहकत्वपरिणतादात्मलक्षणात् प्रमाणादित्यपि व्याख्येयम् नहि तथाभूतप्रमाणप्रवृत्तिस्तथाभूतार्थमन्तरेणोपपन्ना धूम इव धूमध्वजमन्तरेण, संवेद्यते च तथाभूतग्राह्य-ग्राहकरूपतया अनेकान्तात्मकं स्वसंवेदनतः प्रमाणमिति न तदपलापः कर्तुं शक्यः; अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ।

---

१ "तुच्छस्य हि अभावस्वभावे मृत्पिण्डोत्पादो भवेत्, न तु"—बृ० टि० । २ "मृत्पिण्डरूपम्"—बृ० टि० । ३ "यस्मिन्नेव समये उत्पादस्तस्मिन्नेव यदा विनाशस्तस्य तदा कथु(कथमु)-त्पत्तिः?"—बृ० टि० । ४-नाशोत्पत्तेः मू० विना । ५ "मृदः"—बृ० टि० । ६ न चैक(चैव)मेकस्य मू० । ७ "घटादि"—बृ० टि० ।

यद्वा देशादिविप्रकृष्टा उत्पत्ति-विनाश-स्थितिस्वभावा भिन्नाभिन्नकाला अर्थान्तरानर्थान्तररूपाः, द्रव्यत्वात्-द्रव्याव्यतिरिक्तत्वादित्यर्थः—अन्यथोत्पादादीनामभावप्रसक्तेः । तेभ्यो वा द्रव्यमर्थान्तरानर्थान्तरम्, द्रव्यत्वात् । प्रतिज्ञार्थैकदेशता च हेतोर्नाशङ्कनीया द्रव्यविशेषे साध्ये द्रव्यसामान्यस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् ॥ ३५ ॥

[उक्तस्यार्थस्य प्रत्यक्षसिद्धेनोदाहरणेनोपोद्बलनम्]

अत्रैवार्थे प्रत्यक्षप्रतीतमुदाहरणमाह—

जो आउंचणकालो सो चेव पसारियस्स वि ण जुत्तो ।
तेसिं पुण पडिवत्ती–विगमे कालंतरं णत्थि ॥ ३६ ॥

य आकुञ्चनकालोऽङ्गुल्यादेर्द्रव्यस्य स एव तत्प्रसारणस्य न युक्तः भिन्नकालतया आकुञ्चन-प्रसारणयोः प्रतीतेस्तयोर्भेदः, अन्यथा तयोः स्वरूपाभावापत्तेरित्युक्तम् तत्तत्पर्यायाभिन्नस्याङ्गुल्यादिद्रव्यस्यापि तथाविधत्वात् तदपि भिन्नमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा तदनुपलम्भात् अभिन्नं च तदवस्थयोस्तस्यैव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । **तयोः पुन**रुत्पाद-विनाशयोः—प्रतिपत्तिश्च प्रादुर्भावः, विगमश्च विपत्तिः—**प्रतिपत्ति–विगमं** तत्र **कालान्तरं** भिन्नकालत्वमङ्गुलिद्रव्यस्य च **नास्ति** । पूर्वपर्यायविनाशोत्तरपर्यायोत्पत्त्यङ्गुलिद्रव्यावस्थितीनामभिन्नकालता अभिन्नरूपता च प्रतीयते एकस्यैव द्रव्यस्य तथाविवर्तात्मकस्याध्यक्षतः प्रतीतेः ।

अथवा '**कालान्तरं नास्ति**' इत्यत्र 'अ'कारप्रश्लेषाद् नञश्चोपादानात् प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतेः कालान्तरं कालभेद उत्पादादेर्द्रव्यस्य चास्तीति कथंचिद् भेद इत्यर्थः—कथंचिद् भेदेनाऽपि प्रतिपत्तेः । तेनोत्पत्ति-विनाश-स्थितीनां परस्परस्वरूपपरित्यागाऽपरित्यागप्रवृत्तप्रत्येकत्र्यात्मकैकरूपत्वेऽपि न वर्तमानपर्यायात्मकस्यैवाऽतीताऽनागतकालयोः सत्त्वम् वस्तुनस्त्र्यात्मकत्वाभ्युपगमात् । अतीताऽनागतकालयोरपि तद्रूपेण सत्त्वे उत्पादविनाशयोरभावेन कथं त्र्यात्मकत्वं तस्य भवेत् द्रव्यस्योत्पत्ति-विनाशनिमित्तत्वादतीतादितायाः अन्यथा वर्तमानवत् तदभावात्? न च तत्पर्यायस्याऽतीताऽनागतकालयोरभावे कथं नित्यत्वमिति वाच्यम्, कथंचित् तस्याभ्युपगमात् परित्यक्तोपादित्स्यमानपूर्वोत्तरपर्यायस्यान्यान्यवेषपरित्यागोपादानैकनटपुरुषवद् द्रव्यस्य विवर्तात्मकत्वात् । सर्वथा नित्यत्वे पूर्वोत्तरव्यपदेशाभावप्रसक्तेः । सर्वथाऽनित्यत्वेऽप्युभयत्रैकप्रतिभासव्यपदेशादिव्यवहाराभावश्च स्यात् । न चैकानेकत्वप्रतिभासो मिथ्या । ततो यदेव विनष्टं शिवकरूपतया तदेवोत्पन्नं मृद्रव्यं घटादिरूपतया अवस्थितं च मृत्त्वेनेति त्र्यात्मकं तत् सर्वदा द्रव्यमिति व्यवस्थितम् ॥ ३६ ॥

---

१ अर्थानुसारेण-गमेऽकालंतरं इत्यपि पाठः । २-रूपपरित्यागप्रवृ-वा० बा० आ० ।

३ "न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् । व्येत्युदेति विशेषात् ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥
कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक् । न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥
घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् । शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम्" ॥
—आप्तमी० श्लो० ५७—६० ।

अनयोः अष्टशती अष्टसहस्री च विलोकनीया । शास्त्रवा० स्त० ७ श्लो० १-३ । तथा,
"तथाहुर्मुकुटोत्पादो न घटानाशधर्मकः । स्वर्णाच्च चान्य एवेति न विरुद्धं मिथस्त्रयम् ॥
न चोत्पाद-व्ययौ न स्तो ध्रौव्यवत् तद्धिया गतेः । नास्तित्वे तु तयोर्ध्रौव्यं तत्त्वतोऽस्तीति न प्रमा ॥
न नास्ति ध्रौव्यमप्येवमविगानेन तद्गतेः । अस्याश्च भ्रान्ततायां न जगत्यभ्रान्ततागतिः ॥
उत्पादोऽभूतभवनं स्वहेत्वन्तरधर्मकम् । तथाप्रतीतियोगेन विनाशस्तद्विपर्ययः ॥
तथैतदुभयाधारस्वभावं ध्रौव्यमित्यपि । अन्यथा त्रितयाभाव एकदैकत्र किं न तत् ॥
एकत्रैवैकदैवैतदित्थं त्रयमपि स्थितम् । न्याय्यं भिन्ननिमित्तत्वात् तदभेदे न युज्यते" ॥
—शास्त्रवा० स्त० ७ श्लो० ९-१४ ।

जैनवत् सांख्य-मीमांसकाभ्यामपि वस्तुनस्त्र्यात्मकता स्वीक्रियते—पातञ्जलद० पा० ३ सू० १३—। श्लो० वा० वनवा० श्लो० २०-२१ ।

स्याद्वादं परीक्षमाणेन शान्तरक्षितेन एषा त्र्यात्मकता विप्र(मीमांसक)-निर्ग्रन्थ(जैन)-कापिल(सांख्य)संमतत्वेन ... ० का० १७७६-७९ पृ० ५०१-५०२ ।

[उत्पादादित्रयं प्रत्येकं त्र्यात्मकवत् त्रैकालिकमप्यस्ति इति वदत एव यथार्थवक्तृत्वाभिधानम्]

यथोत्पाद-व्यय-स्थितीनां प्रत्येकमेकैकं रूपं त्र्यात्मकं तथा भूत-वर्तमान-भविष्यद्भिरप्येकैकं रूपं त्रिकालतामासादयतीत्येतदेवाह—

उप्पज्जमाणकालं उप्पण्णं ति विगयं विगच्छंतं ।
दवियं पण्णवयंतो तिकालविसयं विसेसेइ ॥ ३७ ॥

उत्पद्यमानसमये एव किञ्चित् पटद्रव्यं तावदु**त्पन्नम्**—यद्येकतन्तुप्रवेशक्रियासमये तद् द्रव्यं तेन रूपेण नोत्पन्नं तदुत्तरत्रापि तन्नोत्पन्नमित्यत्यन्तानुत्पत्तिप्रसक्तिस्तस्य स्यात्। न चोत्पन्नांशेन तेनैव पुनस्तदुत्पद्यते तावन्मात्रपटादिद्रव्योत्पत्तिप्रसक्तेरुत्तरोत्तरक्रियाक्षणस्य तावन्मात्रफलोत्पादने एव प्रक्षयाद् अपरस्य फलान्तरस्याऽनुत्पत्तिप्रसक्तेः । यदि च विद्यमाना एकतन्तुप्रवेशक्रिया न फलोत्पादिका, विनष्टा सुतरां न भवेत् असत्त्वात् अनुत्पत्त्यवस्थावत् न ह्यनुत्पन्नविनष्टयोरन्तरे[1] कश्चिद् विशेषः । ततः प्रथमक्रियाक्षणः केनचिद् रूपेण द्रव्यमुत्पादयति, द्वितीयस्त्वसौ तदेव अंशान्तरेणोत्पादयति अन्यथा क्रियाक्षणान्तरस्य[2] वैफल्यप्रसक्तेः । एकेनांशेनोत्पन्नं सद् उत्तरक्रियाक्षणफलांशेन यद्यपूर्वमपूर्वं तद् उत्पद्येत तदोत्पन्नं भवेद् नान्यथेति प्रथमतन्तुप्रवेशादारभ्यान्त्यतन्तुसंयोगावधि यावद् उत्पद्यमानं प्रबन्धेन तद्रूपतयोत्पन्नम्, अभिप्रेतनिष्ठारूपतया चोत्पत्स्यत इत्युत्पद्यमानम् उत्पन्नमुत्पत्स्यमानं च भवति, एवमुत्पन्नमपि उत्पद्यमानमुत्पत्स्यमानं च भवति, तथोत्पत्स्यमानमपि उत्पद्यमानमुत्पन्नं चेत्येकैकमुत्पन्नादिकालत्रयेण यथा त्रैकाल्यं प्रतिपद्यते तथा विगच्छदादिकालत्रयेणाप्युत्पादादिरेकैकः त्रैकाल्यं प्रतिपद्यते । तथाहि—यथा यद् यदैवोत्पद्यते तत् तदैवोत्पन्नम् उत्पत्स्यते च । यद् यदैवोत्पन्नं तत् तदेव उत्पद्यते उत्पत्स्यते च । यद् यदैवोत्पत्स्यते तत् तदैवोत्पद्यते उत्पन्नं च । तथा[3], तदेव तदैव यदुत्पद्यते तत् तदेव **विगतं विगच्छद्** विगमिष्यच्च । तथा, यदेव यदैवोत्पन्नं तदेव तदैव विगतं विगच्छद् विगमिष्यच्च । तथा, यदेव यदैवोत्पत्स्यते तदेव तदैव विगतं विगच्छद् विगमिष्यच्च । एवं विगमोऽपि त्रिकाल उत्पादादिना दर्शनीयः, तथा स्थित्याऽपि त्रिकाल एव सप्रपञ्चः प्रदर्शनीयः। एवं स्थितिरपि उत्पाद-विनाशाभ्यां सप्रपञ्चाभ्यामेकैकाभ्यां त्रिकाला प्रदर्शनीयेति **द्रव्य**मन्योन्यात्मकतथाभूतकालत्रयात्मकोत्पाद-विनाश-स्थित्यात्मकं **प्रज्ञापयंस्त्रिकालविषय**प्रादुर्भवद्धर्माधारतया तद् **विशिनष्टि**। अनेन प्रकारेण त्रिकालविषयं द्रव्यस्वरूपं प्रतिपादितं भवति, अन्यथा द्रव्यस्याभावात् तद्वचनस्य मिथ्यात्वप्रसक्तिरिति भावः ॥ ३७ ॥

१-प्रसक्तिरुत्तरो-भां० विना । २-णान्तरवै—मू० ।

३ "ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो । उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण" ॥ ८ ॥

—प्रवचनसा० पृ० ११६ ।

"एतेन कालत्रयापेक्षयाऽपि त्रिलक्षणमुपदर्शितम्, तस्य अन्वितेन रूपेण कालत्रयव्यापित्वात्, अन्यथा तस्य सर्वथैकान्ते सर्वथाऽर्थक्रियाविरोधात् कूटस्थैकान्तवत् । ततो द्रव्यपर्यायात्मकं जीवादि वस्तु क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियान्यथानुपपत्तेरिति प्रमाणोपपन्नम् । तथा च स्थितिरेव स्थास्यति उत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति सामर्थ्यात् स्थिता उत्पन्ना विनष्टेति गम्यते । विनाश एव स्थास्यति उत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थित उत्पन्नो विनष्ट इति च गम्यते । उत्पत्तिरेव उत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थास्यतीति न कुतश्चिद् उपरमति सोत्पन्ना विनष्टा स्थितेति गम्यते । स्थित्याद्याश्रयस्य वस्तुनो अनाद्यनन्तत्वाद् अनुपरतसिद्धे स्थित्यादिपर्यायाणां कालत्रयापेक्षिणामनुपरमसिद्धिः अन्यथा तस्यानाद्यनन्तत्वप्रसङ्गात् सत्त्वविरोधात् । एतेन जीवादि वस्तु तिष्ठति स्थितम् स्थास्यति, विनश्यति विनष्टम् विनङ्क्ष्यति, उत्पद्यते उत्पन्नम् उत्पत्स्यते चेति प्रदर्शितम् कथञ्चित् तदभिन्नस्थित्यादीनामन्यथा स्थास्यत्वादिव्यवस्थानुपपत्तेः।"—अष्टस० पृ० ११३ पं० २-१० ।

४ अत्र 'तथा यदेव यदुत्पद्यते तत् तदेव' इति पाठः सम्यग् भाति ।' "यदैवोत्पद्यमानं तदेव विगतं विगच्छद् विगमिष्यच्च"—नयोप० पृ० ४३ द्वि० पं० ८ । ५-मन्यान्यात्म—मू० भां० हा० वि० ।

[विभागजन्यमुत्पादमनिच्छतां केषांचिद् उत्पादार्थानभिज्ञत्वख्यापनम्]

नन्वर्थान्तरगमनलक्षणस्य विनाशस्यासंभवात् विभागजस्य चोत्पादस्य, तद्द्वयाभावे स्थितेरप्यभावात् तत् त्रैकाल्यं दूरोत्सारितमेवेति मन्यमानान् वादिनः प्रति तदभ्युपगमप्रदर्शनपूर्वकमाह—

दव्वंतरसंजोगाहि केचि दवियस्स बेंति उप्पायं ।
उप्पायत्थाऽकुसला विभागजायं ण इच्छंति ॥ ३८ ॥

समानजातीयद्रव्यान्तरादेव समवायिकारणात् तत्संयोगासमवायिकारण-निमित्तकारणादिसव्यपेक्षाद् अवयवि कार्यद्रव्यं भिन्नं कारणद्रव्येभ्य उत्पद्यत इति द्रव्यस्योत्पादं केचन ब्रुवते । ते चोत्पादार्थानभिज्ञा विभागजातं नेच्छन्ति ॥ ३८ ॥

[प्रतिवादिसंमतोत्पादप्रक्रियाकथनपूर्वकं सिद्धान्तसंमतस्य विभागजन्योत्पादस्य समर्थनम्]

कुतः पुनर्विभागजोत्पादानभ्युपगमवादिन उत्पादार्थानभिज्ञाः ? यतः—

अणु दुअणुएहिं दव्वे आरद्धे 'तिअणुयं' ति ववएसो ।
तत्तो य पुण विभत्तो अणु त्ति जाओ अणू होइ ॥ ३९ ॥

द्वाभ्यां परमाणुभ्यां कार्यद्रव्ये आरब्धे 'अणु' इति व्यपदेशः परमाणुद्वयारब्धस्य द्व्यणुकस्याणुपरिमाणत्वात् । त्रिभिर्द्व्यणुकैश्चतुर्भिर्वाऽऽरब्धे 'त्र्यणुकम्' इति व्यपदेशः; अन्यथोत्पत्तावुपलब्धिनिमित्तस्य महत्त्वस्याभावप्रसक्तेः ।

अत्र किल त्रिभिश्चतुर्भिर्वा प्रत्येकं परमाणुभिरारब्धमणुपरिमाणमेव कार्यमिति त्र्यादिपरमाणूनामारम्भकत्वे आरम्भवैयर्थ्यप्रसक्तिरिति द्वाभ्यां परमाणुभ्यां द्व्यणुकमारभ्यते । त्र्यणुकमपि न द्वाभ्यामणुभ्यामारभ्यते कारणविशेषपरिमाणतोऽनुपभोग्यत्वप्रसक्तेः यतो महत्त्वपरिमाणयुक्तं तद्

---

१ अणुअत्तएहिं आरद्धदव्वे तियणुय त्ति निद्देसो । तत्तो य पुण विभत्ते अणु त्ति जाओ अणू होइ ॥ गु० मु० मू० ।

व्याख्याकारकृतार्थानुसारेण 'दुअणुएहिं' इति पदं 'दोहिं अणुएहिं' 'बहुएहिं दुअणुएहिं' चेत्यर्थद्वयबोधकं श्लिष्टं प्रतिभाति । अतो मूलगाथाया अन्वयद्वयमेव विधातव्यम्—दु-अणुएहिं दव्वे आरद्धे अणु त्ति ववएसो अर्थात् द्वाभ्यां परमाणुभ्यां कार्यद्रव्ये आरब्धे 'अणु' इति व्यपदेशः । पुनश्च दुअणुएहिं दव्वे आरद्धे तिअणुय त्ति ववएसो अर्थात् द्व्यणुकैः—त्रिभिः द्व्यणुकैः चतुर्भिर्वा कार्यद्रव्ये आरब्धे 'त्र्यणुकम्' इति व्यपदेशः ।

२-एहिं आरद्धदव्वे ति- मु० मू० । ३ अणु होइ पृ० भां० मां० ।

४ "यदापि द्वे द्वे द्व्यणुके चतुरणुकमारभेते तदापि समानद्व्यणुकसमवायिनां शुक्लादीनामारम्भकत्वम् × × × × × यदापि बहवः परमाणवो बहूनि वा द्व्यणुकानि द्व्यणुकसहितो वा परमाणुः कार्यमारभते × × ×—२-२-११ ब्रह्मसू० शां० पृ० ५०५-५०६ ।

"द्व्यणुकैर्बहुभिरारभ्यते इत्यपि नियमः न द्वाभ्याम् तस्याणुपरिमाणोत्पत्तौ कारणसद्भावेनाणुत्वोपपत्तावारम्भवैयर्थ्यात् बहुषु त्वनियमः । कदाचित् त्रिभिरारभ्यते इति त्र्यणुकमित्युच्यते कदाचिच्चतुर्भिरारभ्यते कदाचित् पञ्चभिरिति यथेष्ट कल्पना"-प्रशस्त० क० पृ० ३२-पं० ६-९ ।

"तेभ्यस्तेषां परमाणूनां परस्परसंयोगः ततश्च द्वाभ्यां द्व्यणुकम् त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकमित्यनेन क्रमेण कार्यद्रव्यं घटादिकमुत्पद्यते इति"-प्रशस्त० क० पृ० १०८ पं० १५ ।

"द्व्यणुकस्य अणुपरिमाणं तु परमाणावणुत्वापेक्षया नोत्कृष्टम् त्रसरेणुपरिमाणं तु न सजातीयम् अतः परमाणौ द्व्यणुकपरिमाणस्य द्व्यणुके त्रित्वसंख्या च त्रसरेणुपरिमाणस्य असमवायिकारणमित्यर्थः"—कारिका० सिद्धान्तमु० का० १११-११२ पृ० ४२९—४३० ।

उपलब्धियोग्यं स्यात् तथा चोपभोग्यं कारणबहुत्वमहत्त्वप्रचयजन्यं च महत्त्वम् । न च द्वि-त्रिपरमाण्वारब्धे कार्ये महत्त्वम्, तत्र महत्परिमाणाभावात् तेषामणुपरिमाणत्वात्। प्रचयोऽप्यवयवाभावान्न संभवति तेषाम् । नापि द्वाभ्यामणुभ्याम् कारणबहुत्वाभावात् न प्रचयोऽपि प्रशिथिलावयवसंयोगाभावात् । उपलभ्यते च समानपरिमाणैस्त्रिभिः पिण्डैरारब्धे कार्ये महत्त्वम् न द्वाभ्यामिति महत्परिमाणाभ्यां ताभ्यामेवारब्धे महत्त्वम् न त्रिभिरल्पपरिमाणैरारब्ध इति समानसंख्या-तुला-परिमाणाभ्यां तन्तुपिण्डाभ्यामारब्धे पटादिकार्ये प्रशिथिलावयवतन्तुसंयोगकृतं महत्त्वमुपलभ्यते न तद् इतरत्रेति ।

नन्वेवं यदि कार्यारम्भस्तदा 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते द्वे बहूनि वा समानजातीयानि' इत्यभ्युपगमः परित्यज्यताम् यतो न परमाणु-द्व्यणुकादीनामपरित्यक्ताजनकावस्थानामनङ्गीकृतस्वकार्यजननस्वभावानां च द्व्यणुक-त्र्यणुकादिकार्यनिर्वर्तकत्वम्; अन्यथा प्रागपि तत्कार्यप्रसङ्गात् ।

अथ न तेषामजनकावस्थात्यागतो जनकस्वभावान्तरोत्पत्तौ कार्यजनकत्वं किन्तु पूर्वस्वभावव्यवस्थितानामेव संयोगलक्षणसहकारिशक्तिसद्भावात् तदा कार्यनिर्वर्तकत्वम् प्राक् तु तदभावान्न कार्योत्पत्तिः कारणानामविचलितस्वरूपत्वेऽपि न च संयोगेन तेषामनतिशयो व्यावर्त्यते अतिशयो वा कश्चिदुत्पाद्यते अभिन्नो भिन्नो वा संयोगस्यैवाऽतिशयत्वात् । न च कथमन्यः संयोगस्तेषामतिशय इति वाच्यम् अनन्यस्याप्यतिशयत्वायोगात् न हि स एव तस्यातिशय इत्युपलब्धम् तस्मात् तत्संयोगे सति कार्यमुपलभ्यते तदभावे तु नोपलभ्यत इति संयोग एव कार्योत्पादने तेषामतिशय इति न तदुत्पत्तौ तेषां स्वभावान्तरोत्पत्तिः संयोगातिशयस्य तेभ्यो भिन्नत्वादिति, असदेतत्; यतः कार्योत्पत्तौ तेषां संयोगोऽतिशयो भवतु संयोगोत्पत्तौ तु तेषां कोऽतिशय इति वाच्यम्, न तावत् स एव संयोगः तस्याद्याप्यनुत्पत्तेः, नापि संयोगान्तरम् तस्यानभ्युपगमात्; अभ्युपगमेऽपि तदुत्पत्तावप्यपरसंयोगातिशयप्रकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः । न च क्रिया अतिशयः तदुत्पत्तावपि पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् । किञ्च, अदृष्टापेक्षादात्माऽणुसंयोगात् परमाणुषु क्रियोत्पद्यत इत्यभ्युपगमादात्म-परमाणुसंयोगोत्पत्तावप्यपरोऽतिशयो वाच्यः तत्र च तदेव दूषणम् । किञ्चासौ संयोगो द्व्यणुकादिनिर्वर्तकः किं परमाण्वाद्याश्रितः उत तदन्याश्रितः, आहोस्विद् अनाश्रित इति ? यद्याद्यः पक्षस्तदा तदुत्पत्तावाश्रय उत्पद्यते नवेति ? यद्युत्पद्यते तदा परमाणूनामपि कार्यत्वप्रसक्तिस्तत्संयोगवत् । अथ नोत्पद्यते तदा संयोगस्तदाश्रितो न स्यात्, समवायस्याभावात्, तेषां च तं प्रत्यकारकत्वात् तदकारकत्वं तु तत्र तस्य प्रागभावानिवृत्तेस्तदन्यगुणान्तरवत् । ततस्तेषां कार्यरूपतया परिणतिरभ्युपगन्तव्या; अन्यथा तदाश्रितत्वं संयोगस्य न स्यात् । अन्याश्रितत्वेऽपि पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः । अनाश्रितत्वपक्षे तु निर्हेतुकोत्पत्तिप्रसक्तिः । अथ संयोगो नोत्पद्यत इत्यभ्युपगमस्तदा वक्तव्यम्-किमसौ सन्, उताऽसन् ? यदि संस्तदा तन्नित्यत्वप्रसक्तिः—"सदकारणवन्नित्यम्" [वैशेषिकद० ४-१-१] इति भवतोऽभ्युपगमात् तथा चासौ गुणो न भवेत्-नित्यत्वेनाऽनाश्रितत्वाद् अनाश्रितस्य च पारतन्त्र्यायोगाद् अपरतन्त्रस्य चाऽगुणत्वात् । अथाऽसन्निति पक्षस्तदा कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः तदभावे प्रागवद् विशिष्टपरिमाणोपेतकार्यद्रव्योत्पत्त्यभावात्, तथा च जगतोऽदृश्यताप्रसक्तिरिति संयोगैकत्वसंख्या-परिमाण-महत्त्व-परत्वाद्यनेकगुणानां तत्रोत्पत्तिरभ्युपेया कारणगुणपूर्वप्रक्रमेण कार्योत्पत्त्यभ्युपगमात् । इष्टमेवैतदिति चेत्, ननु तेषां क आश्रय इति वक्तव्यम्, न तावत् कार्यम् तदुत्पत्तेः प्राक् तस्याऽसत्त्वात्; सत्त्वे वोत्पत्तिविरोधात् न च प्रथमक्षणे निर्गुणमेव कार्यं गुणोत्पत्तेः प्रागस्तीति

---

१ न च प्र—भां० मा० ।

२ किंच असौ संयोगो द्व्यणुकादिनिर्वर्तकः किं परमाण्वाद्याश्रितः तदन्याश्रितः अनाश्रितो वा ? प्रथमपक्षे तदुत्पत्तावाश्रय उत्पद्यते नवा ? यद्युत्पद्यते तदाणूनामपि कार्यतानुपङ्गः । अथ नोत्पद्यते तर्हि संयोगस्तदाश्रितो न स्यात् समवायप्रतिषेधात् तेषां च तं प्रत्यकारकत्वात् । तदकारकत्वं चानतिशयत्वात् । अनतिशयानामपि कार्यजनकत्वे सर्वदा कार्यजनकत्वप्रसङ्गोऽविशेषात् । अतिशयान्तरकल्पने चानवस्था—तदुत्पत्तावप्यपरातिशयान्तरपरिकल्पनात् । ततस्तेषाममंयोगरूपतापरित्यागेन संयोगरूपतया परिणतिरभ्युपगन्तव्या इति सिद्धं तेषां कथंचिदनित्यत्वम् । अन्याश्रितत्वेऽपि पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः । अनाश्रितत्वे तु निर्हेतुकोत्पत्तिप्रसक्तेः सदा सत्त्वप्रसङ्गतः कार्यस्यापि सर्वदा भावानुपङ्गः"—प्रमेयक० पृ० १६० प्र० पं० ६-११ ।

३-पूर्वमते—पू० भा० हा० वि० ।

वक्तव्यम् गुणसंबन्धवत् सत्तासंबन्धस्याप्याद्यक्षणे अभावतस्तत्सत्त्वासंभवात् । न चोत्पत्ति-सत्तासंबन्धयोरेककालतयाऽऽद्यक्षण एव सत्त्वम् तदा रूपादिगुणसमवायाभावतोऽनुपलम्भे ततस्तत्सत्तासंबन्धव्यवस्थापनाऽसंभवात् । न हि 'सत्' इत्युपलम्भमन्तरेण तदा तस्य सत्तासंबन्धः सत्त्वं वा व्यवस्थापयितुं शक्यम् । न च महत्त्वादेर्गुणस्य द्रव्येण सहोत्पादे तद्द्रव्याधेयता तद्द्रव्यस्य वा तदाधारता अकारणस्याश्रयत्वायोगात् । न चैककालयोः कार्यकारणभावः सव्येतरगोविषाणयोरिव भवत्पक्षे युक्तः । तन्न कार्यं तदाश्रयः । अथाऽणवस्तदाश्रयस्तर्हि कार्यद्रव्यस्यापि त एवाश्रयः इत्येकाश्रयौ कार्य-गुणौ प्राप्तौ । तथाऽभ्युपगमेपि न तावद् युतसिद्धयोस्तयोः कुण्ड बदरवद् आश्रयाऽऽश्रयिभावः अकार्यकारणप्रसङ्गात् । नाऽयुतसिद्धयोः, अयुतसिद्ध्याऽऽश्रयाश्रयिभावविरोधात् । तथाहि–'अपृथक्सिद्धः' इत्यनेन भेदनिषेधः प्रतिपाद्यते समवायाभावे अन्यस्यार्थस्यात्रासंभवात्, 'आधाराधेयभावः' इत्यनेन चैकत्वनिषेधः क्रियते इति कथमनयोरेकत्र सद्भावः? अथ नात्राधाराधेयभावस्तर्हि तेषां सत्त्वम्, उत असत्त्वमिति वक्तव्यम् । यद्याद्यः पक्षस्तदा 'संयोगादिगुणात्मकाः परमाणव एव तथाभूतं कार्यम्' इति जैनपक्ष एव समाश्रितः स्यात् । द्वितीयपक्षे तु सर्वानुपलब्धिप्रसक्तिः ।

यदि च परमाणवः स्वरूपापरित्यागतः कार्यद्रव्यमारभन्ते स्वात्मनोऽव्यतिरिक्तं तदा कार्यद्रव्यानुत्पत्तिप्रसक्तिः । न हि कार्यद्रव्ये परमाणुस्वरूपापरित्यागे स्थूलत्वस्य सद्भावः तस्य तदभावात्मकत्वात् । तस्मात् परमाणुरूपतापरित्यागेन मृद्द्रव्यं स्थूलकार्यस्वरूपमासादयतीति तद्रूपतापरित्यागेन च पुनरपि परमाणुरूपतामनुभवतीति वलयवत् पुद्गलद्रव्यपरिणतेरादिरन्तो वा न विद्यते इति न कार्यद्रव्यं कारणेभ्यो भिन्नम् । न चार्थान्तरभावगमनं विनाशोऽयुक्त इति तद्रूपपरित्यागोपादानात्मकस्थितिस्वभावस्य द्रव्यस्य त्रैकाल्यं नानुपपन्नम् । यथा च एकसंख्या-संयोग-महत्त्वाऽपरत्वादिपर्यायैः परमाणूनामुत्पत्तेः कार्यरूपाः परमाणवस्तथा बहुत्वसंख्या-विभागाऽल्पपरिमाण-परत्वात्मकत्वेन प्रादुर्भावात् परमाणवः कार्यद्रव्यवत् तथोत्पन्नाश्चाभ्युपगन्तव्याः, कारणान्वय-व्यतिरेकानुविधानोपलम्भस्य कार्यताव्यवस्थानिबन्धनस्यात्रापि सद्भावादिति अयमर्थः **'तत्तो य'** इत्यादिना गाथापश्चार्धेन प्रदर्शितः । **तस्माद्** एकपरिमाणाद् द्रव्याद् **विभक्तः** विभागात्मकत्वेनोत्पन्नः **अणुरिति अणुर्जातो भवति** एतदवस्थायाः प्राक् तदसत्त्वात्; सत्त्वे वा इदानीमिव प्रागपि स्थूलरूपकार्याभावप्रसङ्गात् इदानीं वा तद्रूपता तद्रूपाविशेषात् प्राक्तनावस्थायामिव स्यात् । एवं चतुर्विधकार्यद्रव्याभ्युपगमोऽसंगतः । न च य एव कार्यद्रव्यारम्भकाः परमाणवस्त एव तद्द्रव्यविनाशोत्तरकालं स्वरूपेण व्यवस्थिताः कार्यद्रव्यप्रागभाव-प्रध्वंसाभावयोरेकत्वविरोधात् घटद्रव्यप्रागभाव-प्रध्वंसाभावमृत्पिण्ड-कपालवत् । न च प्रागभाव-प्रध्वंसाभावयोस्तुच्छरूपतया मृत्पिण्ड-कपालरूपत्वमसिद्धम् तुच्छरूपस्याभावस्य प्रमाणाजनकत्वेन तदविषयत्वतो व्यवस्थापयितुमशक्यत्वादिति प्रतिपादनात् । न च कपालसंयोगाद् घटद्रव्यमुपजायते तद्विभागाच्च विनश्यतीति मृत्पिण्डस्य घटद्रव्यं प्रति समवायिकारणत्वमयुक्तमिति वक्तव्यम् अध्यक्षत एव मृत्पिण्डोपादानत्वेन तस्य प्रतीतेः अत एव घटस्य कपालसमवायिकारणत्वानुमानमध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टम् । न चाल्पपरिमाणतन्तुप्रभवं महत्परिमाणं पटकार्यमुपलब्धमिति घटादिकमपि तदल्पपरिमाणानेककारणप्रभवं कल्पयितुं युक्तम् विपर्ययेणापि कल्पनायाः प्रवृत्तिप्रसङ्गात्, अध्यक्षबाधस्तु तदितरत्रापि समानः । किञ्च, परमाणूनां सर्वदैकं रूपमभ्युपगच्छन्नभावमेव तेषामभ्युपगच्छेत् अकारकत्वप्रसङ्गात्-तच्च प्रागभाव-प्रध्वंसाभावविकलत्वेनानाधेयातिशयत्वाद् वियत्कुसुमवत् । तदसत्त्वे च कार्यद्रव्यस्याप्यभावः अहेतोस्तस्यासत्त्वात् । तदभावे च परापरत्वादिप्रत्ययादेरयोगात् कालादेरप्यमूर्तद्रव्यस्याभाव इति सर्वाभावप्रसक्तिः ।

यदपि 'अर्थान्तरगमनलक्षणो विनाशोऽसंभवी परमाणुपर्यन्तत्वात् सर्वविनाशानाम्' इत्यभिधानम्, तदप्यसंगतम्; तथाभूतविनाशे प्रमाणाभावात् । तथाहि–न तावदध्यक्षं तत्प्रतिपादने

१–द्धा अभ्यु–भां० मां० । २ तद्धि–वा० बा० । ३ "तेषामापरमाण्वन्तो विनाशः" । "तेषां शरीरेन्द्रि-... । तावद् विनाशो यावत् परमाणुरिति"–प्रशस्त० कं० पृ० ५१ पं० १२–१३ ।

व्याप्रियते कपालपर्यन्तघटविनाशोपलम्भे तस्य व्यापारोपलब्धेः । नानुमानमपि, प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्र तस्याप्यप्रवृत्तेः—अध्यक्षपूर्वकत्वेन तस्य व्यावर्णनात् । आगमस्य चात्रार्थे अनुपयोगात् । परमाणुपर्यन्ते च विनाशे घटादिध्वंसे न किंचिदप्युपलभ्येत परमाणूनामदृश्यत्वेनाभ्युपगमात् । छिद्रघटेनापाकनिक्षिप्तेन वा तेनानेकान्त इति चेत्, न; सर्वस्य पक्षीकृतत्वात् अवयविनि च छिद्रस्योत्पन्नत्वात् तस्य च निरवयवत्वान्नावयवे तदुत्पत्तिः परमाणुषु तदसंभवात् । पाकान्यथानुपपत्त्या परमाणुपर्यन्तो विनाशः परिकल्प्यत इति चेत्, न; विशिष्टसामग्रीवशाद् विशिष्टवर्णस्य घटादेर्द्रव्यस्य कथंचिदविनाशेऽप्युत्पत्तिसंभवात् । परमाणुपर्यन्तविनाशाभ्युपगमे च तद्देशत्व-तत्संख्यात्व-तत्परिमाणत्वोपर्यवस्थापितकर्परौघपातप्रत्यक्षोपलभ्यत्वादीनि पच्यमाने घटे न स्युः । शूल्यग्रविद्धघटेनानेकान्तश्च परिहृत एव । न च कपालार्थी घटं भिन्द्यादापरमाण्वन्ते विनाशे । ततः प्रतीतिविरुद्धत्वान्नासावभ्युपगन्तव्य इति ॥ ३९ ॥

[प्रतिवादिमतमाक्षिप्य प्रतिवन्दीतया स्वेष्टस्य विभागजन्योत्पादस्य समर्थनम्]

प्रस्तुतमेवाक्षेपद्वारेणोपसंहरत्याचार्यः—

बहुयाण एगसद्दे जइ संजोगाहि होइ उप्पाओ ।
णणु एगविभागम्मि वि जुज्जइ बहुयाण उप्पाओ ॥ ४० ॥

द्व्यणुकादीनां सति **संयोगे यद्येक**स्य त्र्यणुकादेः कार्यद्रव्यस्योत्**पादो भवति**—अन्यथैकाभिधानप्रत्ययव्यवहारायोगात् नहि बहुषु 'एको घट उत्पन्नः' इत्यादिव्यवहारो युक्तः—'**ननु**' इत्यक्षमायाम् । एकस्य कार्यद्रव्यस्य **विनाशेऽपि युज्यत एव बहूनां** समानजातीयानां तत्कार्यद्रव्यविनाशात्मकानां प्रभूततया विभक्तात्मना**मुत्पाद** इति । तथाहि-घटविनाशाद् बहूनि कपालानि उत्पन्नानीत्यनेकाभिधानप्रत्ययव्यवहारो युक्तः; अन्यथा तदसंभवात् । ततः प्रत्येकं त्र्यात्मकास्त्रिकालाश्चोत्पादादयो व्यवस्थिता इत्यनन्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यम् ॥ ४० ॥

[एकस्मिन्नपि समये प्रत्येकं द्रव्यमनन्तपर्यायात्मकं प्रागुक्तरीत्या सिध्यति इत्यभिधानम्]

नन्वनन्ते काले भवत्वनन्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यम्, एकसमये तु कथं तत् तदात्मकमवसीयते? प्रदर्शितदिशा तदात्मकं तदवसीयत इत्याह—

एगसमयम्मि एगदवियस्स बहुया वि होंति उप्पाया ।
उप्पायसमा विगमा ठिईउ उस्सग्गओ णियमा ॥ ४१ ॥

एकस्मिन् समये एकद्रव्यस्य बहव उत्पादा भवन्ति, उत्पादसमानसंख्या **विगमा** अपि तस्यैव तदैवोत्पद्यन्ते विनाशमन्तरेणोत्पादस्यासंभवात् नहि पूर्वपर्यायाविनाशे उत्तरपर्यायः प्रादुर्भवितुमर्हति; प्रादुर्भावे वा सर्वस्य सर्वकार्यताप्रसक्तिः, तदकार्यत्वं वा कार्यान्तरस्येव स्यात् । **स्थितिरपि सामान्य**रूपतया तथैव **नियता** स्थितिरहितस्योत्पादस्याभावात् भावे वा शशशृङ्गादेरप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् ॥ ४१ ॥

[एकस्मिन् द्रव्ये एकसमयेऽनन्तधर्मात्मकत्वस्य दृष्टान्तेन साधनम्]

एतदेव दृष्टान्तद्वारेण समर्थयन्नाह—

काय-मण-वयण-किरिया-रूवाइ-गईविसेसओ वावि ।
संजोयभेयओ जाणणा य दवियस्स उप्पाओ ॥ ४२ ॥

यदैवानन्तानन्तप्रदेशिकाहारभावपरिणतपुद्गलोपयोगोपजातरस-रुधिरादिपरिणतवशान्निर्भूत-

---

१-राद्यापात-भां० मां० आ० । २-रस्य च स्या-भां० मां० आ० ।

शिरोऽङ्गुल्याद्यङ्गोपाङ्गभावपरिणतस्थूरसूक्ष्मसूक्ष्मतरादिभेदभिन्नावयवात्मकस्य कायस्योत्पत्तिस्तदैवानन्तानन्तपरमाणूपचितमनोवर्गणापरिणतिप्रतिलब्धमनउत्पादोऽपि, तदैव वचनस्यापि कायोत्कृष्टतरवर्गणोत्पत्तिप्रतिलब्धवृत्तिरुत्पादः, तदैव च कायाऽऽत्मनोरन्योन्यानुप्रवेशाद् विषमीकृताऽसंख्यातात्मप्रदेशो कायक्रियोत्पत्तिः, तदैव च रूपादीनामपि प्रतिक्षणोत्पत्तिविनश्वराणामुत्पत्तिः, तदैव च मिथ्यात्वाऽविरति-प्रमाद-कषायादिपरिणतिसमुत्पादितकर्मबन्धनिमित्ताऽऽगामिगतिविशेषाणामप्युत्पत्तिः, तदैव चोत्सृज्यमानोपादीयमानानन्तानन्तपरमाण्वापादिततत्प्रमाणसंयोग-विभागानामुत्पत्तिः।

यद्वा यदैव शरीरादेर्द्रव्यस्योत्पत्तिस्तदैव त्रैलोक्यान्तर्गतसमस्तद्रव्यैः सह साक्षात् पारंपर्येण वा संबन्धानामुत्पत्तिः सर्वद्रव्यव्याप्तिव्यवस्थिताकाश-धर्माधर्मादिद्रव्यसंबन्धात्, तदैव च भाविसपर्याय-परज्ञानविषयत्वादीनां चोत्पादनशक्तीनामप्युत्पादः शिरो-ग्रीवा-चञ्चु-नेत्र-पिच्छोदर-चरणाद्यनेकावयवान्तर्भावकमयूराण्डकरसशक्तीनामिव; अन्यथा तत्र तेषामुत्तरकालमप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। उत्पाद-विनाश-स्थित्यात्मकाश्च प्रतिक्षणं भावाः शीतोष्णसंपर्कादिवशादवान्तरसूक्ष्मतर-तमादिभेदेन तथैव स्व-परापेक्षया युगपत् क्रमेण चोपलब्धेः। न च तर-तमादिभेदेन नव-पुराणतया क्रमेणोपलब्धिः प्रतिक्षणं तथोत्पत्तिमन्तरेण संभवति। न चासदाद्यध्यक्षं निरवशेषधर्मात्मकवस्तुग्राहकं येनानन्तधर्माणामेकदा वस्तुन्यप्रतिपत्तेरभाव इत्युच्येत अनुमानतः प्रतिक्षणमनन्तधर्मात्मकस्य तस्य प्रदर्शितन्यायेन प्रतिपत्तेः। सकलत्रैलोक्यव्यावृत्तस्य च वस्तुनोऽध्यक्षेण ग्रहणे—तद्व्यावृत्तीनां पारमार्थिकतद्धर्मरूपतया अन्यथा तस्य तद्व्यावृत्तताऽयोगात्—कथं नानन्तधर्माणां वस्तुन्यध्यक्षेण ग्रहणम्? ॥ ४२ ॥

[आगमस्य हेतुवादाहेतुवादाभ्यां द्वैविध्येन विभजनम्]

इदानीं विदितनयत्वाद् विशिष्टप्रज्ञः शिष्यो विगृह्य कथनयोग्यः संपन्न इति तस्य विग्रहकथनोपदेशमाह—

दुविहो इत्यादि।

अथवा प्रत्यक्ष-परोक्षरूपः संक्षेपतो द्विविध उपयोग आत्मनः। तत्र प्रत्यक्षोपयोगस्त्रिविधः अवधि-मनःपर्याय-केवलभेदेन। तत्र केवलोपयोगः सकलविषयः प्राक् प्रतिपादितः। अवधि-मनःपर्यायोपयोगस्त्वसकलविषयोऽस्मदादिभिरागमगम्यः। परोक्षोपयोगस्तु मति-श्रुतरूपो द्विविधः। तत्राक्ष-लिङ्गप्रभवमत्युपयोगस्य स्वरूपमावेदितम्। श्रुतोपयोगस्य त्वाचार्यस्तद्धेतुभूतहेत्वहेतुवादभेदभिन्नागमप्रतिपादनद्वारेण स्वरूपमाह—

दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य।
तत्थ उ अहेउवाओ भवियाऽभवियादओ भावा ॥ ४३ ॥

वस्तुधर्माणामस्तित्वादीनामासमन्ताद् वादस्तत्प्रतिपादक आगमः अहेतु-हेतुवादभेदेन द्वैविध्यं प्रतिपद्यते। प्रमाणान्तरानवगतवस्तुप्रतिपादक आगमोऽहेतुवादः। तद्विपरीतस्त्वसौ हेतुवादः-हिनोति गमयत्यर्थमिति हेतुस्तत्परिच्छिन्नोऽर्थोऽपि हेतुः, तं वदति य आगमः स हेतुवादः। यस्तु वस्तुस्वरूपप्रतिपादकत्वेऽपि तद्विपरीतोऽसावहेतुवादो दृष्टिवादात् प्रायेणान्यः। तत्र त्वहेतुवादो भव्याभव्यस्वरूपप्रतिपादक आगमः तद्विभागप्रतिपादनेऽध्यक्षादेः प्रमाणान्तरस्याप्रवृत्तेः-नहि 'अयं भव्यः, अयं त्वभव्यः' इत्यत्रागममन्तरेण प्रमाणान्तरप्रवृत्तिसंभवोऽस्मदाद्यपेक्षया।

१-च च प-इ०। २-मानानन्तपर-वा० बा० मां० मां०। ३-व्यसं-भां० मां० विना। ४ पृ० ५३ । ५ गा० ३० द्वितीयकां० पृ० ६२०।

ननु 'तद्विभागप्रतिपादकं वचो यथार्थम् अर्हद्वचनत्वात् अनेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादकवचोवत्' इत्यनुमानात् तद्विभागप्रतिपत्तौ कथं न तस्यानुमानविषयता ? न, एवमप्यागमादेव तद्विभागप्रतिपत्तेः—तद्व्यतिरेकेण प्रमाणान्तरस्य तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनस्याभावात् । अर्हदागमस्य च प्रधानार्थसंवादनिबन्धनतत्प्रणीतत्वनिश्चयेऽनुमानतोऽतीन्द्रियार्थविषये प्रामाण्यं निश्चीयत इत्यभ्युपगम्यत एव । आगमनिरपेक्षस्य तु प्रमाणान्तरस्यासदादेस्तत्र प्रवृत्तिर्न विद्यत इत्येतावताऽहेतुवादत्वमेतद्विषयागमस्योच्यत इति ॥ ४३ ॥

[आगमोक्तस्य वस्तुनो हेतुद्वारा वास्तविकत्वसाधनमेव हेतुवादस्य लक्षणमिति सूचनम्]

वचनव्यापारं केवलमपेक्ष्यायं क्रमः । यदा तु ज्ञान-दर्शन-चारित्रत्रितये यथावदनुष्ठानप्रवणः तद्विकलश्च पुरुषः प्रतीयते तदा अनुमानगम्योऽपि तद्विभागो भवति, यथा-भव्यः अभव्यो वाऽयं पुरुषः, सम्यग्ज्ञानादिपरिपूर्णोऽपरिपूर्णत्वाभ्याम्, लोकप्रसिद्धभव्याऽभव्यपुरुषवत् । अहेतुवादागमावगते वा धर्मिणि भव्याऽभव्यस्वरूपे तद्वि(तदवि)परीतनिर्णयफलो हेतुवादः प्रवर्तते । योऽयमागमे भव्यादिरभिहितः स तथैव, यथोक्तहेतुसद्भावात् इत्याह—

भविओ सम्मद्दंसण–णाण–चरित्तपडिवत्तिसंपन्नो ।
णियमा दुक्खंतकडो त्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥ ४४ ॥

भव्योऽयम्, **सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रप्रतिपत्तिसं**पूर्णत्वात् उक्तपुरुषवत् । तत्परिपूर्णत्वादेव **नियमात् संसारदुःखान्तं** करिष्यति कर्मव्याधेरात्यन्तिकं विनाशमनुभविष्यति, तन्निबन्धनमिथ्यात्वादिप्रतिपक्षाभ्याससात्मीभावात्, व्याधिनिदानप्रतिकूलाचरणप्रवृत्ततथाविधातुरवत् । यः पुनर्न तत्प्रतिपक्षाभ्याससात्म्यवान् नासौ दुःखान्तकृद् भविष्यति तन्निदानानुष्ठानप्रवृत्ततथाविधातुरवत् **इति हेतुवादस्य लक्षणम्** । हेतुवादश्च प्रायो दृष्टिवादः तस्य द्रव्यानुयोगत्वात्, "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" [तत्त्वार्थसू० १-१] इत्यादेरनुमानादिगम्यस्यार्थस्य तत्र प्रतिपादनात् । यथा चात्रानुमानादिगम्यता तथा गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्विक्रान्तमिति नेह प्रदर्श्यते ग्रन्थविस्तरभयात् ॥ ४४ ॥

[जीवादितत्त्वं कथं प्रतिपादयन् सिद्धान्तस्य आराधकः कथं वा प्रतिपादयन् तस्य विराधक इत्यभिधानम्]

"जीवाऽजीवाऽऽश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्" [तत्त्वार्थसू० १-४] इत्युभयवादागमप्रतिपाद्यान् भावांस्तथैवाऽसंकीर्णरूपान् प्रतिपादयन् सैद्धान्तिकः पुरुषः इतरस्तु तद्विराधक इत्याह—

जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमे य आगमिओ ।
सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अन्नो ॥ ४५ ॥

यो हेतुवादागमविषयमर्थं हेतुवादागमेन, तद्विपरीता**गम**विषयं चार्थ**मागम**मात्रेण प्रदर्शयति वक्ता **स स्वसिद्धान्तस्य** द्वादशाङ्गस्य **प्रतिपादन**कुशलः, अन्यथा प्रतिपादयंश्च-तदर्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् तत्प्रतिपादके वचस्यनाश्वासादिदोषमुत्पादयन् **सिद्धान्तविराधको** भवति सर्वज्ञप्रणीतागमस्य निस्सारताप्रदर्शनात् तत्प्रत्यनीको भवतीति यावत् ।

तथाहि-पृथिव्यादेर्मनुष्यपर्यन्तस्य षड्विधजीवनिकायस्य जीवत्वमागमेन अनुमानादिना च प्रमाणेन सिद्धं तथैव प्रतिपादयन् स्वसमयप्रज्ञापकः, अन्यथा तद्विराधकः । यतः प्रत्यक्षचेतने त्रसनिकाये चैतन्यलक्षणं जीवत्वं स्वसंवेदनाध्यक्षतः स्वात्मनि प्रतीयते, परत्र त्वपरेणानुमानतः ।

---

1 तत्तद्विपरीत-वा० बा० विना ।

वनस्पतिपर्यन्तेषु पृथिव्यादिषु स्थावरेषु अनुमानतश्चैतन्यप्रतिपत्तिः । तथाहि-वनस्पतयश्चेतनाः,

१ "साम्प्रतं वनस्पतिजीवास्तित्वे लिङ्गमाह—से बेमि—इमं पि जाइधम्मयं एयं पि जाइधम्मयं; इमं पि वुड्ढिधम्मयं एयं पि वुड्ढिधम्मयं; इमं पि चित्तमंतयं एयं पि चित्तमन्तयं; इमं पि छिण्णं मिलाइ; एयं पि छिण्णं मिलाइ; इमं पि आहारगं एयं पि आहारगं; इमं पि अणिचयं एयं पि अणिचयं; इमं पि असासयं एयं पि असासयं; इमं पि चओवचइयं एयं पि चओवचइयं; इमं पि विपरिणामधम्मयं एयं पि विपरिणामधम्मयं"—आचारा० सू० अ० १ उ० ५ सू० ४६ पृ० ६५ ।

महाभारत-मनुस्मृत्योरपि वनस्पत्यादीनां सचेतनत्वमित्थं समर्थितं दृश्यते—

"भरद्वाज उवाच—

पञ्चभिर्यदि भूतैस्तु युक्ताः स्थावर-जङ्गमाः । स्थावराणां न दृश्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः ॥
अनूष्मणामचेष्टानां घनानां चैव तत्त्वतः । वृक्षाणां नोपलभ्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः ॥
न शृण्वन्ति न पश्यन्ति न गन्ध-रसवेदिनः । न च स्पर्शं विजानन्ति ते कथं पाञ्चभौतिकाः ? ॥
अद्रवत्वादनग्नित्वादभूमित्वादवायुतः । आकाशस्याप्रमेयत्वाद् वृक्षाणां नास्ति भौतिकम् ॥

भृगुरुवाच—

घनानामपि वृक्षाणामाकाशोऽस्ति न संशयः । तेषां पुष्प-फलव्यक्तिर्नित्यं समुपपद्यते ॥
ऊष्मतो म्लायते वर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च । म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥
वाय्वग्न्यशनिनिष्पेषैः फलं पुष्पं विशीर्यते । श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥
वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति । न ह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात् पश्यन्ति पादपाः ॥
पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि । अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ॥
पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनां चापि दर्शनात् । व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥
वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत् । तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः ॥
सुख-दुःखयोश्च ग्रहणाद् छिन्नस्य च विरोहणात् । जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥
तेन तज्जलमादत्तं जरयत्यग्निमारुतौ । आहारपरिणामाच्च स्नेहो वृद्धिश्च जायते" ॥—

महाभा० शान्ति० मो० प० अ० १८२ श्लो० ६–१८ पृ० २९१ ।

"उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः । ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥
अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः । पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥
गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः । बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥
तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना । अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःखसमन्विताः" ॥—

मनु० अ० १ श्लो० ४६–४९ पृ० १४–१५ ।

'भक्षयति बलीवर्दान् यवान्' 'भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्' वा इत्यत्र भक्षेर्हिंसार्थं मन्यमानाः पतञ्जलि—चन्द्रगोमि-देवनन्दि-कैयट-हेमचन्द्र-नागेश-ज्ञानेन्द्रसरस्वतीप्रमुखवैयाकरणा अपि वनस्पतेः सचेतनत्वं प्रतिपन्नाः । यथाक्रमं तद्यथा—

"अहिंसार्थस्येति किमर्थम् ? भक्षयन्ति यवान् बलीवर्दाः भक्षयति बलीवर्दान् यवान्"१–४–५२ इत्यङ्कस्य सूत्रस्य "भक्षेरहिंसार्थस्य" इति वार्तिके—महाभाष्ये पृ० २७५ ।

"अहिंसायामिति किम् ? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्"—२–१–४९—चान्द्रे ।

"अहिंसार्थस्येति किम् ? भक्षयति बलीवर्दो यवम् भक्षयति बलीवर्दं यवम्—अत्र हिंसाऽस्ति वनस्पतिकायानां प्राणित्वात्"—१–२–१२१–पृ० १०१ जैनेन्द्रे ।

"भक्षयन्ति यवानिति । क्षेत्रस्थानां प्ररोहाद्यवस्थायां यवानां भक्षणाद् हिंसा भवति, तदवस्थायां कैश्चिच्चैतन्यस्याभ्युपगमात् । परकीययवभक्षणे वा परो हिंसितो भवति । हिंसायां भक्षणेऽत्र भक्षिर्वर्तते"—१–४–५२ इति सूत्रस्य वार्तिकं स्पष्टयन् प्रदीपः ।

"वनस्पतीनां प्रसव-प्ररोह-वृद्ध्यादिमत्त्वेन चेतनत्वाद् तद्विशेषस्य सस्यस्य प्राणवियोगस्तद्भक्षणात् स्वाम्युपघातो वाऽत्र हिंसेति भक्षेर्हिंसार्थता"—२–२–६ हैमशब्दा० ।

"पिण्ड्या अप्राणित्वाद् उदाहरणे भक्षेरहिंसार्थत्वम् । ननु यवानामपि अचेतनत्वात् तद्विषयस्यापि कथं हिंसार्थत्वम् ? अत आह-क्षेत्रस्थानामिति । इदमुपलक्षणम् बीजावस्थानामपि भक्षणे हिंसासत्त्वात् । हिंसायां इति । इदमुभयसाधारणम् तत्र आद्ये यवान् हिंसन् भक्षयतीत्यर्थः द्वितीये तु 'परान्' इत्यध्याहार्यम्–परान् हिंसन् यवान् भक्षयतीत्यर्थः । अत्र आद्यमेव युक्तं भाष्यस्वरसादित्याहु"—१–४–५२ इति पाणिनीयसूत्रस्य उपर्युक्तमेव वार्तिकं समुद्द्योतयन् उद्द्योतः ।

"अहिंसार्थस्य किम् ? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम् । × × × बलीवर्दाः सस्यं भक्षयन्ति तान् भक्षयतीत्यर्थः । यवानां भक्ष्यमाणानां हिंसा ज्ञेया तस्यामवस्थायां तेषां चेतनत्वात्"—१–४–५२ सिद्धान्तकौ० तत्त्वबोधि० ।

वृक्षायुर्वेदाभिहितप्रतिनियतकालायुष्कविशिष्टौषधप्रयोगसंपादितवृद्धि-हानि-क्षत-भग्नसंरोहण-प्रतिनियतवृद्धिषड्भावविकारोत्पादनाशावस्थानियतविशिष्टशरीरस्निग्धत्व-रूक्षत्व विशिष्टदौहृद-बाल-कुमार-वृद्धावस्था-प्रतिनियतविशिष्टरसवीर्यविपाक-प्रतिनियतप्रदेशाहारग्रहणादिमत्त्वान्यथानुपपत्तेः, विशिष्टस्त्रीशरीरवत् इत्याद्यनुमानं भाष्यकृत्प्रभृतिभिर्विस्तरतः प्रतिपादितं तच्चैतन्यप्रसाधक-

---

१ वराहमिहिराचार्यप्रणीतायां बृहत्(वाराही)संहितायां वृक्षायुर्वेदविषय इत्थं वर्णितो वर्तते—

"अथ तेषां रोगज्ञानमाह—

शीतवातातपै रोगो जायते पाण्डुपत्रता । अवृद्धिश्च प्रवालानां शाखाशोषो रसस्रुतिः ॥ १४ ॥
चिकित्सितमथैतेषां शस्त्रेणादौ विशोधनम् । विडङ्गघृतपङ्काक्तान् सेचयेत् क्षीरवारिणा ॥ १५ ॥

तथा च काश्यपः—

शाखाविटपपत्रैश्च छायया विहिताश्च ये । येऽपि पर्ण-फलैर्हीना ह्रस्वाः पत्रैश्च पाण्डुरैः ॥
शीतोष्णवर्षवातार्यैर्मूलैर्व्यामिश्रितैरपि । शाखिनां तु भवेद् रोगो द्विपानां लेखनेन च ॥
चिकित्सैतेषु कर्तव्या ये च भूयः पुनर्नवाः । शोधयेत् प्रथमं शस्त्रैः प्रलेपं दापयेत् ततः ॥
कर्दमेन विडङ्गैश्च घृतमिश्रैश्च लेपयेत् । क्षीरतोयेन सेकः स्याद् रोहणं सर्वशाखिनाम् ॥

अथ फलनाशचिकित्सितमाह—

फलनाशे कुलत्थैश्च माषैर्मुद्गैस्तिलैर्यवैः । शृतशीतपयःसेकः फलपुष्पसमृद्धये ॥ १६ ॥

अथ वृद्ध्यर्थप्रयोगमाह—

"अविकाजशकृच्चूर्णस्याढके द्वे तिलाढकम् । सक्तुप्रस्थो जलद्रोणो गोमांसतुलया सह ॥ १७ ॥
सप्तरात्रोषितैरेतैः सेकः कार्यो वनस्पतेः । वल्लीगुल्मलतानां च फलपुष्पाय सर्वदा" ॥ १८ ॥

—बृहत्सं० वृक्षायुर्वेदाध्या० ५४ पृ० ७४६–७४७ ।

२ षड्भावविकारा इत्यमवगन्तव्याः—

"षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः—जायते अस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते विनश्यतीति"—यास्कनि० पृ० ४४ पं० १३ । एतदेव विकारषट्कपरिगणनं महाभाष्ये "भूवादयो धातवः" १-३-१ इति सूत्रे, वाक्यपदीये तृतीयकाण्डे प्रथमजातिसमुद्देशीयपञ्चत्रिंशश्लोकव्याख्यायाम् (तृ० कां० पृ० ३१) हेमचन्द्रशब्दानुशासने "क्रियार्थो धातुः" ३-३-३ इति सूत्रे च विद्यते ।

३ भाष्यकृता श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणेन वनस्पतिपर्यन्तेषु पृथिव्यादिषु स्थावरेषु अनुमानतश्चैतन्यमित्थं साधितं वर्तते—

"जम्म-जरा-जीवण-मरण-रोहणा-ऽऽहार-दोहला-ऽऽमयओ । रोग-तिगिच्छाईहि य नारि व्व सचेयणा तरवो ॥

सचेतनास्तरवः इति प्रतिज्ञा, जन्म-जरा-जीवन-मरण-क्षतसंरोहणा-ऽऽहार-दौहृदा-ऽऽमय-तच्चिकित्सादिसद्भावात् इति हेतुः, नारीवत् इति दृष्टान्तः । × × × × ×

छिक्कपरोइया छिक्कमेत्तसंकोयओ कुलिंगो व्व । आसयसंचाराओ वियत्त ! वल्लीवियाणाई ॥
सम्मादओ य साव-प्पबोह-संकोयणाइओऽभिमया । बउलादओ य सद्दाइविसयकालोवलंभाओ ॥

सचेतनाः स्पृष्टप्ररोदिकादयो वनस्पतयः स्पृष्टमात्रसंकोचात्, कुलिङ्गः—कीटादिः—तद्वत् । तथा, सचेतना वल्ल्यादयः स्वरक्षार्थं वृति-वृक्ष-वरण्डकाद्याश्रयं प्रति संचरणात् । तथा, शम्यादयश्चेतनत्वेन अभिमताः स्वाप-प्रबोध-संकोचादिमत्त्वात् देवदत्तवत् । तथा, सचेतना बकुला-ऽशोक-कुरुबक-विरहक-चम्पक-तिलकादयः शब्दादिविषयकालोपलम्भात्—शब्द-रूप-गन्ध-रस-स्पर्शविषयाणां काले प्रस्तावे उपभोगस्य यथासंख्यमुपलम्भादित्यर्थः यज्ञदत्तवदिति । एवं पूर्वमपि दौहृदादिलिङ्गेषु कूष्माण्डी-बीजपूरकादयो वनस्पतिविशेषाः पक्षीकर्तव्या इति ।

अथ सामान्येन तरूणाम् पृथ्वीविशेषाणां च विद्रुमादीनां सचेतनत्वसाधनायाह—

मंसंकुरो व्व समाणजाइरूवंकुरोवलंभाओ । तरुगण-विद्रुम-लवणो-वलादओ सासयावत्था ॥

तरुगणः तथा विद्रुम-लवणो-पलादयश्च स्वाश्रयावस्थाः स्वजन्मस्थानगताः सन्तश्चेतनाः छिन्नानामप्यमीषां पुनस्तत्स्थान एव समानजातीयाङ्कुरोत्थानात्, अर्शोमांसाङ्कुरवत् । × × ×

अथोदकस्य सचेतनत्वं साधयितुमाह—

भूमिक्खयसाभावियसंभवओ दद्दुरो व्व जलमुत्तं । अहवा मच्छो व सभाववोमसंभूयपायाओ ॥

मित्यनुमानतस्तेषां चैतन्यमात्रं सिध्यति । साधारण-प्रत्येकशरीरत्वादिकस्तु भेदः—

"गूढसिर-संधि-पव्वं समभंगमहीरगं च छिण्णरुहं । साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥"

[जीवविचा० गा० १२]

इत्याद्यागमप्रतिपाद्य एव ।

जीवलक्षणव्यतिरिक्तलक्षणास्त्वजीवा धर्माऽधर्माऽऽकाश-काल-पुद्गलभेदेन पञ्चविधाः । तत्र पुद्गलास्तिकायव्यतिरिक्तानां स्वतो मूर्तिमद्द्रव्यसम्बन्धमन्तरेणात्मद्रव्यवदमूर्तत्वाद् अनुमानमलयाव-सेयता । तथाहि—गति-स्थित्यवगाहलक्षणं पुद्गलास्तिकायादिकार्यं विशिष्टकारणप्रभवम्, विशिष्टका-

---

भौममम्भः सचेतनमुक्तम् क्षतभूमिसजातीयस्वाभाविकस्य तस्य संभवात् दर्दुरवत् । अथवा, सचेतनमन्तरिक्षमम्भः अभ्रादिविकारस्वभावसंभूतपातात् मत्स्यवदिति ।

तेजोऽनिलावधिकृत्याह—

अपरप्पेरियतिरियानियमियदिग्गमणओऽणिलो गो व्व । अनलो आहाराओ विद्धि-विगारोवलम्भाओ ॥

सात्मको वायु अपरप्रेरिततिर्यगनियमितदिग्गमनात् गोवत् । तथा, सात्मकं तेजः आहारोपादानात् तद्वृद्धौ विकारवि-शेषोपलम्भाच्च नरवत्"—विशेषा० भा० गा० १७५३-१७५८ पृ० ७४४-७४६ ।

तथा, पृथिव्यादिवनस्पत्यन्तानां स्थावराणां स्पष्टतया श्रोत्रादीन्द्रियरहितत्वेऽपि श्रोत्रादीन्द्रियजोऽनुभवो विलोक्यत एव अत एव वनस्पत्यन्तानां तेषां सचेतनत्वं साधितं पुरातनैः । स्थूलतया इन्द्रियरहितत्वेऽपि वनस्पतिषु केषां केषां वृक्षा-णामस्मदादिवत् कीदृशः कीदृशोऽनुभवो जायते तदेतत् सर्वं सविस्तरं तेनैव भाष्यकृता भाष्यटीकाकृता चेत्थमुपवर्णितम्—

"जह सुहुमं भाविंदियनाणं दव्विंदियावरोहे वि । तह दव्वसुयाभावे भावसुयं पत्थिवाईणं ॥

इह केवलिनो विहाय शेषसंसारिजीवानां सर्वेषामप्यतिस्तोक-बहु-बहुतर-बहुतमादितारतम्यभावेन द्रव्येन्द्रियेष्वसत्स्वपि लब्धीन्द्रियपञ्चकावरणक्षयोपशमः समस्त्येवेति परममुनिवचनम् । ततश्च यथा येन प्रकारेण पृथिव्यादीनामेकेन्द्रियाणां श्रोत्र-चक्षु-र्घ्राण-रसनलक्षणानां प्रत्येकं निर्वृत्त्युपकरणरूपाणां द्रव्येन्द्रियाणां तत्प्रतिबन्धककर्मावृतत्वादवरोधेऽप्यभावेऽपि सूक्ष्ममव्यक्तं लब्ध्युपयोगरूपं श्रोत्रादिभावेन्द्रियज्ञानं भवति लब्धीन्द्रियावरणक्षयोपशमसंभूताऽणीयसी ज्ञानशक्तिर्भवतीत्यर्थः । तथा तेनैव प्रकारेण द्रव्यश्रुतस्य द्रव्येन्द्रियस्थानीयस्याभावेऽपि भावश्रुतं भावेन्द्रियज्ञानकल्पं पृथिव्यादीनां भवतीति प्रतिपत्त-व्यमेव । इदमुक्तं भवति—एकेन्द्रियाणां तावत् श्रोत्रादिद्रव्येन्द्रियाभावेऽपि भावेन्द्रियज्ञानं किञ्चिद् दृश्यत एव वनस्पत्यादिषु स्पष्टतल्लिङ्गोपलम्भात् । तथाहि—कलकण्ठोद्गीर्णमधुरपञ्चमोद्गारश्रवणात् सद्यः कुसुम-पल्लवादिप्रसवो विरहकवृक्षादिषु श्रवणे-न्द्रियज्ञानस्य व्यक्तं लिङ्गमवलोक्यते । तिलकादितरुषु पुनः कमनीयकामिनीकमलदलदीर्घशरदिन्दुधवललोचनकटाक्षविक्षेपात् कुसुमाद्याविर्भावश्चक्षुरिन्द्रियज्ञानस्य । चम्पकादिविटपिषु तु विविधसुगन्धिगन्धवस्तुनिकुरम्बोन्मिश्रविमलशीतलसलिलसेकात् तत्प्रकटनं घ्राणेन्द्रियज्ञानस्य । बकुलादिभूरुहेषु तु रम्भातिशायिप्रवररूपवरतरुणभामिनीमुखप्रदत्तस्वच्छसुस्वादुसुरभिवारुणी-गण्डूषास्वादनात् तदाविष्करणं रसनेन्द्रियज्ञानस्य । कुरबकादिविटपिषु अशोकादिद्रुमेषु च घनपीनोन्नतकठिनकुचकुम्भविभ्र-मापभ्राजितकुम्भीनकुम्भरणन्मणिवलयक्वणत्कङ्कणाभरणभूषितभव्यभामिनीभुजलताऽवगूहनसुखाद् निष्पिष्टपद्मरागचूर्णशोणतल-सत्पादकमलपार्ष्णिप्रहाराच्च झगिति प्रसून-पल्लवादिप्रभवः स्पर्शनेन्द्रियज्ञानस्य स्पष्टं लिङ्गमभिवीक्ष्यते । ततश्च यथैतेषु द्रव्ये-न्द्रियासत्त्वेऽप्येतद् भावेन्द्रियजन्यं ज्ञानं सकलजनप्रसिद्धमस्ति तथा द्रव्यश्रुताभावे भावश्रुतमपि भविष्यति । दृश्यते हि जलाद्याहारोपजीवनाद् वनस्पत्यादीनामाहारसंज्ञा, सङ्कोचनवल्ल्यादीनां तु हस्तस्पर्शादिभीत्या अवयवसङ्कोचनादिभ्यो भयसंज्ञा, विरहक-तिलक-चम्पक-केशराऽशोकादीनां तु मैथुनसंज्ञा दर्शितैव, बिल्व-पलाशादीनां तु निधानीकृतद्रविणोपरिपादमोचना-दिभ्यः परिग्रहसंज्ञा । न चैताः संज्ञा भावश्रुतमन्तरेणोपपद्यन्ते । तस्माद् भावेन्द्रियपञ्चकावरणक्षयोपशमाद् भावेन्द्रियपञ्चक-ज्ञानवद् भावश्रुतावरणक्षयोपशमसद्भावाद् द्रव्यश्रुताभावेऽपि यच्च यावच्च भावश्रुतमस्त्येव एकेन्द्रियाणामित्यलं विस्तरेण"—विशेषा० भा० गा० १०३ पृ० ६८-६९ ।

१ साधारण-प्रत्येकशरीरधारिणां वनस्पतीनां सलक्षणं सविस्तरं विवेचनं प्रज्ञापना(पन्नवणा)सूत्रतोऽवबोद्धव्यम्—प० १ सू० २२-२६ पृ० ३०-३९ ।

२ "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः । १ । कालश्चेत्येके" । ३८ ।—तत्त्वार्थ० अ० ५ ।

"गति-स्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः । १७ । आकाशस्यावगाहः" । १८ ।—तत्त्वार्थ० अ० ५ ।

र्यत्वात्, शाल्यङ्कुरादिकार्यवत्, यश्चासौ कारणविशेषः स धर्माऽधर्माऽऽकाशलक्षणो यथासंख्यमवसेयः । कालस्तु विशिष्टपरापरप्रत्ययादिलिङ्गानुमेयः । पुद्गलास्तिकायस्तु प्रत्यक्षाऽनुमानलक्षणप्रमाणद्वयगम्यः । यस्तेषां धर्मादीनामसंख्येयप्रदेशात्मकत्वादिको विशेषः तत्प्रदेशानां च सूक्ष्म-सूक्ष्मतरत्वादिको विभागः स "कालो य होइ सुहुमो" [ ] इत्याद्यागमप्रतिपाद्य एव, नागमनिरपेक्षयुक्त्यवसेयः । एवमाश्रवादिष्वपि तत्त्वेषु युक्त्याऽऽगमगम्येषु युक्तिगम्यमंशं युक्तित एव, आगमगम्यं तु केवलागमत एव प्रतिपादयन् स्वसमयप्रज्ञापकः, इतरस्तु तद्विराधक इति प्रज्ञापकलक्षणमवगन्तव्यम् ॥ ४५ ॥

[हेतुसाध्यमर्थं हेतोरेव इतरं चागमत एव साधयतो नयवादः शुद्धो नान्यस्य इति कथनम्]

यो हेतुसाध्यमर्थं हेतुना साधयति आगमसिद्धं च आगमेन, तस्य नयवादः परिशुद्धः नान्यस्येत्येतदेवाऽऽह—'परिसुद्ध'—इत्यादि ।

यद्वा वस्तुधर्मप्रतिपादकोऽहेतु-हेतुवादप्रभेद आगमो वाक्य-नयरूपः परिशुद्धेतरभेदेन द्विरूपतां प्रतिपद्यते इत्याह—

परिसुद्धो नयवाओ आगममेत्तत्थसाहओ होइ ।
सो चेव दुण्णिगिण्णो दोण्णि वि पक्खे विधम्मेइ ॥ ४६ ॥

परि समन्तात् **शुद्धो नयवादः** यदा विवक्षिताऽविवक्षितानन्तरूपात्मकवस्तुप्रतिपादकं नयवाक्यं प्रवर्तते 'स्यान्नित्यम्' इत्यादिकं तदा **भवति**, प्रमाणपरिशुद्धा**गमार्थमात्रस्य** न्यूनाधिकव्यवच्छेदेन प्रतिपादनात् अधिकस्याऽसंभवेन न्यूनस्य च नयानामसर्वार्थत्वप्रसङ्गतोऽर्थस्य परिशुद्धागमविषयत्वायोगात् । **स एव** नयवादः इतररूपनिरपेक्षैकरूपप्रतिपादकत्वेन यदा **दुर्निक्षिप्तः** प्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेनाऽवतारितस्तदा द्वितीयधर्मनिरपेक्षस्य प्रतिपाद्यधर्मस्याऽप्यभावतोऽप्रतिपादनाद् अपरिशुद्धो भवति, प्रमाणविरुद्धस्य तथातदर्थस्य व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात् ॥ ४६ ॥

[अपरिशुद्धनयवादरूपपरसमयानां संख्यानम्]

अपरिशुद्धश्च नयवादः परसमयः स कियद्भेदो भवति ? इत्याह—

जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया ।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ॥ ४७ ॥

अनेकान्तात्मकस्य वस्तुन एकदेशस्य यद् अन्यनिरपेक्षस्याऽवधारणम् अपरिशुद्धो नयः, तावन्मात्रार्थस्य **वाचकानां** शब्दानां **यावन्तो मार्गाः**—हेतवो नयाः—**तावन्त एव भवन्ति नयवादा**स्तत्प्रतिपादकाः शब्दाः । **यावन्तो नयवादास्तावन्त एव परसमया** भवन्ति स्वेच्छाप्रकल्पितविकल्पनिबन्धनत्वात् परसमयानां परिमितिर्न विद्यते । ननु यद्यपरिमिताः परसमयाः कथं तन्निबन्धनभूतानां नयानां संख्यानियमः "नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवंभूता नयाः"

---

१ "वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य" । २२ ।—तत्त्वार्थ० अ० ५ ।

२-द्गलादिका-वृ० आ० हा० वि० ।

"रूपिणः पुद्गलाः । ४ । शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् । १९ । सुख-दुःख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च" । २० ।
—तत्त्वार्थ० अ० ५ ।

३ "नित्यावस्थितानि अरूपाणि । ३ । आऽऽकाशादेकद्रव्याणि । ५ । निष्क्रियाणि च । ६ । असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः । ७ । जीवस्य च । ८ । आकाशस्याऽनन्ताः । ९ । संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् । १० । लोकाकाशेऽवगाहः । १२ । धर्माधर्मयोः कृत्स्ने । १३ । एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् । १४ । असंख्येयभागादिषु जीवानाम्" । १५ ।
—तत्त्वार्थ० अ० ५ ।

४ विहम्मेवि गु० मू० मु० मू० ।

[तत्त्वार्थसू० १-३३] इति श्रूयते ? न; स्थूलतस्तच्छ्रुतेः, अवान्तरभेदेन तु तेषामपरिमितत्वमेव स्वकल्पनाशिल्पिघटितविकल्पानामनियतत्वात् तदुत्थप्रवादानामपि तत्संख्यापरिमाणत्वात् ॥ ४७ ॥

[कं कं नयमाश्रित्य कस्कः समयः प्रस्थित इति प्रश्नस्य व्याकरणम्]

ननु कं नयमाश्रित्य कः परसमयः प्रवृत्तः ? को वा कस्य विषयः ? इत्याह—

जं काविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं ।
सुद्धोअणतणअस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो ॥ ४८ ॥

यत् कापिलं दर्शनं सांख्यमतम् एतद् द्रव्यास्तिकनयस्य वक्तव्यम्–तद्विषयविषयम् तदुत्थापितं चेति भावः-शौद्धोदनेस्तु परिशुद्धः पर्यायविशेष एव वक्तव्यः-परिशुद्धपर्यायास्तिकनयविशेषविषयं तदुत्थापितं च सौगतमतमित्यभिप्रायः । मिथ्यास्वरूपनयप्रभवत्वाद् अनयोर्मिथ्यात्वं प्राक् प्रदर्शितमेव ॥ ४८ ॥

[द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिकोभयाश्रितस्यापि वैशेषिकसमयस्य कथं मिथ्यात्वमिति प्रश्नस्य प्रतिवचनम्]

ननु भवतु परस्परनिरपेक्षैकैकनयावलम्बिनोः साङ्ख्य-सौगतमतयोर्मिथ्यात्वम्, कणभुग्मतस्य तु द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयद्वयावलम्बिनः कथं मिथ्यात्वम् ? इत्यत्राह—

दोहि वि णएहि णीअं सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं ।
जं सविसअप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा ॥ ४९ ॥

द्वाभ्यामपि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयाभ्यां प्रणीतं शास्त्रम् उलूकेन वैशेषिकशास्त्रप्रणेत्रा, द्रव्य-गुणादेः पदार्थषट्कस्य नित्यानित्यैकान्तरूपस्य तत्र प्रतिपादनात् ।

[कणादोक्तषट्पदार्थीव्यवस्थाया उपन्यासः]

तथाहि—द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाख्याः षडेव पदार्थाः, न्यूनाऽधिकप्रतिपादकप्रमाणाभावे परस्परविविक्तस्वरूपषट्पदार्थव्यवस्थापकप्रमाणविषयत्वात्, उभयाभिमतघटादिषट्पदार्थवत् । तत्र पृथिव्यप्-तेजो-वाय्वाकाश-काल-दिगात्म-मनांसि नवैव द्रव्याणि । 'पृथिवी आपः तेजो वायुः' इत्येतत् चतुःसंख्यं नित्याऽनित्यभेदाद् द्विप्रकारं द्रव्यम्; तत्र परमाणुरूपं नित्यम् "सदकारणवन्नित्यम्" [वैशेषिकद० ४-१-१] इति वचनात्, तदारब्धं तु द्व्यणुकादि कार्यद्रव्यमनित्यम् । आकाशादिकं तु नित्यमेव, अनुत्पत्तिमत्त्वात् । एषां च द्रव्यत्वाभिसंबन्धाद् द्रव्यरूपता, द्रव्यत्वाभिसंबन्धश्च द्रव्यत्वसामान्योपलक्षितसमवायः, तत्समवेतं वा सामान्यम्, एतच्चेतरव्यवच्छेदकमेषां लक्षणम् । तथाहि—पृथिव्यादीनि मनःपर्यन्तानि इतरेभ्यो भिद्यन्ते 'द्रव्याणि' इति वा व्यवहर्तव्यानि द्रव्यत्वाभिसंबन्धात्, यानि तु नैवम् न च तानि द्रव्यत्वाभिसंबन्धवन्ति, यथा गुणादिवस्तूनि, इति केवलव्यतिरेकिहेतुबलात् पृथिव्यादीनि द्रव्याणि गुणादिभ्यो व्यावृत्तरूपाणि सिद्धानि । पृथिव्यादीनामपि भेदवतां पृथिवीत्वाभिसंबन्धादिकं लक्षणमितरेभ्यो भेदव्यवहारे तच्छब्दवाच्यत्वे वा साध्ये केवलव्यतिरेकिरूपं द्रष्टव्यम् । अभेदवतां त्वाकाश-काल-दिग्द्रव्याणामनादिसिद्धतच्छब्दवाच्यता द्रष्टव्या । नवैव चैतानि द्रव्याणि, न्यूनाधिकत्वप्रतिपादकप्रमाणाभावे

---

१ पृ० २९६ पं० ८ तथा पृ० ३८७ पं० १८ । २ दोहिं वि णएहिं गु० मू० ।

३ कणादापरनाम्न उलूकमहर्षेर्वृत्तान्तावबोधाय वायुपुराणमिहानुसंधेयम्—अ० २३ श्लो० २०३ ।

४ मूलग्रन्थकृता दिवाकरेण वैशेषिकशास्त्रनिष्यन्दभूता वैशेषिकद्वात्रिंशिकाऽपि रचिताऽस्ति सा च तद्रचितासु द्वात्रिंशति द्वात्रिंशिकासु चतुर्दशी वर्तते एषाऽपि प्रस्तुतविषयसादृश्यावबोधाय बुभुत्सुभिरत्रावगन्तव्या भवेत्—द्वात्रिंशद्० १८-१९ ।

द्रव्यादिपदार्थस्वरूपं सविस्तरमवबोद्धुकामेन समग्रं वैशेषिकदर्शनं सभाष्यं सकन्दलिकं चानुसंधेयम् ।

परस्परव्यावृत्तनवलक्षणयोगित्वात्, उभयाभिमतनवघटादिवत्। एवं रूपादयश्चतुर्विंशतिर्गुणाः[1]। उत्क्षेपणादीनि पञ्च कर्माणि। पराऽपरभेदभिन्नं द्विविधं सामान्यमनुगतज्ञानकारणम्। नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धिहेतवः। अयुतसिद्धानामाधार्याऽऽधारभूतानाम् 'इह' इतिप्रत्ययहेतुर्यः संबन्धः स समवाय एको व्यापकश्च। अत्र च पदार्थषट्के द्रव्याणि गुणाश्च केचिन्नित्या एव, केचित् त्वनित्या एव। कर्म अनित्यमेव। सामान्य-विशेष-समवायास्तु नित्या एवेति पदार्थव्यवस्था। ततश्चैतत् शास्त्रं **तथापि मिथ्यात्वम्,** तत्प्रदर्शितपदार्थपङ्कस्य प्रमाणबाधितत्वात्।

[कणादोक्तां तत्त्वव्यवस्थां निरसितुं पूर्वं द्रव्यपदार्थस्य खण्डनम्]

यतश्चतुःसंख्यं पृथिव्यादिद्रव्यं परमाणुरूपं यन्नित्यमुपवर्णितम्[2], तदसंगतम्[3]; एकान्ताऽक्षणिकत्वे क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणं सत्त्वं ततो व्यावर्तते, ततश्च असत्त्वमेव तस्य।[4] यदि च स्थूलकार्यद्रव्यंकारणभूतानामणूनां तज्जनकैकस्वभावता तदा तत्कार्याणां सकृदेव सर्वेषामुत्पत्तिप्रसक्तिः अविकलकारणत्वात्।[5] तथा च प्रयोगः—येऽविकलकारणास्ते सकृदेवोत्पद्यन्ते, यथा समानोत्पादा बहवोऽङ्कुराः, अविकलकारणाश्च परमाणुकार्यत्वेनाऽभिमता भावा इति स्वभावहेतुः। अविकलकारणस्याप्यनुत्पादे सर्वदाऽनुत्पत्तिप्रसक्तिः विशेषाभावात् इति विपर्यये बाधकं[6] प्रमाणम्। स्यादेतत्, समवाय्यसमवायि-निमित्तभेदात् त्रिविधं कारणम्[7], यत्र हि कार्यं समवैति तत् समवायिकारणम् यथा-द्व्यणुकस्य अणुद्वयम्। यच्च कार्यैकार्थसमवेतम् कार्यकारणैकार्थसमवेतं वा कार्यमुत्पादयति तद् असमवायि कारणम्[8] यथा-पटावयविद्रव्यारम्भे तन्तुसंयोगः, पटसमवेतरूपाद्यारम्भे पटोत्पादकतन्तुरूपादि च। शेषं तु उत्पादकं निमित्तकारणम्[9] यथा—अदृष्टाऽऽकाशादि। तत्र संयोगादेरपेक्षणीयस्य असंनिधेरविकलकारणत्वमसिद्धम्, असदेतत्; संयोगादिनाऽनाधेयातिशयत्वात्

१-शतिगु-बृ० विना। २ पृ० ६५६ पं० २३।

३ प्रस्तूयमानैषा सपूर्वपक्षा समग्राऽपि वैशेषिकाभिमतद्रव्य-गुणादितत्त्वपरीक्षणचर्चाऽविकलतया तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायां विद्यते-पृ० १८५ का० ५४७—पृ० २७४ का० ८६६।

सैव च क्वचित् क्वचित् शब्दसाम्येन क्वचिच्चान्ययाऽपि भङ्ग्या अर्थसाम्यमजहती न्यायकुमुदचन्द्रोदये, प्रमेयकमलमार्तण्डे स्याद्वादरत्नाकरे च विद्यते—लि० पृ० ११६ द्वि० पं० ३—पृ० १७४ द्वि० पं० १०। पृ० १५६ प्र० पं० ८—पृ० १८८ द्वि० पं० १३। पृ० ८३७ पं० २०—पृ० ९७० पं० १५।

४ "तत्र नित्याणुरूपाणामसत्त्वमुपपादितम्। निःशेषवस्तुविषयक्षणभङ्गप्रसाधनात्" ॥

—तत्त्वसं० का० ५५१ पृ० १८६।

५ "नित्यत्वे सकलाः स्थूला जायेरन् सकृदेव हि। संयोगादि न चापेक्ष्यं तेषामस्त्यविशेषतः" ॥

—तत्त्वसं० का० ५५२ पृ० १८६।

६ बाधक प्र-बृ० आ० डा० वि०। "समग्रकारणस्याप्यनुत्पादे सर्वदैवानुत्पादप्रसङ्गो विशेषाभावादिति बाधकं प्रमाणम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १८६ पं० २०।

७ "ननु समवायि-असमवायि-निमित्तभेदात् त्रिविधं कारणं कार्यजन्मनि व्याप्रियते। यत्र हि कार्यं समवैति तत् समवायि कारणम् यथा द्व्यणुकस्य अणुद्वयम्। यच्च कार्यैकार्थसमवेतं कार्यकारणैकार्थसमवेतं वा कार्यं समुत्पादयति तद् असमवायि कारणम् यथा पटारम्भे तन्तुसंयोगः पटसमवेतरूपाद्यारम्भे पटोत्पादकतन्तुरूपादि च शेषं तु उत्पादकं निमित्तकारणम् यथा अदृष्टाकाशादि" इत्यादि—न्यायकुमुद० लि० पृ० ११८ प्र० पं० १२—द्वि० पं० १-२। प्रमेयक० पृ० १५९ द्वि० पं० १५-।

८ "असमवेतं तु यद् यस्य कारणभावं प्रतिपद्यते तद् असमवायिकारणम् यथा अवयविद्रव्यारम्भेऽवयवसंयोग"

—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १८६ पं० २२।

९ "परिशेषं तु कारणं निमित्तकारणम् तद्यथा धर्मादय इत्ययमेषां विभाग."—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १८९ पं०

नित्यतया अणूनां तदपेक्षत्वायोगात्। न च तन्तु-करणादीनां कार्याणां सकृत् प्रादुर्भाव उपलभ्यते तस्माद् विपर्ययः। तथा च प्रयोगः—ये क्रमवत्कार्यहेतवस्तेऽनित्याः, यथा-क्रमवदङ्कुरादिनिर्वर्तका बीजादयः, तथा च परमाणव इति स्वभावहेतुः। यदपि अविद्धकर्णोक्तमणूनां नित्यत्वसाधकं प्रमाणम्—"परमाणूत्पादकाभिमतं कारणं सद्धर्मोपेतं न भवति, सत्त्वप्रतिपादकप्रमाणाविषयत्वात्, शशशृङ्गवत्" [ ] इति। तत्र कुविन्दादेरणूत्पादककारणस्य सत्त्वप्रतिपादकप्रमाणविषयत्वाद् असिद्धो हेतुः। यथा च पटादयः परमाण्वात्मकाः कुविन्दोत्पाद्यास्तथा प्रदर्शयिष्यामः। देश-काल-स्वभावविप्रकृष्टानां च भावानां सदुपलम्भकप्रमाणनिवृत्तावपि सत्त्वाविरोधाद् अनैकान्तिकश्च हेतुः। ततो न अणुनित्यत्वप्रसाधकानुमानप्रतिज्ञाया अनुमानबाधा। न च 'यत एव प्रमाणात् परमाणवः प्रसिद्धाः तत एव नित्यत्वधर्मोपेता अपि ते' इति तद्ग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् तदनित्यत्वप्रसाधकानुमानस्याऽनुत्थानम् प्रमाणतोऽप्रसिद्धौ चाणूनामाश्रयाऽसिद्धतया तत् इति वाच्यम्, सर्वस्य प्रमाणविषयस्य अनित्यत्वधर्मोपेतस्यैव तद्विषयत्वात् अन्यथाभूतस्य तदजनकत्वे तद्विषयत्वानुपपत्तेः "नाऽकारणं विषयः" [ ] इति प्रसाधितत्वात्। नित्यस्य चाऽकारणत्वात्। तन्न चतुःसंख्यं परमाण्वात्मकं नित्यद्रव्यं संभवति।

नापि तदारब्धमवयवि द्रव्यं संभवति, गुणावयवव्यतिरिक्तस्य तस्याऽनुपलम्भात् न हि शुक्लादिगुणेभ्यः तन्त्वाद्यवयवेभ्यश्च अर्थान्तरभूतं पटादि द्रव्यं चक्षुरादिज्ञानेऽवभासते। न च अवयविनो द्व्यणुकादेरनुपलम्भे परमाणूनां विविक्तस्वरूपाणामुपलम्भाऽविषयत्वात् प्रतिभासाऽभावप्रसक्तेः आश्रयाऽसिद्धतया अवयव्यादिनिषेधकप्रसङ्गसाधनप्रयोगानुपपत्तिः इति वक्तव्यम्, परमाणूनामेव विशिष्टाकारतयोत्पन्नानां प्रतिभासविषयतया आश्रयासिद्धताद्यनुपपत्तेर्न प्रयोगानुपपत्तिः। एवं च यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सद् यत्र नोपलभ्यते तत् तत्र नास्ति, यथा-क्वचित् प्रदेशविशेषे घटादिरनुपलम्भविषयः, गुणाऽवयवार्थान्तरभूतो गुण्यवयवी च दृश्यत्वेनाऽभिमतः नोपलभ्यते च तत्रैव देशे इति स्वभावानुपलब्धिः। न च हेतोर्विशेषणमसिद्धम्, "महति अनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धिः" [वैशेषिकद० ४-१-६] इति वचनात् तयोर्दृश्यत्वेनाऽभ्युपगमात्।

ननु गुणव्यतिरिक्तो गुणी उपलभ्यत एव तद्रूपादिगुणाग्रहणेऽपि तस्य ग्रहणात्। तथाहि—मन्दमन्दप्रकाशे तद्गतसितादिरूपानुपलम्भेऽपि उपलभ्यते बलाकादिः, स्वगतशुक्लगुणाग्रहणेऽपि च सन्निहितोपधानावस्थायां गृह्यते स्फटिकोपलः, तथाऽऽप्रपदीनकञ्चुकावच्छन्नशरीरः पुमांस्तद्गतदया-

---

१ "न च सकृदेव स्थूलाना तनुभवनादीनामुदयोऽस्ति क्रमेण तन्वादीनामुत्पत्तिदर्शनात् तस्माद् विपर्ययः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १८७ पं० १।

२ तन्तुक-भां० मां०। ३-नुकार-भां० मां० विना।

४ "अविद्धकर्णस्त्वणूनां नित्यत्वप्रसाधनाय प्रमाणमाह—परमाणूनामुत्पादकाभिमतं सद्धर्मोपगतं न भवति सत्त्वप्रतिपादकप्रमाणाविषयत्वात् खरविषाणवदिति"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १८७ पं० ४।

५ "सद्धर्मोपगतं नो चेदणूत्पादकमिष्यते। विद्यमानोपलम्भार्थप्रमाणाविषयत्वतः"॥

—तत्त्वसं० का० ५५३ पृ० १८७।

६ "नासिद्धेर्दृश्यते येन कुविन्दाद्यणुकारणम्। परमाण्वात्मका एव येन सर्वे पटादयः"॥

—तत्त्वसं० का० ५५४ पृ० १८७।

७ "तद्ग्राहकप्रमाभावाच्च या सत्ता प्रसिध्यति। प्रमाणविनिवृत्तौ हि नार्थाभावेऽस्ति निश्चयः" ॥

—तत्त्वसं० का० ५५५ पृ० १८७।

८ "तदारब्धस्त्ववयवी गुणावयवभेदवान्। नैवोपलभ्यते तेन न सिध्यत्यप्रमाणकः" ॥

—तत्त्वसं० का० ५५६ पृ० १८७।

९ "नन्वित्यादिना उद्द्योतकर-भाविविक्तादयो हेतोरसिद्धतामुद्भावयन्ति—

ननूपधानसंपर्के दृश्यते स्फटिकोपलः। तद्रूपाग्रहणेऽप्येवं बलाकादिश्च दृश्यते ॥

कञ्चुकान्तरिते पुंसि तद्रूपाद्यगतावपि। पुरुषप्रत्ययो दृष्टो रक्ते वाससि वस्त्रधीः" ॥

—तत्त्वसं० का० ५५७-५५८ पृ० १८८।

मादिरूपाप्रतिभासेऽपि 'पुमान्' इति प्रत्ययोत्पत्तेः प्रतिभात्येव, कुङ्कुमादिरक्तं च वस्त्रं तद्रूपस्य संसर्गिरूपेणाऽभिभूतस्य अप्रकाशेऽपि प्रकाशत एव 'वस्त्रम्' इति प्रत्ययोत्पत्तेः अध्यक्षत एव गुण-गुणिनोर्भेदः सिद्धः। तथा, अनुमानतोऽपि तयोर्भेदः। तथाहि—यद् यद्व्यवच्छेद्यत्वेन प्रतीयते तत् ततो भिन्नम्, यथा देवदत्ताद् अश्वः, गुणिव्यवच्छेद्यत्वेन प्रतीयन्ते च नीलोत्पलस्य रूपादय इति। तथा, पृथिव्यप्-तेजो-वायवो द्रव्याणि रूप-रस-गन्ध-स्पर्शेभ्यो भिन्नानि, एकवचन-बहुवचनविषयत्वात्, यथा 'चन्द्रः' 'नक्षत्राणि' इति, तथा च 'पृथिवी' इति एकवचनम् 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः' बहुवचनमुपलभ्यते इति तयोर्भेदः। अवयवाऽवयविनोरप्यनुमानतः सिद्धो भेदः। तथाहि—विवादाधिकरणेभ्यस्तन्तुभ्यो भिन्नः पटः भिन्नकर्तृकत्वात् घटादिवत्, भिन्नशक्तिकत्वाद् वा विषाऽगदवत्, पूर्वापरकालभावित्वाद् वा पितापुत्रवत्, विभिन्नपरिमाणत्वाद् वा कुवल-बिल्ववत् इति। विरुद्धधर्माध्यासनिबन्धनो ह्यन्यत्रापि भावानां भेदः; स च अत्राप्यस्ति इति कथं न भेदः? यदि चावयवी अवयवेभ्यो भिन्नो न भवेत् स्थूलप्रतिभासो न स्यात्, परमाणूनां सूक्ष्मत्वात्। न च अन्यादृग्भूतः प्रतिभासः अन्यादृगर्थव्यवस्थापकः अतिप्रसङ्गात्। न च स्थूलाभावे 'परमाणुः' इति व्यपदेशोऽपि संभवी, स्थूलापेक्षित्वाद् अणुत्वस्य" [ ] इति उद्द्योतकरादयः।

अत्र प्रतिविधीयते—यदुक्तम् 'स्वगतगुणाऽनुपलम्भेऽपि बलाका-स्फटिकादय उपलभ्यन्ते' इति, तदसंगतम्; तज्ज्ञानस्य अयथार्थत्वेन भ्रान्ततया निर्विषयत्वात्। तथाहि—बलाकादयः शुक्लाः सन्तः श्यामादिरूपतया उपलभ्यन्ते, न च तेषां तद्रूपं तात्त्विकमस्ति, 'तद्रूपाग्रहणेऽपि तेषां ग्रहणम्' इत्यभ्युपगमक्षतिप्रसक्तेः। न च तदा श्यामादिरूपाद् व्यतिरिक्तोऽपरः स्फटिकादिस्वभाव उपलभ्यते, श्यामादिरूपस्यैवोपलम्भात्। न च अतद्रूपा अपि बलाकादयः श्यामादिरूपेणोपलभ्यन्ते, यत आकारवशेन प्रतिनियतार्थता ज्ञानस्य व्यवस्थाप्यते, अन्याकारस्यापि तस्य अन्यार्थतायां रूपज्ञानस्यापि

---

१ पुमानिति तत्र-भां० मां०। "तयाऽऽप्रपदीनस्युकावच्छन्नशरीरे पुंसि तदा श्यामादिरूपाग्रहणेऽपि पुमान् पुमान् इति प्रत्यय प्रसूयत एव"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १८८ पं० १८।

२ "रूपादीन्दीवरादिभ्य एकान्तेन विभिद्यते। तेन तस्य व्यवच्छेदाचैत्रादेश्च तुरङ्गम ॥
क्षित्यादिरूपगन्धादेरसन्त वा विभिद्यते। एकानेकवचोभेदाच्चन्द्र-नक्षत्रभेदवत्" ॥
—तत्त्वसं० का० ५५९-५६० पृ० १८८।

३-वच्छेदकत्वेन वा० वा० भा० मां०।
"इन्दीवरादिभ्यो गुणो भिन्न इन्दीवरस्य रूपादय इत्येव तेन इन्दीवरादिना तस्य रूपादेर्व्यवच्छेदात् यथा चैत्रस्य तुरङ्गम इति चैत्रेण स्वाम्यन्तरेभ्यो व्यवच्छिद्यमानस्तुरङ्गमस्ततो भिद्यते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १८८ पं० २७।

४-वच्छेदकत्वेन वा० वा० भा० मां०। ५-यन्ते च वा० वा० भा० मां०।

६ "विभिन्नकर्तृशक्त्यादेर्भिन्नौ तन्तुपटौ तथा। विरुद्धधर्मयोगेन स्तम्भ-कुम्भादिभेदवत् ॥"
—तत्त्वसं० का० ५६१ पृ० १८९।

७ "स्थूलार्थासम्भवे तु स्यान्नैव वृक्षादिदर्शनम्। अतीन्द्रियतयाऽणूनां न चाणुवचनं भवेत् ॥
स्थूलवस्तुव्यपेक्षो हि सुसूक्ष्मोऽर्थस्तथोच्यते। स्थूलैक्यवस्तुभावे तु किमपेक्षाऽस्य सूक्ष्मता" ॥
—तत्त्वसं० का० ५६२-५६३ पृ० १८९।

८ गोतम-वात्स्यायन-उद्द्योतकर-श्रीधर-वाचस्पतिमिश्र-जयन्तभट्टैः अवयवादवयविनः पृथग्भावसिद्धिः सविस्तरं साधिता। तद्यथा-२-१-३३-३६ न्यायद०। २-१-३३-३६ न्यायद० वात्स्याभा० पृ० ११३-१४०। न्यायवा० पृ० २१६-२५१। प्रशस्त० कं० पृ० ४१ पं० १२-पृ० ४३। न्यायवा० ता० टी० पृ० ३८८ पं० २-पृ० ४०२ पं० ६। न्यायमञ्ज० आ० ९ पृ० ५४९ पं० ३-पृ० ५५१ पं० २१।

९ पृ० ६५८ पं० २३।

१० "ननु रक्तादिरूपेण गृह्यन्ते स्फटिकादयः। न च तद्रूपता तेषां स्वपक्षक्षयसंगते" ॥
—तत्त्वसं० का० ५६४ पृ० १८९।

११ "तद्रूपव्यतिरिक्तश्च नापरात्मोपलभ्यते। न चान्याकारधीवेद्या युक्तास्तेऽतिप्रसङ्गत ॥
—तत्त्वसं० का० ५६५ पृ० १९०।

रसविषयताप्रसक्तेः अविशेषात्। न च अन्याकारस्य अन्यविषयव्यवस्थापकत्वेऽपि तस्य परस्येष्टसिद्धिः, यतः शुक्लादय एव श्यामादिरूपेण प्रतिभान्ति तज्ज्ञानस्य भ्रान्तत्वात् न पुनस्तद्व्यतिरिक्तस्य गुणिनस्ततः सिद्धिर्भवेत्। यच्चै 'कञ्चुकावच्छन्ने पुंसि 'पुमान्' इति ज्ञानमध्यक्षम् अवयविव्यवस्थापकम्' उक्तम्, तद् अध्यक्षमेव न भवति, शब्दानुविद्धत्वात् अस्पष्टाकारत्वाच्च अपि तु रूपादिसंहतिमात्रलक्षणपुरुषविषयमनुमानमेतत् इति नातोऽवयविसिद्धिः। तथाहि—रूपादिप्रचयात्मकपुरुषहेतुकः कञ्चुकसंनिवेश उपलभ्यमानः स्वकारणमनुमापयति धूम इवाग्निम्। यच्च 'कुङ्कुमादिरक्ते वस्त्रे तद्रूपाप्रतिपत्तावपि 'वस्त्रम्' इति ज्ञानम्' तदपि प्राक्तनशुक्लरूपविनाशे सामग्र्यन्तरोपजातरूपान्तरस्य अध्यक्षेण ग्रहणे सति उत्तरकालं तत्पृष्ठभाविसमयवशात् 'वस्त्रम्' इति समुदायविषयं सांवृतं परमार्थतो निर्विषयमेव प्रत्यवमर्शज्ञानम् इत्यसिद्धमस्य प्रत्यक्षत्वम्। न चैतद् अनुमानम् पूर्वाध्यक्षगृहीतविषयत्वात् अलि(लै)ङ्गिकत्वाच्च। तत्राप्र अभिभूतं किञ्चिद् रूपं विद्यते। न चाभिभूतवस्त्ररूपस्य तदवस्थायामभावे धौतवस्त्रावस्थायां पुनः शुक्लरूपानुपलब्धिः स्यादिति वक्तव्यम्, यतः अग्न्यादिसामग्रीप्रादुर्भूतभास्वररूपस्य लोहादेः पुनः श्यामादिरूपान्तरोत्पत्तिवत् तत्रापि सामग्र्यन्तरात् शुक्लरूपोत्पत्तेरविरोधात्। न च 'प्राक्तनमेवं रूपमभिभूतत्वात् तदानुपलब्धम् पश्चाद् अभिभवाभावाद् उपलभ्यते' इत्यस्य प्रतिषेधेन 'रूपान्तरमेव प्राक्तनरूपविनाशेनोपजातमत्रोपलभ्यते' इति भवतोऽपि किं प्रमाणमिति वक्तव्यम्, अनुमानस्य सद्भावात्। तथाहि—यद् अपरित्यक्ताऽनभिभूतस्वभावं तस्य न परेणाऽभिभवः, यथा पूर्वावस्थायां तस्यैव अपरित्यक्ताऽनभिभूतस्वभावं चाभिभवावस्थायां रूपमिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। परित्यक्ताऽनभिभूतस्वभावत्वाभ्युपगमेऽपि सिद्धमस्याऽन्यत्वम् स्वभावभेदस्य भावभेदलक्षणत्वात् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्।

न च स्वतन्त्रेच्छामात्रभाविनः षष्ठीवचनभेदादेर्बाह्यवस्तुगतभेदाऽव्यभिचारित्वम् येन ततो गुण-गुणिनोर्भेदसिद्धिः स्यात्। तेन 'यद् यद्व्यवच्छिन्नम्' इत्यादिप्रयोगानुपपत्तिः[12]। यदि तु वस्तुगतभेदमन्तरेण षष्ठ्यादिवृत्तिर्न भवेत् 'स्वस्य भावः' 'षण्णां पदार्थानामस्तित्वम्', 'दाराः' 'सिकताः' इत्यादौ षष्ठ्यादेर्वृत्तिर्न स्यात् भावादेरत्र व्यतिरिक्तस्य तन्निबन्धनस्याभावात्। अथ सदुपलम्भकप्रमाणविषयत्वं धर्मान्तरं षण्णामस्तित्वमिष्यत इति न हेतोर्व्यभिचारः, न; सप्तमपदार्थप्रसक्तेः षट्पदा-

---

१ "शुक्लादयस्तथा वेद्या इत्येवं चापि संभवेत्। तस्माद् भ्रान्तमिदं ज्ञानं कम्बुपीतादिबुद्धिवत्" ॥
—तत्त्वसं० का० ५६६ पृ० १९०।

२ पृ० ६५८ पं० २५।

३ "कञ्चुकान्तर्गते पुंसि न ज्ञानं त्वानुमानिकम्। तद्धेतुसन्निवेशस्य कञ्चुकस्योपलम्भनात्" ॥
—तत्त्वसं० का० ५६७ पृ० १९०।

४ "कषायकुङ्कुमादिभ्यो वस्त्रे रूपान्तरोदयः। पूर्वरूपविनाशे हि वाससः क्षणिकत्वतः" ॥
—तत्त्वसं० का० ५६८ पृ० १९१।

५ "नाप्येतदनुमानं पूर्वप्रत्यक्षगृहीतविषयत्वादलैङ्गिकत्वाच्च"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १९१ पं० १०।

६ "पुनर्जलादिसापेक्षात् तस्मादेवोपजायते। रूपाद् रूपान्तरं शुक्लं लोहादेः श्यामतादिवत्" ॥
—तत्त्वसं० का० ५६९ पृ० १९१।

७ "तादवस्थ्ये तु रूपस्य नान्येनाभिभवो भवेत्। प्राक्तनानभिभूतस्य स्वरूपस्यानुवर्तनात्" ॥
—तत्त्वसं० का० ५७० पृ० १९१।

८–श्यादनभिभवादुप–भां० मां०। "स्यादेतत् कथमिदमवगम्यते रूपान्तरमेवोपजायते न पुनः प्राक्तनं रूपमभिभूतत्वात् प्रागनुपलब्धं सत् पश्चादभिभवाभावादुपलभ्यत इत्याह"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १९१ पं० १८।

९–स्थायास्त–वृ०। "यथा तस्यैव प्राक्तनावस्थायाम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १९१ पं० २२।

१० "षष्ठीवचनभेदादि विवक्षामात्रसंभवि। ततो न युक्ता वस्तूनां तत्स्वरूपव्यवस्थितिः ॥
तथाहि भिन्नं नैवान्यैः षण्णामस्तित्वमिष्यते। तेषां वर्गश्च नैवैकः कश्चिदर्थोऽभ्युपेयते" ॥
तत्त्वसं० का० ५७१–५७२ पृ० १९१–१९२।

११ पृ० ६५९ पं० ५। १२ पृ० ६५९ पं० ३।

१३ "संज्ञापकप्रमाणस्य विषये तत्त्वमिष्यते। षण्णामस्तित्वमिति चेत् षड्भ्योऽन्यस्ते प्रसज्यते" ॥
—तत्त्वसं० का० ५७३ पृ० १९२।

र्थाभ्युपगमो हीयेत । अथ षट्पदार्थव्यतिरिक्तानामपि धर्माणामभ्युपगमान्नायं दोषः । तथा च पदार्थप्रवेशके ग्रन्थे—"एवं धर्मैर्विना धर्मिणामुद्देशः कृतः" [प्रशस्तपादभा० पृ० २६ पं० १] इति, असदेतत्; तैस्तेषां संबन्धानुपपत्तेः तमन्तरेण च धर्म-धर्मिभावायोगात् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। न च संयोगलक्षणोऽत्र संबन्धः, संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्येष्वेव भावात् । नापि समवायस्वरूपः, सत्तावत् तस्य सर्वत्रैकत्वाभ्युपगमात्, समवायेन च सह समवायसंबन्धे द्वितीयसमवायाभ्युपगमः स्यात् तत्र चानवस्था । न च षड्भिः पदार्थैर्धर्माणामुत्पादनात् 'तेषां ते' इति व्यपदेशः, तथाभ्युपगमे बदरादयोऽपि कुण्डादिसंबन्धिनस्तथैव स्युः इति संयोगसमवायाख्यसंबन्धान्तरकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तिः । भवतु वा षण्णामस्तित्वं धर्मान्तरम् तथापि व्यभिचार एव, तदस्तित्वे अपरास्तित्वाद्यभावेऽपि 'तदस्तित्वस्य अस्तित्व-प्रमेयत्व-अभिधेयत्वानि' इति षष्ठ्यादिप्रवृत्तेः । अथ तत्रापि अपरास्तित्वाभ्युपगमस्तदाऽनवस्थाप्रसक्तिः । न चेष्टत्वाद् अदोषः, सर्वेषामपि उत्तरोत्तरधर्माधारत्वाद् धर्मित्वप्रसक्तेः "षडेव धर्मिणः प्रोक्ताः" [ ] इत्येतस्याऽनुपपत्तिः षट्पदार्थव्यतिरिक्तानामन्येषामपि वा धर्मिणामस्तित्वादीनां विशिष्टधर्माधाराणां संभवात् । न च धर्मिरूपा एव ये त एव षड्केन अवधारिता इति वक्तव्यम्, गुणादीनामनिर्देशप्रसङ्गात् न हि गुणादीनां धर्मिरूपतैव किन्तु द्रव्याश्रितत्वात् धर्मरूपत्वमपि । यस्त्वाह—"सदुपलम्भकप्रमाणगम्यत्वं षण्णामस्तित्वमभिधीयते, तच्च षट्पदार्थविषयं ज्ञानम् तस्मिन् सति 'सत्' इति व्यवहारप्रवृत्तेः । एवं 'ज्ञानजनितं ज्ञानज्ञेयत्वम्' 'अभिधानजनितम् अभिधेयत्वम्' इत्येवं व्यतिरेकनिबन्धना षष्ठी सिद्धा, न चाऽनवस्था, न च षट्पदार्थव्यतिरिक्तपदार्थान्तरप्रसक्तिः ज्ञानस्य गुणपदार्थेऽन्तर्भावात्" [ ] सोऽप्ययुक्तवादी; एवमपि अस्तित्वादेः षट्पदार्थाव्यतिरेके व्यभिचारस्य तदवस्थत्वात्, व्यतिरेके सप्तमपदार्थप्रसक्तेर्न्याय-

---

१ "षडेते धर्मिणः प्रोक्ता धर्मास्तेभ्योऽतिरेकिणः । इष्टा एवेति चेत् कोऽयं संबन्धस्तस्य तैर्मतः ॥
द्रव्येषु नियमाद् युक्ता न संयोगो न चापरः । समवायोऽस्ति नान्यश्च संबन्धोऽङ्गीकृतः परैः" ॥
—तत्त्वसं० का० ५७४–५७५ पृ० १९२ ।

२ 'पदार्थधर्मसंग्रह' नामैको ग्रन्थः प्रशस्तपादापरनाम्ना प्रशस्तदेवेन रचितो विद्यते । तथाहि—
"प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः । पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः"—प्रशस्त० कं० पृ० १ ।
अस्मिन्नेव ग्रन्थे च 'एवं धर्मैर्विना' इत्यादि उपरि निर्दिष्टं वाक्यं विद्यते । पञ्जिकाकृता कमलशीलेन टीकाकृता चाभयदेवेन स संग्रह एव पदार्थप्रवेशक इति नाम्नाऽत्र निर्दिष्टः प्रतिभाति । स च संग्रहः 'प्रशस्तपादभाष्यम्' इत्यपि प्रख्यातिं गत ।

३ एव ध–आ० विना । तथाहि पदार्थप्रवेशके ग्रन्थ (न्थे) "एवं धर्मैर्विना धर्मिणामेव निर्देशः कृत इति"
—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १९२ पं० २६ ।
"तथा च पदार्थप्रवेशकग्रन्थः एवं धर्मैर्विना धर्मिणामेव निर्देशः कृत."—प्रमेयक० पृ० १५७ द्वि० पं० ८ । "तथा च पदार्थप्रवेशकग्रन्थ.-एवं धर्मैर्विना धर्मिणामुद्देशः कृत."—स्याद्वादर० पृ० ८७८ पं० १० ।

४ "संबन्धानुपपत्तौ च तेषां धर्मो भवेत् कथम् ? । तदुत्पादनमात्राच्चेदन्येऽपि स्युस्तथाविधाः" ॥
—तत्त्वसं० का० ५७६ पृ० १९३ ।

५ "तस्याप्यस्तित्वमित्येवं वर्तते व्यतिरेकिणी । विभक्तिस्तस्य चान्यस्य भावेऽनिष्ठा प्रसज्यते" ॥
—तत्त्वसं० का० ५७७ पृ० १९३ ।

६ "अन्यधर्मसमावेशे प्राप्ता तत्र च धर्मिता । द्रव्यादेरपि धर्मित्वमस्मादेव च संमतम्" ॥
—तत्त्वसं० का० ५७८ पृ० १९३ ।

७ "ततश्च षडेते धर्मिण एव प्रोक्ता इत्येतन्नोपपद्यते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १९३ पं० २२ । पृ० ६६० टि० १३ ।

८ "षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाऽभिधेयत्वज्ञेयत्वानि" इत्यादि—प्रशस्त० कं० पृ० १६ पं० १ ।

९ "अन्यः पुनराह—षण्णामस्तित्वं हि सदुपलम्भकप्रमाणगम्यत्वम् । गम्यत्वं च षट्पदार्थविषयं विज्ञानम् तस्मिन् सति सद्व्यवहारप्रवर्तनात् । तथा ज्ञानजनितं ज्ञेयत्वम् अभिधानजनितमभिधेयत्वमिति । अतो व्यतिरेकनिबन्धना षष्ठी भवत्येव । न चाप्यनवस्था, नापि षट्पदार्थान्तरप्रसङ्ग इति । तस्यापीदं कल्पनामात्रमेव"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १९३ पं० २७–पृ० १९४ पं० ३ ।

१०. ज्ञानजनितं ज्ञानं ज्ञेयत्वम् वृ० ।

भासत्वात्। किंच, यदि एषणां पदार्थानामर्थक्रियासमर्थपदार्थस्वरूपं स्वतत्त्वं न स्यात् तदा शशशृङ्गरूपता तेषां भवेत् अर्थक्रियाऽसामर्थ्यात्, ततश्च कथं सदुपलम्भकप्रमाणगम्यता तेषाम् । अथ अर्थक्रियासमर्थं रूपं तेषां विद्यते तदा ते तद्रूपा एव, भेदान्तरप्रतिक्षेपमात्रजिज्ञासायां 'तेषामस्तित्वम्' इत्येवं यदि व्यपदेशं व्यतिरेकविभक्त्या समासादयन्ति तदा न कश्चिद् विरोधः। न हि तदव्यतिरिक्तमपि स्वरूपं बुद्ध्याऽपकृष्य ततो व्यतिरिक्तमिव अभिधीयमानं विरोधभाग् भवति, इच्छामात्रानुविधायित्वाद् वाच उत्पाद्यकथाश्रयातिसुन्दरपदार्थवचनवत् ।

भिन्नकर्तृकत्वाद्यनुमानमपि असंगतम्, यतो यदि अप्राप्तपटव्यपदेशेभ्यस्तन्तुभ्यः प्राक्तनावस्थेभ्यो भेदः पटस्यात्र साध्यते तदा सिद्धसाध्यताप्रसक्तिः सर्वभावानां क्षणिकत्वेन तद्विलक्षणपटाख्यपदार्थानुत्पादेऽपि प्रतिक्षणं भिन्नत्वात्। अथ पटावस्थायां ये तन्तवस्तेभ्यः पटस्य भेदः साध्यस्तदा हेतूनामसिद्धता न हि तदवस्थाभावितन्तुभ्यः पटस्य भेदाप्रसिद्धौ भिन्नकर्तृकत्वादयो धर्माः सिद्धिमासादयन्ति। न च तत्सिद्धिः इदानीमेव तत्सिद्धये साधनस्योपन्यासात् । न च 'तन्तवः' 'पटः' इति च संज्ञामात्रात् पदार्थानां भेदसिद्धिः, संज्ञान्तरस्य प्रयोजनान्तरवशेनापि संकेतनात्। तथाहि–योषित्कर्तृकास्तन्तवः शीतापनोदाद्यर्थाऽसमर्थाः तन्तुशब्दसमावेशभाजः, कुविन्दकर्तृका विशिष्टावस्थाप्राप्ताः प्रावरणाद्यर्थक्रियासमर्थाः पटव्यपदेशसमावेशिनस्तदर्थक्रियाप्रतिपादनाय व्यवहारिभिस्तथा तत्र संकेतकरणात् अन्यथा गौरवाऽशक्ति-वैफल्यदोषप्रसङ्गात् । तथाहि—यदि यावन्तो भावा विवक्षितैककार्यनिर्वर्तनसमर्थास्तेषु तावन्तः शब्दा निवेश्यन्ते तदा गौरवदोषः, न चैषामसाधारणं रूपं निर्देष्टुं शक्यमिति अशक्तिदोषः, उत्प्रेक्षितसामान्याकारेण निर्देशे वरं 'पटः' इत्येकयैव श्रुत्या प्रतिपादनं कृतम् न च किञ्चित् फलमस्य प्रत्येकं पृथगभिधानप्रयासस्य पश्याम इति वैफल्यदोषः। सामस्त्येन त्वभिधाने सति व्यवहारलाघवादिर्गुण इत्येकार्थक्रियाकारिषु अनेकेषु एकशब्दसंकेत उपपन्नः सकलवस्तुविवक्षायां 'जगत्' 'त्रिभुवन' 'विश्व' आदिशब्दवत्। एवम् एकवचनादिकं सांकेतिकं व्यवहारलाघवार्थमुपादीयमानं न वास्तवं तयोर्भेदं प्रसाधयति । विशिष्टावस्थाप्राप्तानां चाणूनामिन्द्रियग्राह्यत्वाद् अतीन्द्रियत्वमसिद्धमिति न अवयव्यभावे प्रतिभासविरतिप्रसक्तिर्दूषणम् न हि सर्वदैव इन्द्रियातिक्रान्तस्वरूपाः परमाणवः क्षणिकवादिभिरभ्युपगम्यन्ते तेषां सर्वदैक-

---

१ पृ० ६५९ पं० ७।

२ "प्रथमेभ्यश्च तन्तुभ्यः पटस्य यदि साध्यते। भेदः साधनवैफल्यं दुर्निवारं तदा भवेत् ॥
प्राप्तावस्थाविशेषा हि ये जातास्तन्तवोऽपरे। विशिष्टार्थक्रियासक्ताः प्रथमेभ्योऽविलक्षणाः" ॥
—तत्त्वसं० का० ५७९–५८० पृ० १५४।

३–ध्यते तत् सि–भां० मां०। "यदि प्रथमावस्थाभाविभ्योऽसमधिगतपटाख्यानेभ्यस्तन्तुभ्यः पटस्य भेदः साध्यते तदा सिद्धं साध्यते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १५४ पं० १४।

४ "एककार्योपयोगित्वज्ञापनाय पृथक्श्रुतौ। गौरवाऽशक्तिवैफल्यदोषत्यागाभिवाञ्छया ॥
साकल्येनाभिधानेन व्यवहारस्य लाघवम्। मन्यमानैः कृता येषु वागेका व्यवहर्तृभिः ॥
तेभ्यः समानकालस्तु पटो नैव प्रसिध्यति। विभिन्नकर्तृसामर्थ्यपरिमाणादिधर्मवान्" ॥
—तत्त्वसं० का० ५८१–५८३ पृ० १५४।

५ "यावता स एवायं तन्तुव्यतिरेकी पटो न सिद्धः तद्भेदस्यैव प्रसाधयितुं प्रस्तुतत्वात्"
—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १५४ पं० २७—।

६ "न च 'पटः' 'तन्तवः' इति संज्ञामात्राद् वस्तूनां भेदः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १५५ पं० १।

७ "तथाहि—तत्र यावन्तः पदार्था विवक्षितैककार्यसाधनयोग्यास्तावन्त एव शब्दाः प्रयोक्तव्या इति गौरवदोषः। न चाप्येषामसाधारणं रूपं शक्यं निर्देष्टुमित्यशक्तिदोषः । उत्प्रेक्षितसामान्याकारेण च निर्देशे वरमेकयैव श्रुत्या प्रतिपादनम् न चास्य पृथक्पृथक्प्रतिपादनप्रयासस्य किञ्चित् फलमुपलभ्यते इति वैफल्यदोषः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १५५ पं० ७–१०।

८ "सामस्त्येन त्वभिधाने कृते सति व्यवहारलाघवं गुणः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १५५ पं० ११।

९ पृ० ६५९ पं० १२ टि० ७।

१० "अन्योन्याभिसरात्वैवं ये जाताः परमाणवः। नैवातीन्द्रियता तेषामन्यानां(मन्येषां) गोचरत्वतः ॥
नीलादिः परमाणूनामाकारः कथितो निजः। नीलादिप्रतिभासा च वेद्यते चक्षुरादिधीः" ॥
—तत्त्वसं० का० ५८४–५८५ पृ० १५५।

स्वभावताविरहात् । ततः परस्परानिनिर्भोगवर्तितया सहकारिवशादुत्पन्नाः[1] परमाणव एव[2] अध्यक्ष-विषयतामुपयान्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा विजातीयानां द्रव्याऽनारम्भकत्वात् पांचकतप्तोपल-हेम-सूतादेरुपलम्भो न स्यात् । न च तत्र संयोगस्योपलभ्यता, अदृष्टाश्रयस्य तस्यापि उपलम्भाविषय-त्वात् वाय्वाकाशसंयोगवत् । ननु पौर्वापर्यादिदिग्भेदेन परमाणवो व्यवस्थिताः न च ते तद्रूपेण उपलभ्यन्त इति कथमध्यक्षतैषाम् ? न; सर्वा[3]कारानुभवेऽपि यत्रैवांशे अभ्यासादिकारणसद्भावान्नि-श्चयस्तत्रैवाध्यक्षविषयताव्यवस्थापनात् अन्यत्र तु गृहीतस्यापि व्यवहारायोग्यत्वेन निश्चयानुत्पत्तेर-गृहीतकल्पत्वात् । न[4]नु अवयव्यभावे बहुषु परमाणुषु अक्षव्यापारेण 'एकः पटः' इति कथं प्रत्ययः ? न; अनेकसूक्ष्मतरपदार्थसंवेदनतः 'एकः' इति विभ्रमोत्पत्तेः प्रदीपादौ नैरन्तर्योत्पन्नसदृशापरापर-ज्वालादिपदार्थसंवेदनेऽपि एकत्वविभ्रमवत् । न[5]नु भेदेन अनुपलक्ष्यमाणाः परमाणवः कथमध्यक्षाः ? न; विवेकेन अनवधार्यमाणस्य अनध्यक्षत्वे प्रदीपादौ पूर्वापरविभागेन अनुपलक्ष्यमाणे अनध्यक्षता-प्रसक्तेः अवयवविवेकेन वाऽगृह्यमाणोऽपि अवयवी कथं तथाप्रत्यक्षत्वेनेष्टः ?

[6]यदि च नीलादिनिर्भासे नाऽणवः प्रतिभान्ति तदा बाह्यार्थवादिना नीलादिज्ञानं निर्विषयं वाऽभ्युपगम्येत, सविषयं वा ? न तावन्निर्विषयम्, विज्ञानमात्रताप्रसक्तेः । सविषयत्वेऽपि नात्म-मात्रविषयम्, विज्ञानवादप्रसक्तेरेव । बाह्यविषयत्वेऽपि नीलादिर्विषयः स्थूलरूपतया प्रतिभासमान एकः, अनेको वा ? एकोऽपि अवयवैरारब्धः, अनारब्धो वा ? तत्र न तावत् अयमुभयरूपोऽपि एको युक्तः, स्थूलस्य एकस्वभावत्वविरोधात् । तथा[7]हि-यदि स्थूलमेकं स्यात् तदा एकदेशरागे सर्वस्य रागः प्रसज्येत, एकदेशाऽऽवरणे च सर्वस्य आवरणं भवेत् रक्ताऽरक्तयोः आवृताऽनावृतयोश्च भवदभ्युपगमेन एकत्वात् । न च परस्परविरुद्धधर्माध्यासेऽपि एकत्वं युक्तम् अतिप्रसङ्गात्, तथाऽ-भ्युपगमे वा विश्वमेकं द्रव्यं स्यात् ततश्च सहोत्पत्त्यादिप्रसङ्गः । न चैकदेशावरणे सर्वमावृतमुप-लभ्यते इत्यध्यक्षविरोधः । अनुमानविरोधोऽपि । तथाहि-यद् विरुद्धधर्माध्यासितं न तद् एकम्, यथा अश्व-महिषादिकमुपलभ्यमानाऽनुपलभ्यमानस्वरूपम्, आवृताऽनावृतस्वरूपेण च विरुद्ध-धर्माध्यासितं स्थूलमिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः । सर्वस्य एकत्वप्रसङ्गो विपर्यये बाधकं प्रमाणम् । "एकस्मिन् भेदाभावात् सर्वशब्दप्रयोगानुपपत्तिः" [ ] इति उद्द्यो-

---

१ "पौर्वापर्यविवेकेन यद्यप्येषामलक्षणम् । तथाऽप्यध्यक्षताऽबाधा पानकादाविव स्थिता" ॥
—तत्त्वसं० का० ५८६ पृ० १९५ ।

२ "तथाहि—पानके तप्तोपले सूतहेमादौ च मिश्रे परमाणव एव तथोपलभ्यन्ते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १९६ पं० २ ।

३ "सर्वेषामेव वस्तूनां सर्वव्यावृत्तिरूपिणाम् । दृष्टावपि तथैवेति न सर्वाकारनिश्चयः ॥
अकल्पनाक्षगम्येऽपि निरंशेऽर्थस्य लक्षणे । यद्भेदव्यवसायेऽस्ति कारणं स प्रतीयते" ॥
—तत्त्वसं० का० ५८७-५८८ पृ० १९६ ।

४ "समानज्वालसंभूतेर्यथा दीपेन विभ्रमः । नैरन्तर्यस्थितानेकसूक्ष्मवित्तौ तथैकधा" ॥
—तत्त्वसं० का० ५८९ पृ० १९७ ।

५ "विवेकालक्षणात् तेषां नो चेत् प्रत्यक्षतेष्यते । दीपादौ सा कथं दृष्टा किं वेष्टोऽवयवी तथा" ॥
—तत्त्वसं० का० ५९० पृ० १९७ ।

६ "एतावत्तु भवेदत्र कथमेषां न निश्चये । नीलादिपरमाणूनामाकार इति गम्यते ॥
तदप्यकारणं यस्मान्नैव ज्ञानमगोचरम् । न चैकस्थूलविषयं स्थौल्यैकत्वविरोधतः" ॥
—तत्त्वसं० का० ५९१-५९२ पृ० १९७ ।

७ "स्थूलस्यैकस्वभावत्वे मक्षिकापदमानतः । पिधाने पिहितं सर्वमासज्येताऽविभागतः ॥
रक्ते च भाग एकस्मिन् सर्वं रज्येत रक्तवत् । विरुद्धधर्मभावे वा नानात्वमनुषज्यते" ॥
—तत्त्वसं० का० ५९३-५९४ पृ० १९८ ।

तंकरः। तथाहि-सर्वशब्दोऽनेकार्थविषयः, न च अवयवी नानात्मा इति कथं तत्र सर्वशब्दप्रयोगः येन एकदेशावरणे सर्वावरणप्रसक्तिरित्युच्येत? असदेतत्; यतो य एव वस्त्रादयो भावा लोके प्रसिद्धास्त एव भवद्भिरपि अवयवित्वेन कल्पिताः, तत्र च 'सर्वं वस्त्रं रक्तम्' इत्यादिको लोके सर्वैकशब्दप्रयोगः प्रसिद्ध एवेति कथं तत्र तत्प्रयोगानुपपत्तिः? यदर्थविवक्षायां रक्तादिशब्दप्रयोगो लोके तस्यामेव अस्माभिरपि तत्प्रतीतिमनुसृत्य भवतां विरोधप्रतिपादनाय 'सर्व'आदिशब्दप्रयोगः क्रियते इति कथमस्यानुपपत्तिः? किञ्च, स्थूलस्य एकत्वमभ्युपगच्छतो भवत एव अयं दोषः नास्माकम् तदनभ्युपगमात् । न च पटकारणेषु तन्तुषु उपचारतः पटाभिधानप्रवृत्तेः 'सर्व'आदिशब्दप्रयोगानुपपत्तिदोषः परस्यापि न भविष्यतीति वक्तव्यम्, एवं सर्वदैव बहुवचनप्रयोगापत्तेः । न हि भवदभ्युपगमेन बहुषु एकवचनमुपपत्तिमत् । न च अवयविगतां संख्यामादाय पटादिशब्दस्तदवयवेषु तन्त्वादिषु अपरित्यक्तात्माभिधेयगतलिङ्गादिर्वर्तत इति वाच्यम्, अस्य व्यपदेशस्य गौणत्वे स्खलद्वृत्तितयाऽगौणाद् भेदप्रसक्तेः न चासावस्ति । तथाहि—'रक्तं सर्वं वस्त्रम्' इत्यत्र नेयं बुद्धिः-'न वस्त्रं रक्तम्, किन्तु तत्कारणभूतास्तन्तवः' इति । किञ्च, भेदेनोपलब्धयोर्गो-वाहीकयोर्मुख्योपचरितशब्दविषयता संभवति । न च अवयवाऽवयविनोः कदाचिद् भेदेनोपलब्धिरिति नात्रोपचरितशब्दप्रयोगो युक्तः ।

शंकरस्वामी अत्राह—"'वस्त्रस्य रागः' कुङ्कुमादिद्रव्येण संयोग उच्यते, स च अव्याप्यवृत्तिः तत एकत्र रक्ते न सर्वस्य रागः न च शरीरादेरेकदेशावरणे सर्वस्य आवरणं युक्तम्" [ ], इति, असदेतत्; यतो यदि पटादिर्निरंशमेकं द्रव्यम् तदा किं कुङ्कुमादिना तत्र अव्याप्तम् येन

---

१ एतदुद्द्योतकरमतं वार्तिके शब्दान्तरेणेत्थं प्रतिभाति—"यत् पुनरेतद् अवयवी अवयवेषु वर्तमान एकदेशेन वर्तेते कृत्स्नो वा वर्तेत इति ? तत्र एकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ॥ ११ ॥

एकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः । कृत्स्नमिति च एकदेश इति च भेदविषयावेतौ शब्दौ, न चैतावेकस्मिन्नुपपन्नौ—अनेकस्याशेषता कृत्स्नशब्दस्यार्थं अशेषस्य कस्यचिदभिधानमेकदेशशब्दस्य । न चैतद् इहोपपद्यते इति । तस्मान्नावयविनि कृत्स्नशब्दो नाप्येकदेशशब्द इति"—४-२-११ न्यायवा० पृ० ५०५ पं० ४-१२ ।

"एकस्मिन् कृत्स्नैकदेशशब्दासंभवादप्रश्नः" इत्याद्यपि अवयवसाधनवार्तिकमत्रावगन्तव्यम्—न्यायवा० पृ० २१४ पं० १३—।

"उद्द्योतकरस्त्वाह—एकस्मिन् भेदाभावात् सर्वशब्दप्रयोगानुपपत्तिरिति"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १९८ पं० १४ ।

२ "ननु चैकस्वभावत्वात् सर्वशब्दोऽत्र किंकृतः । स ह्यनेकार्थविषयो नानात्मावयवी न च" ॥

—तत्त्वसं० का० ५९५ पृ० १९८ ।

३ "ननु ये लोकतः सिद्धा वासो-देह-नगादयः । त एवावयवित्वेन भवद्भिरुपवर्णिताः ॥
रक्तं वासोऽखिलं सर्वं निःशेषं निखिलं तथा । तत्रेच्छामात्रसंभूतमिति सर्वे प्रयुञ्जते ॥
तथाविधविवक्षायामस्माभिरपि वर्ण्यते । सर्वं स्याद् रक्तमित्यादि निर्निबन्धा हि वाचकाः" ॥

—तत्त्वसं० का० ५९६-५९८ पृ० १९८ ।

४ "तत्र च लोके सर्वैकदेशशब्दयोः प्रवृत्तिः प्रसिद्धैव । तथा च वक्तारो भवन्ति—सर्वं वासो रक्तमित्यादेः"

—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १९९ पं० १ ।

५ "अपि च भवत एवायं स्थूलस्यैकत्वमभ्युपगच्छतो दोषः नास्माकम् न हि अस्माभिः स्थूलस्यैकत्वमिष्यते"

—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १९९ पं० ४-५ ।

६ "भाक्तं तदभिधानं चेद् वचोभेदः प्रसज्यते । न च बुद्धेर्विभेदोऽस्ति गौण-मुख्यतयेष्टयोः" ॥

—तत्त्वसं० का० ५९९- पृ० १९९ ।

७ "ननु चेत्यादिना शंकरस्वामिनः परिहारमाशङ्कते—
" ननु चाव्याप्यवृत्तित्वात् संयोगस्य न रक्तता । सर्वस्यासज्यते नापि सर्वमावृतमीक्ष्यते" ॥

—तत्त्वसं० का० ६०० पृ० १९९ ।

८ "ननु चानंशके द्रव्ये किमव्याप्तं व्यवस्थितम् । स्वरूपं तदवस्थाने भेदः सिद्धोऽत एव वा ॥
बहुदेशस्थितिस्तेन नैकस्मिन् कृतास्पदा । ततः सिद्धा पटादीनामणुभ्योऽनेकरूपता" ॥

—तत्त्वसं० का० ६०१-२ पृ० १९९-२०० ।

पटादि नि—वा० बा० । "यदि हि पटादिरेकमेव द्रव्यम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०० पं० ३ ।

संयोगोऽव्याप्यवृत्तिर्भवेत्? अथ अव्याप्तमपि किञ्चिद् रूपं तत्रावस्थितं तदा तयोर्भेदः व्याप्ताऽव्याप्तयोर्विरुद्धधर्माध्यासत एकस्वभावत्वायोगात्। न च पृथुतरदेशावस्थानमेकस्य युक्तम् निरंशत्वात्, अन्यथा सर्वत्र स्थूलसूक्ष्मादिभेदो न स्यात् एकत्वेन अविशेषात्। न चाल्पबह्ववयवारम्भादिकृतोऽसौ विशेषोऽवयवानाम् तथाभेदेऽपि अवयविनां निरंशतया परस्परं विशेषाभावात्, अवयवाल्पबहुत्वग्रहणकृते च स्थूलादिव्यवहारे अवयवमात्रमेव अभ्युपगतं दृश्यत्वेन स्यात् स्थूलादिव्यतिरेकेण अन्यस्य अदृश्यमानत्वात्। किञ्च, अवयवाल्पबहुत्वकृते तथाभेदे अवयवा एव तथा तथा उत्पद्यमाना अल्पबहुतराः स्थूलसूक्ष्मादिव्यवस्थानिबन्धनं भविष्यन्ति किं तदारब्धावयविकल्पनया तस्य कदाचिदपि अदृष्टसामर्थ्यत्वात्? किञ्च, अव्याप्यवृत्तिः संयोग इति यदि 'सर्वं द्रव्यं न व्याप्नोति' इत्ययमर्थस्तदा द्रव्यस्य 'सर्व'शब्दाविषयत्वाभ्युपगमाद् अयुक्तः। अथ तदेकदेशवृत्तिः, तदसंगतम्; तस्य एकदेशासंभवात्। न च 'तदारम्भके अवयवे वर्तते' इत्यर्थप्रकल्पना, अवयवानामेव रक्तत्वात् तदवयविरूपस्य अरक्तत्वप्रसक्तेर्युगपद् रक्ताऽरक्तरूपद्वयोपलब्धिः प्रसज्येत। किञ्च, तदारम्भकोऽपि अवयवो यदि अवयविरूपस्तदा संयोगस्य अव्याप्यवृत्तितया तत्रापि एकदेशवृत्तित्वमिति तुल्यः पर्यनुयोगः। अथ अणुरूपस्तदा अणूनामतीन्द्रियत्वात् तदाश्रितः संयोगोऽप्यतीन्द्रिय एवेति न रक्तोपलम्भो भवेत्। न च यथा अङ्गुलिरूपस्य आश्रयोपलब्धावेवोपलब्धिर्व्याप्तिस्तथा संयोगस्य आश्रयोपलब्धावेवोपलब्धिर्न विद्यते इति अव्याप्यवृत्तिरसावुच्यते इति वक्तव्यम्, संयोगस्यापि आश्रयानुपलब्धावनुपलब्धेः अन्यथा घट-पिशाचसंयोगस्यापि उपलब्धिः स्यात्। एवं च अङ्गुलिरूपवद् रागस्यापि अदृष्टाश्रयस्य अनुपलब्धेराश्रयोपलब्धावेवोपलब्धिरिति व्याप्यवृत्तिरसावपि स्यात्। अथ अरक्तेष्ववयवेषु समवेतस्य द्रव्यस्योपलब्धावपि न रागस्य संयोगस्वभावस्योपलब्धिरित्याश्रयोपलब्धौ नास्योपलब्धिरित्यव्याप्यवृत्तित्वम्, न; रक्तारक्तावयवसमवेतस्य अवयविन एकत्वात् रक्तेऽप्यवयवे रागस्य तद्वारेण अनुपलब्धिप्रसङ्गात् आश्रयोपलम्भेऽपि तस्याऽनुपलम्भात्। न चान्यः संयोगग्रहणोपायः आश्रयोपलम्भात् समस्ति ततो नैकरूपो विषयो युक्तः। अनेकरूपोऽपि अणुसंचयात्मक एव सामर्थ्यात् सिद्धः विद्यमानावयवस्य एकत्वायोगात्। ततः पटादीनां परमाणुरूपत्वाद् नीलादिः परमाणूनामाकारः सिद्धः स्थूलरूपस्यैकस्य अपरस्य विषयस्यासंभवात्। न च 'परमाणुः' इति व्यपदेशः स्थूलस्यैकस्याऽभावे अयुक्तः, कल्पितस्थूलापेक्षयाऽपि तद्व्यपदेशस्य संभवात्। ततो न स्थूलमेकं द्रव्यमवयवाऽनारब्धमपि घटते तदारब्धं तु सुतरामसंभवि। तथा च–यद् अनेकम् न तद् एकद्रव्यानुगतम्, यथा घट-कुट्यादयः, अनेके च तन्त्वादयः इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। यद्वा–यद् एकम् न तद् अनेकद्रव्याश्रितम्, यथा एकपरमाणुः, एकं च अवयविसंज्ञितं द्रव्यमिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिप्रयोगः प्रसङ्गसाधनरूपः। प्रयोगद्वयेऽपि अवयविनोऽवयवेषु वृत्त्यनुपपत्तिर्विपर्यये बाधकं प्रमाणम्। सा च एकावयवकोडीकृतेन वा स्वभावेन

---

१ "तेषामवयवाल्पबहुत्वग्रहणकृते विशेषेऽवयवमात्रमेवाभ्युपगतं स्यात् तत्रैव स्थूलादिव्यवहारात् ततश्चाणुमात्रमेव दृश्यत्वेनाभ्युपेतं स्यात्। स्थूलसूक्ष्मा(क्ष्म?)व्यतिरेकेणान्यस्य(स्या?)दृश्यमानत्वात्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०० पं० ११–१३।

२-लब्धिर्व्या–बा० बा० आ०। "स्यान्मतं यथा व्याप्तिरङ्गुलिरूपस्याश्रयोपलब्धावेवोपलब्धिरुच्यते" —तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०० पं० १९–२०।

३ पृ० ६५९ पं० १२ टि० ७।

४ "अविज्ञातार्थतत्त्वस्तु पिण्डमेकं च मन्यते। लोकस्तत्कल्पितापेक्षः परमाणुरिहोच्यते॥
निमित्तनिरपेक्षा या संज्ञेयं तादृशि स्थिता। सङ्केतान्वयिनी यद्वदिविदितेऽपीश्वरश्रुतिः"॥
—तत्त्वसं० का० ६०३–६०४ पृ० २०१।

५ "एकावयव्यनुगता नैव तन्तु-करादयः। अनेकत्वाद् यथा सिद्धाः घट-कुट्य-कुटादयः॥
यदि वाभिमतं द्रव्यं नानेकावयवाश्रितम्। एकत्वादणुवद् इत्येत्युक्तिर्बाधिका प्रमा"॥
—तत्त्वसं० का० ६०५–६०६ पृ० २०१।

६ "तदपेक्ष्यवृत्तिभाजैव रूपेणावयवान्तरे। वर्तेत यदि वाऽन्येन न प्रकारान्तरं यतः॥
तत्र तेनैव नान्यत्र वृत्तिरस्यावकल्प्यते। तेन क्रोडीकृतत्वेन नान्यथा तत्र वृत्तिमत्"॥
—तत्त्वसं० का० ६०७–६०८ पृ० २०१–२०२

अवयवी अवयवान्तरे वर्तते, उत स्वभावान्तरेण प्रकारान्तरासंभवात्? यदि तेनैव इति पक्षः, स युक्तः; तस्य तेनैव अवयवेन क्रोडीकृतत्वात् अन्यत्र वर्तितुमशक्तेः, शक्तौ वा तत्राऽवयवे सर्वात्मना वृत्त्यनुपपत्तिः अपरस्वभावाभावाच्च तस्य अपरावयववृत्तिस्वभावः, तद्भावे वा हानिप्रसक्तेः। तथाहि-यत् एकक्रोडीकृतम् न तत् तदैव अन्यत्र प्रवर्तते, यथा एकभाजनक्रोडीकृतमाम्रादि न तदैव भाजनान्तरमध्यमध्यास्ते, एकावयवक्रोडीकृतं च अवयविस्वरूपम् इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। एकावयवसंबद्धस्वभावस्य अतद्देशावयवान्तरसंबद्धस्वभावताऽभ्युपगमे तदवयवानामेकदेशताप्रसक्तिर्विपर्यये बाधकं प्रमाणम्। एकदेशतायां च ऐकात्म्यम् अविभक्तरूपत्वात्, विभक्तरूपावस्थितौ च एकदेशत्वं न स्यात्। अथ स्वभावान्तरेण अवयवान्तरे वृत्तिस्तदा एकोऽनेकवृत्तिर्न स्यात् स्वभावभेदात्मकत्वाद् वस्तुभेदस्य अन्यथा तदयोगात्।

"'अवयवी अवयवेषु वर्तते' इति समवायरूपा प्राप्तिरुच्यते" [ ] इति उद्योतकराऽभ्युपगमेऽपि 'किमेकावयवसमवेतेनैव स्वभावेन अवयवान्तरेषु वर्तते, अथ अन्येन' इति विचारः समान एवेति कृत्स्नैकदेशशब्दानुच्चारणेऽपि वृत्त्यनुपपत्तिर्युक्ता, तदुच्चारणेऽपि सा युक्तैव। तथाहि-यदि सर्वात्मना प्रत्येकमवयवेषु अवयवी वर्तेत तदा यावन्तोऽवयवास्तावन्त एव

---

१ "नैव धाम्यन्तरक्रोडमध्यास्ते हि यथा शिशुः। एकक्रोडीकृतं द्रव्यं नाश्रयेत तथाऽपरम्" ॥

—तत्त्वसं० का० ६०९ पृ० २०२।

२ "तत्संबद्धस्वभावस्य ह्यतद्देशेऽपि वृत्तितः। प्राप्तं तदेकदेशत्वमैकात्म्यं चाविभागतः ॥
अन्येनैवात्मना वृत्तौ नैकोऽनेकव्यवस्थितः। सिध्येत् स्वभावभेदस्य वस्तुभेदात्मकत्वतः" ॥

—तत्त्वसं० का० ६१०–६११ पृ० २०२।

३ "तस्माद् आश्रयाश्रितधर्मिनिर्देशमात्रमवयव्यवयवेषु वर्तत इति। का पुनरियं वृत्तिः? एकस्यानेकत्राश्रयाश्रितभावलक्षणा प्राप्तिः"—न्यायवा० पृ० २१४ पं० २२—तथा पृ० ५०५ पं० २०।

"उद्योतकरस्त्वाह—आश्रयाश्रितधर्मनिर्देशमात्रमेतत् अवयव्यवयवेषु प्रवर्तत इति। आश्रितभावलक्षणा हि समवायरूपा प्राप्तिरुच्यत इति।"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०२ पं० २६—।

४ "समवायात्मिका वृत्तिस्तस्य तेष्विति चेन्ननु। तस्यामपि विचारोऽयं कोपेनैव प्रधावति" ॥

—तत्त्वसं० का० ६१२ पृ० २०३।

५ "यद्वा सर्वात्मना वृत्तावनेकत्वं प्रसज्यते। एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न क्वचिच्च सः" ॥

—तत्त्वसं० का० ६१३ पृ० २०३।

"अपि चैकोऽनेकत्र वर्तत इति प्रतिजानानो नानुयोक्तव्यः कस्मात्? उभयेन व्याघातात्-एकमनेकत्र वर्तते इति ब्रुवाणः किमेकदेशेन वर्तते उत सर्वात्मना इति नानुयोक्तव्यः। कस्मात्? उभयेन व्याघातात् यदि एकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्यवयवं सर्वात्मना वर्तते नैकमनेकत्र वर्तते अनेकमनेकत्र वर्तत इत्यापन्नम्। एवं चानुयोगेऽधिकरणव्याघातः। अथैकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्यवयवमेकदेशेन वर्तते तथापि नैकमनेकत्र वर्तत इति प्राप्तम् अनेकमनेकत्र वर्तत इत्यापन्नम्। ये च त(त्र) एकदेशाः प्रत्येकमवयवेषु वर्तन्ते तेऽवयविन इति प्राप्तम्। एतस्मिन् पक्षे नैकमनेकत्र वर्तते किं तर्हि? अनेकमनेकत्रेति। अथ प्रत्येकं परिसमाप्त्या वर्तत इति अयमर्थोऽनेकमनेकत्र वर्तत इति" इत्यादि—न्यायवा० पृ० २१५ पं० ३–१३। तथा

"कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥ ७ ॥

अवयवा अवयविनि वर्तमानाः कृत्स्नेन वर्तन्ते एकदेशेन वा? तत्र तावदवयवा अवयविनि कृत्स्ने न वर्तन्ते अवयवावयविनोः परिमाणभेदात्। अल्पपरिमाणोऽवयवो महापरिमाणश्चावयवीति अल्पपरिमाणेन महापरिमाणस्याव्याप्तिः एकद्रव्यश्च अवयवः प्राप्नोति एकावयविवृत्तित्वात्। न चैकद्रव्यं द्रव्यमविनश्यदाधारमस्ति। नापि अवयव्येकदेशेन वर्तते न हि अस्यान्ये अवयवा एकदेशभूताः सन्ति। तस्मिन्नपि चैकदेशेन वर्तमानोऽवयवः किमेकदेशेन वर्तते कृत्स्नेन वेति पूर्ववत् प्रसङ्गः" इत्यादि

—न्यायवा० पृ० ५०३ पं० ९–१९।

अवयविनः प्रत्यवयवमेकदेशेन वृत्तिः कार्त्स्न्येन वा प्रकारान्तराभावात्? न तावदेकदेशेन वृत्तिः अवयवव्यतिरेकेणा- [illegible]त्। कार्त्स्न्येन वृत्तौ वा अवयवान्तरे वृत्त्यभावः एकावयवसंसर्गावच्छिन्ने स्वरूपे अवयवान्तराणामनवकाशात् [illegible] नास्य स्वरूपान्तराभावात्" इत्यादि—प्रशस्त० कं० पृ० ४२ पं० १७–२०।

अवयविनः स्युः स्वभावभेदमन्तरेण प्रत्यवयवं तस्य सर्वात्मना वृत्त्यनुपपत्तेः। एवं च युगपदनेककुण्डादिव्यवस्थितबिल्वादिवद् अनेकावयव्युपलब्धिप्रसक्तिः। अथ एकदेशेन असौ तेषु वर्तते इति पक्षस्तदा अनवस्थाप्रसक्तिः तेषु अपि अवयवेषु वृत्तौ अपरैकदेशवृत्तिकल्पनया। अथ यैरेकदेशैरवयवी अवयवेषु वर्तते ते तस्य स्वात्मभूता इति नानवस्था तर्हि तद्वत् पाण्यादयोऽपि अवयवास्तस्य स्वात्मभूताः किं नाऽभ्युपगम्यन्ते? तथाऽभ्युपगमे चापरावयवप्रकल्पना न स्यात् अवयवप्रचयात्मकत्वात् तस्य।

नन्विदं प्रसङ्गसाधनम्, स्वतन्त्रसाधनं वा? स्वतन्त्रसाधने अवयविनोऽप्रसिद्धेराश्रयासिद्धत्वादिर्दोषः। न च वृत्त्या परस्य सत्त्वं व्याप्तम् येन तन्निवृत्तौ तत्सत्त्वव्यावृत्तिर्भवेत् वृत्त्यभावेऽपि रूपादे परेण सत्त्वाभ्युपगमात्। एकदेशेन सर्वात्मना वा अवयविनो वृत्तिप्रतिषेधे विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानलक्षणत्वात् प्रकारान्तरेण वृत्तिरभ्युपगता स्यात्। यथा च वृत्तिद्वयमुपलम्भादभ्युपगम्यते तथा अवयविनि वृत्तेरुपलम्भात् प्रकारान्तरेण असौ किं नाभ्युपगम्यते? वृत्तिश्च समवायः तस्य सर्वत्रैकत्वात् निरवयवत्वाच्च कृत्स्नैकदेशशब्दाविषयत्वम्। अथ प्रसङ्गसाधनम् तदपि अवयविनः वृत्तेश्च अनुपलम्भेऽयुक्तम्। न च परस्य भवतो वा कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यामनेकस्मिन् एकस्य वृत्तिरुपलब्धिगोचरः यस्या असंभवाद् अवयविद्रव्यमसत् स्यात्। अथ एवंभूता वृत्तिः क्वचिद् उपलब्धा तदा अवयविन्यपि सा भविष्यतीति न तत्प्रतिषेधो युक्तः, वृत्तिमात्रस्य चानुपलम्भे 'एकदेशेन सर्वात्मना वा' इति विशेषप्रतिषेधोऽनुपपन्नः सिद्धे धर्मिणि तस्योपपत्तेः धर्म्यसिद्धौ च तस्यैव प्रतिषेधो विधेयः तेनैतावदेव वक्तव्यम् 'वृत्तिरेव नास्ति' इति, न चैतदपि युक्तम्; अध्यक्षत एव अवयवेषु अवयविनो वृत्तिसिद्धेः। तथाहि—इन्द्रियव्यापारे सति 'इह तन्तुषु पटः' इति बुद्धिरबाधितरूपोपजायत एव। न च अबाधितरूपाया अस्या अप्रत्यक्षत्वं युक्तम् रूपादिस्वलक्षणग्राहिणोऽप्यध्यक्षस्य अनध्यक्षताप्रसक्तेः—अविशेषात्, असदेतत्, यतो नेदमस्माभिः स्वतन्त्रसाधनमभिधीयते किन्तु प्रसङ्गसाधनम्, तस्य च 'व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः व्यापकनिवृत्तिर्वा व्याप्यनिवृत्त्यविनाभाविनी' इत्येतत्प्रदर्शनफलस्य प्रवृत्तिर्युक्तैव। व्याप्यव्यापकभावसिद्धिश्चात्र लोकप्रसिद्धैव भवताऽभ्युपगमनीया। लोकश्च कस्यचित् सर्वात्मना वृत्तिं कुत्रचिदभ्युपगच्छति, यथा-श्रीफलस्य कुण्डादौ, क्वचिच्च कस्यचिद् एकदेशेन, यथा-अनेकपीठाधिशयितस्य चैत्रादेः। यत्र च प्रकारद्वयं वृत्तेर्व्यावृत्तं तत्र वृत्तेरभाव एव कथं न व्याप्तिसिद्धिर्येनात्र प्रसङ्गसाधनस्यावकाशो न स्यात्? निरस्ता च प्रागेव अनेकस्मिन् एकस्य वृत्तिः न पुनः प्रतिपाद्यते। यच्च अध्यक्षत एव वृत्तिः सिद्धा 'इह इदम्' इति अक्षानुसारिबुद्ध्युत्पत्तेः, तदप्यसंगतम्; यतो न 'इह तन्तुषु पटः' इतिविकल्पिकाऽपि लोके बुद्धिः प्रवर्तते किं तर्हि? 'पटे तन्तवः' इति। न चाऽध्यक्षे तन्तुसमवेतं व्यतिरिक्तं पटादिद्रव्यमवभासते। न च विवेकेन अप्रतिभासमानस्य 'इह

१-मे चाप-धा० बा०। "एवं हि सति एकोऽवयवी न स्याद् अवयवप्रचयमात्ररूपत्वात् तस्य तथा च सति हस्तपाण्यादिसमुदायमात्रात्मक एवास्तां वस्तु किमपरैस्तस्य स्वात्मभूतैरवयवैः परिकल्पितैः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०३ पं० १८-।

२ " 'स्वातन्त्र्येण' इत्यादिना शङ्करस्वामिनः परिहारमाशङ्कते—

स्वातन्त्र्येण प्रसङ्गेन साधनं यत् प्रवर्तते। स्वयं तदुपलब्धौ हि सत्त्वां सगच्छते न तु॥

न च कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यां वृत्तिः क्वचन लक्षिता। यस्या असंभवाद् द्रव्यमसत् स्यादपरोऽपि च॥

दृष्टौ वा क्वचिदेतस्या द्रव्यादावनिवारणम्। अथ तस्मिन्नदृष्टौ तु भेदे प्रश्नो न युज्यते॥

एतावत् तु भवेद् वाच्यं वृत्तिर्नास्तीति तच्च न। युक्तं प्रत्यक्षतः सिद्धेरिहेदमिति बुद्धितः॥

प्रत्यक्षं न तदिष्टं चेद् बाधकं किञ्चिदुच्यताम्। रूपादिचेतसोऽपि स्यादेव प्रत्यक्षताऽन्यथा"॥

—तत्त्वसं० का० ६१४-६१८ पृ० २०३-२०४।

३-दिर्दोषः पृ० आ०। "स आह—स्वातन्त्र्येण प्रसङ्गमुखेन वा यत् साधनं क्रियते तत् स्वयमुपलब्धौ सत्त्वां गच्छते अन्यथा ह्यसिद्धता दोषः स्यात्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०४ पं० ७-८।

४ "तदत्र वृत्तिर्नास्तीति प्रागभेदेन साधितम्। इहेत्यस्ति न च ज्ञानं तद्रूपाप्रतिभासनात्"॥

—तत्त्वसं० का० ६११ पृ० २०४।

५ पृ० ६६६ पं० १३। ६ प्र० पृ० पं० १८।

इदं वर्तते' इति बुद्धिविषयता न हि विवेकेन अप्रतिभासमाने कुण्डादौ बदरादिके 'इह कुण्डे बदराणि' इति प्रत्ययः प्रादुर्भवति। यदपि 'कात्स्न्यैकदेशाभ्यां वृत्तिर्न कचिदुपलक्षिता' इति, तदप्यसंगतम्; बदरादेः कुण्डादौ सर्वात्मना, वंशादेरेकदेशेन स्तम्भादौ वृत्तेरुपलक्षणात्। यदपि उक्तमुद्द्योतकरेण—"एकस्मिन् अवयविनि कृत्स्नैकदेशशब्दप्रवृत्त्यसंभवात् अयुक्तोऽयं प्रश्नः—'किमेकदेशेन वर्तते, अथ कृत्स्नो वर्तते' इति। 'कृत्स्नम्' इति हि खल्वेकस्य अशेषाभिधानम्, 'एकदेशः' इति च अनेकत्वे सति कस्यचिदभिधानम्, ताविमौ कृत्स्नैकदेशशब्दौ एकस्मिन्नवयविनि अनुपपन्नौ" [२-१-३२ न्यायवा०] इति, तदपि प्रत्युक्तं प्राक्तनन्यायेनैव। तथा च 'कृत्स्नः पटः कुण्डे वर्तते, एकदेशेन वा' इत्येवं पटादिषु कृत्स्नैकदेशशब्दप्रवृत्तिर्दृश्यत एव। न चेयमुपचरिता, अस्खलद्वृत्तित्वात्। न च शब्दप्रवृत्त्यनुपपत्तिमात्रप्रेरणया वस्त्वर्थस्य प्रतिषेधः शक्यते विधातुम्, तत्र तच्छब्दाप्रवृत्तावपि व्याप्त्यव्याप्तिशब्दयोः प्रवृत्त्युपपत्तेः। तथाहि—'अवयवी अवयवेषु वर्तमानः प्रत्यवयवं किं व्याप्त्या वर्तते, उत अव्याप्त्या' इत्येवं विवक्षितार्थाभिधाने न कंचिद् दोषमुत्पश्यामः। तत्र नित्यानित्यरूपपृथिव्यादिचतुःसंख्यं द्रव्यमुपपत्तिमत्।

आकाशाख्यैकनित्यद्रव्यप्रसिद्धये शब्दं गुणत्वाल्लिङ्गत्वेन प्रतिपादयन्ति। तथा च परेषां प्रयोगः—ये विनाशित्वोत्पत्तिमत्त्वादिधर्माध्यासिताः ते क्वचिद् आश्रिताः, यथा घटादयः, तथा च शब्दाः, तस्मादेभिराश्रितैः क्वचिद् भवितव्यम्, यश्चैषामाश्रयः स पारिशेष्याद् आकाशः। तथाहि—नायं शब्दः पृथिव्यादीनां वायुपर्यन्तानां गुणः, अध्यक्षग्राह्यत्वे सति अकारणगुणपूर्वकत्वात्, ये तु पृथिव्यादीनां चतुर्णां गुणास्ते बाह्येन्द्रियाध्यक्षत्वे सति अकारणगुणपूर्वका न भवन्ति, यथा रूपादयः, न च तथा शब्दः। एवम् 'अयावद्द्रव्यभावित्वात्' 'आश्रयाद् मेर्यादेरन्यत्रोपलब्धेश्च' इत्यादयो हेतवो द्रष्टव्याः। स्पर्शवतां यथोक्तविपरीता गुणा उपलब्धाः। 'प्रत्यक्षत्वे सति' इति च विशेषणं परमाणुगतैः पाकजैः अनैकान्तिकत्वं मा भूत् इत्युपात्तम्। न च आत्मगुणः अहंकारेण विभक्तग्रहणात् बाह्येन्द्रियाध्यक्षत्वात् आत्मान्तरग्राह्यत्वाच्च, बुद्ध्यादीनामात्मगुणानां तद्वैपरीत्योपलब्धेः। न दिक्-काल-मनसाम् श्रोत्रग्राह्यत्वात्। अतः पारिशेष्याद् गुणो भूत्वा आकाशस्य लिङ्गम्। आकाशं च शब्दलिङ्गाविशेषात् विशेषलिङ्गाभावाच्च एकम् विभु च सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् समवायित्वे सति अनाश्रितत्वाच्च द्रव्यम्, अकृतकत्वान्नित्यम्।

पराऽपरव्यतिकर-यौगपद्याऽयौगपद्य-चिर-क्षिप्रप्रत्ययलिङ्गः कालो द्रव्यान्तरम्। तथाहि—

---

१ पृ० ६६७ पं० १३ तथा पं० ९ टि० २।

२ "कृत्स्नैकदेशशब्दाभ्यामयं चार्थ. प्रकाश्यते। नैरवयेनास्य किं वृत्तिः किं वा तस्यान्यथैव सा॥
यथा पात्रादिसंस्थस्य श्रीफलादेर्यथाऽथवा। अनेकासनसंस्थस्य चैत्रादेरुपलक्षिता"॥
—तत्त्वसं० का० ६२०-६२१-पृ० २०५।

३ "एकस्मिन् कृत्स्नैकदेशशब्दासंभवादप्रश्न'-किमवयव्येकदेशेन वर्तते अथ कृत्स्नेनैव वर्तत इति न युक्त' प्रश्न'-नावयवी कृत्स्नो नैकदेशः। कृत्स्नमिति खलु अनेकस्याशेषस्याभिधानम्। एकदेश इति चानेकत्वे सति कस्यचिदभिधानम्। ताविमौ कृत्स्नैकदेशशब्दावेकस्मिन्ननुपपन्नौ"इत्यादि—न्यायवा० पृ० २१४ पं० १३—। तथा पृ० ५०५ पं० ६-१२।
"वृत्त्यनुपपत्तेश्च नैकत्रावयवे कात्स्न्येनावयवी वर्तते। तेष्वपि कथं वर्तते? अन्यैरेकदेशैः तेष्वपि अन्यैरिति नास्त्यन्त." इत्यादि—न्यायमञ्ज० आ० ९ पृ० ५४९ पं० १२-१३।

४ "एवं वायुपर्यन्तं चतुर्विधं द्रव्यमपास्तम् आत्माख्यं तु प्रागेवात्मपरीक्षायां निरस्तम्। इदानीमाकाश-काल-दिग्-मनसां प्रतिषेधार्थमाह—"तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०५ पं० २०।

५ "समाश्रिताः क्वचिच्छब्दा विनाशित्वादिहेतुत'। घट-दीपादिवत् तच्च किल व्योम भविष्यति"॥
—तत्त्वसं० का० ६२२ पृ० २०५।

६ "आदित्यादिक्रियाद्रव्यव्यतिरेकनिबन्धनम्। परापरादिविज्ञानं घटादिप्रत्ययो यथा॥
वलीपलितकार्कश्यगत्यादिप्रत्ययादिदम्। यतो विलक्षणं हेतु. स च कालः किलेष्यते"॥
—तत्त्वसं० का० ६२३-६२४ पृ० २०६।

७ "द्रव्यशब्देन वलीपलितादयो ग्रहीतव्या.। पर' पिता अपरः पुत्र. युगपत् चिरम् क्षिप्रम् क्रियते कृतं करिष्यते इ० परापरादिज्ञानम्" इत्यादि—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०६ पं० १४-१५।

'परः पिता' 'अपरः पुत्रः' [illegible] 'अयुगपत्' वा तथा, 'चिरम्' 'क्षिप्रम्' वा 'कृतम्' 'करिष्यते' वा इति यत् पराऽपरादि[illegible]म् तत् आदित्यादिक्रिया-द्रव्यव्यतिरिक्तपदार्थनिबन्धनम्, तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्, घटादिप्रत्ययवत् । योऽस्य हेतुः स पारिशेष्यात् कालः । यतः न तावत् पराऽपरादिप्रत्ययः दिग्देशकृतोऽयम्, स्थविरे अपरदिग्भागावस्थितेऽपि 'परोऽयम्' इति प्रत्ययोत्पत्तेः । तथा, यूनि परदिग्भागावस्थितेऽपि 'अपरोऽयम्' इति ज्ञानप्रादुर्भावात् । न च वली-पलितादिकृतोऽयं प्रत्ययः, तत्कृतप्रत्ययवैलक्षण्येन उत्पत्तेः । नापि क्रियानिर्वर्तितः, तत्प्रतिभावितज्ञानवैलक्षण्येन संवेदनात् । तथा च सूत्रम्—"[1]अपरस्मिन् परं युगपद् अयुगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि" [वैशेषिकद० २-२-६] इति । आकाशवदेव अस्यापि विभुत्व-नित्यत्वैकत्वादयो धर्मा अवगन्तव्याः ।

दिगपि एकादिधर्मोपेतं द्रव्यं प्रमाणतः सिद्धम् । तथाहि-मूर्तेष्वेव द्रव्येषु मूर्तं द्रव्यमवधिं कृत्वा 'इदमस्मात् पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेन उत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेण अपरोत्तरेण उत्तरपूर्वेण अधस्तात् उपरिष्टात्' अमी दश प्रत्यया यतो भवन्ति सा दिग् इति[2] । तथा च सूत्रम्—"[3]अत इदम्' इति यतस्तद् दिशो लिङ्गम्" [वैशेषिकद० २-२-१०] इति । एते हि विशेषप्रत्यया न आकस्मिकाः संभवन्ति । न च परस्परापेक्षमूर्तद्रव्यनिमित्ताः, इतरेतराश्रयत्वेन उभयप्रत्ययाभावप्रसक्तेः । ततोऽन्यनिमित्तोत्पाद्यत्वासंभवाद् एते दिशो लिङ्गभूताः । दिशश्च विभुत्वैकत्व-नित्यत्वादयो धर्माः कालवद् अवगन्तव्याः । एतस्याश्च एकत्वेऽपि प्राच्यादिभेदेन नानात्वं कार्यविशेषाद् व्यवस्थितम् । प्रयोगश्चात्र-यदेतत् पूर्वाऽपरादिज्ञानम् तद् मूर्तद्रव्यव्यतिरिक्तपदार्थनिबन्धनम्, तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्, सुखादिज्ञानवत् इति ।

आत्मद्रव्यस्य च विभुत्वादिधर्मोपेतस्य पराऽभ्युपगतस्य प्रागेव प्रतिषेधः कृतः[4] इति न तत्पूर्वपक्षः पुनः प्रदर्श्यते ।

मनोद्रव्यस्य[5] तु युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्लिङ्गम् । तथा च सूत्रम्—"[6]युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" [न्यायद० १-१-१६] इति । अनेकेन्द्रियार्थसन्निधाने सत्यपि एकदा क्रमेण ज्ञानोत्पत्त्युप-

---

१ अपरं परं आ० हा० वि० । अपरमपरं वा० भा० ।

"तथा च सूत्रम्—अपरं परं युगपद्युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०६ पं० २० ।

"तथा सूत्रम्—अपरस्मिन् परं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि"—न्यायकु० लि० पृ० १३९ द्वि० पं० १२ ।

"तथा च सूत्रम्—अपरस्मिन् परं युगपद् अयुगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि"—प्रमेयक० पृ० १६९ प्र० पं० ७ ।

गूजरातीप्रेस-बनारससंस्कृतसिरीझसत्कयोर्वैशेषिकदर्शनसंस्करणयोः चोखम्बासंस्कृतसिरीझगते च वैशेषिकसूत्रपाठे समान एव पाठो मुद्रितो दृश्यते । यथा—"अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि"–२–२–६ । गूजरातीप्रेसप्रकाशितानि तदुपस्कार-विवृति-भाष्याण्यपि तमेव पाठमनुसरन्ति । तत्र च पाठान्तरसूचिका टिप्पणी इत्थं दृश्यते—"बॉम्बेरायलआशिआटिकसोसाइटीसंशकग्रन्थसंग्रहालयस्थलिखितप्राचीनपुस्तके तु 'अपरस्मिन् परम्' इति पाठः सूत्र उपलभ्यते । उपस्कारे च 'अपरस्मिन् परम्' इत्यनेन 'परस्मिन् परम्' इत्यपि द्रष्टव्यमिति"—गू० वै० पृ० ९८ ।

२ "पूर्वापरादिबुद्धिभ्यो दिगेवमनुमीयते ।"—तत्त्वसं० का० ६२५ पृ० २०६ ।

३ "तथा च सूत्रम्—इत इदमिति यतस्तद् दिशो लिङ्गम्-इति"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०७ पं० ३ ।

"तथा च सूत्रम्—अत इदमिति यतस्तद् दिशो लिङ्गम्"—न्यायकु० लि० पृ० १४३ प्र० पं० १३ । प्रमेयक० पृ० १७० प्र० पं० १३ ।

गूजरातीप्रेस-बनारससंस्कृतसिरीझ-चोखम्बासिरीझसत्केषु संस्करणेषु तु "इत इदमिति यतस्तद् दिश्यं लिङ्गम्" इति मुद्रितं दृश्यते ।

४ पृ० १३४ पं० ३१ ।

५ "क्रमेण ज्ञानजात्या च मनसोऽनुमितिर्मता ॥
चक्षुरादिविभिन्नं च कारणं समपेक्षते । क्रमेण जाता रूपादिप्रतिपत्ती रथादिवत्" ॥
—तत्त्वसं० का० ६२५-६२६ पृ० २०६ ।

६ "तथा च सूत्रम्—युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्-इति—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०७ पं० १२ ।
एतस्य न्यायदर्शनीयसूत्रस्य भाष्यम्, वार्तिकम् न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका चात्रानुसंधानीया ।
मनोनिरूपणपरं प्रशस्तपादभाष्यम् तत्कन्दल्यपि चात्रावबोद्धव्या—प्रशस्त० कं० पृ० ८९-९४ ।

लम्भाद् अनुमीयते इन्द्रियार्थव्यतिरिक्तं हेत्वन्तरमस्ति इति यत्सन्निधानाऽसन्निधानाभ्यां ज्ञानस्य उत्पत्त्यनुत्पत्ती भवतः । तथा च प्रयोगः—रूपाद्युपलब्धिः आत्मवाद्येन्द्रियार्थव्यतिरिक्तहेत्वन्तरापेक्षा, क्रमेण उपजायमानत्वात्, रथादिवत् ।

अत्र प्रतिविधीयते-यदि सामान्येन आश्रितत्वमात्रं शब्दानां साध्यते तदा सिद्धसाध्यता तेषां भूतकार्यतया तदाश्रितत्वात् कार्यस्य कारणप्रतिबद्धात्मलाभतया तदाश्रितत्वाभ्युपगमात् ।[1] अथ एक-नित्याऽमूर्त-विभुद्रव्यसमवेतत्वेन एषामाश्रितत्वं साध्यते तदा तथाभूतसाध्यान्वितत्वस्य दृष्टान्ते हेतोरभावात् अनैकान्तिकता हेतोः, प्रतिज्ञायाश्च अनुमानविरोधित्वम् । तथाहि-यदि नित्यैकव्यापिनभोद्रव्यसमवेताः शब्दा भवेयुस्तदा एकदोत्पन्नानेकशब्दवद् अन्यकाला अपि ते तदैव स्युः अविकलकारणत्वात् एकाश्रयत्वाच्च । न च सहकार्यपेक्षा नित्यस्य संभवति इति प्रतिपादितम् । नापि समवायित्वमनुपकारिणो युक्तम् अतिप्रसङ्गात् । ततोऽक्रमभावित्वप्रसङ्गो व्यवस्थितः ।[2] तत्कारणस्य नित्यत्वे व्यापित्वे च शब्दानां सर्वपुरुषैर्ग्रहणप्रसङ्गः । तथाहि-आकाशात्मकं श्रोत्रम् आकाशं च एकमेव इति तत्प्राप्तानां सर्वेषामपि श्रवणं स्यात् । न च निरवयवाकाशे अयं विभागः- 'इदमात्मीयं श्रोत्रम्' 'इदं च परकीयम्' इति । अथ यदीयधर्माऽधर्माभिसंस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धं नभः तत् तस्य श्रोत्रमिति विभागः, अत एव नासिकादिरन्ध्रान्तरेण न शब्दोपलम्भः संजायते, तत्कर्णशष्कुलीविघाताद् बाधिर्यादिकं च व्यवस्थाप्यते इति, असदेतत्; अनंशस्य नभस एवंविधविभागानुपपत्तेः । न च पारमार्थिकविभागनिष्पाद्यं फलं परिकल्पितावयवविभागो निर्वर्तयितुं क्षमः अतिप्रसङ्गात् अन्यथा मलयजरसादिकमपि पावकप्रकल्पनया प्लोषादिकार्यं विदध्यात् । न च कल्पिततदवयववशादपि प्रतिनियतशब्दोपलम्भदर्शनाद्ययं दोषः, शब्दोपलम्भकार्यस्य अन्यथा सिद्धत्वात् । न च 'संयोगस्य अव्याप्यवृत्तित्वकृता आकाशस्य देशाः' इति व्यपदेशः, प्रागेव अस्य प्रतिषिद्धत्वात् । अपि च, अनल-कर्णशष्कुल्यादयोऽपि समानदेशाः स्युः अभिन्नैकनभःसंसर्गित्वात् । तथाहि-येन एको वियत्स्वभावेन संयुक्तस्तेनैव अपरोऽपीति तद्देशभावी सोऽपि स्यात् तत्संयुक्तस्वभाववियत्संसर्गित्वात् तद्देशावस्थिताऽनलवत् । शब्दानामपि अत एव एकदेशत्वात् एकोपलम्भे सर्वोपलब्धिश्च स्यात् । दूरासन्नाद्यवस्थायिता तु भावानां प्रतीतिगोचरा विरोधिनी च भवेत् ।

दिक्-कालसाधनप्रयोगेष्वपि एते दोषाः-सामान्येन साधने सिद्धसाध्यता । विशेषसाधने हेतोरन्वयाद्यसिद्धिः अनुमानबाधितत्वं च प्रतिज्ञायाः इति-समानाः ।[3] तथाहि-पूर्वापरोत्पन्नपदार्थविषयपूर्वापरशब्दसंकेतवशोद्भूतसंस्कारनिबन्धनत्वात् प्रकृतप्रत्ययस्य कारणमात्रे साध्ये कथं न सिद्धसाध्यता? विशेषे च कथं नान्वयासिद्धिः? अनुमानबाधा च प्रतिज्ञायाः पूर्ववद् भावनीया। अत एव नेतरेतराश्रयदोषोऽपि पूर्वपक्षोदितो[4] विशिष्टपदार्थसंकेतप्रभवत्वेऽस्य प्रत्ययस्य ।[5] किञ्च, निरंशैकदिक्-कालाख्यपदार्थनिमित्तत्वं पराऽपरादिप्रत्ययस्य प्रसाधयितुमभ्युपगतम्,[6] तच्चायुक्तम्;

---

१ "उपात्तादिमहाभूतहेतुत्वाङ्गीकृतेर्ध्वनेः । सिद्धा एवाश्रिताः शब्दास्तेष्विष्टासाधनम्" ॥
—तत्त्वसं० का० ६२७ पृ० २०७ ।

२ "एकव्यापिध्रुवव्योमसमवायस्तु सिध्यति । नैषामन्वयवैकल्यादक्रमायासितस्तथा" ॥
—तत्त्वसं० का० ६२८ पृ० २०७ ।

३ "काल-दिक्साधनयोरपि सामान्येन सिद्धसाध्यता विशेषेणान्वयासिद्धिर्हेतो. प्रतिज्ञायाश्च अनुमानबाधेति"
—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०८ पं० २१ ।

४ प्र० पृ० पं० ४–।

५ "विशिष्टसमयोद्भूतमनस्कारनिबन्धनम् । परापरादिविज्ञानं न कालाच्च दिशश्च तत् ॥
निरंशैकस्वभावत्वात् पौर्वापर्याद्यसंभवः । तयोः संबन्धिभेदाच्चेदेवं तौ निष्फलौ ननु" ॥
—तत्त्वसं० का० ६२९–६३० पृ० २०८ ।

६ पृ० ६६९ पं० १२ ।

७ परादिप्र–भां० मां० आ० । "परापरादिज्ञानस्य निरंशैकदिकालाख्यप
—तत्त्व

स्वाकारानुकारिप्रत्ययजनकस्य तद्विषयत्वात् निरंशस्य च पौर्वापर्यादिविभागाभावतस्तथाभूतप्रत्ययोत्पादकत्वासंभवात्। तथाभूतप्रत्ययाद् विपरीतार्थसिद्धेः इष्टविपर्ययसाधनात् विरुद्धश्चेयं हेतुः स्यात्। अथ बाह्याऽऽध्यात्मिकभावपौर्वापर्यनिबन्धनस्य दिक्-कालयोः पौर्वापर्यव्यपदेशस्य भावान्न हेतोर्विरुद्धता । नन्वेवं दिक्-कालपरिकल्पना व्यर्था तत्साध्याभिमतस्य कार्यस्य बाह्याऽऽध्यात्मिकैः संबन्धिभिरेव निर्वर्तितत्वात्। तथाहि-दिक् पूर्वापरादिव्यवस्थाहेतुरिष्यते कालश्च पूर्वापरक्षण-लव-निमेष-कला-मुहूर्त-प्रहर-दिवस-अहोरात्र-पक्ष-मास-ऋतु-अयन-संवत्सरादिप्रत्ययप्रसवनिमित्तोऽभ्युपगतः, अयं च स्वरूपभेदः स्वात्मनि तयोः समस्तोऽप्यसंभवी तत्संबन्धिषु पुनर्भावेषु विद्यमानस्तत्र प्रत्ययहेतुरिति व्यर्था तत्प्रकल्पना । अथ तत्संबन्धिष्वपि अयं भेदः अपरक्रियादिभेदनिमित्तस्तर्हि तत्रापि एवम् इति अनवस्थाप्रसक्तिः । अथ पदार्थेषु पूर्वापरभेदः कालनिमित्तः ननु कालोऽप्यसौ न स्वतः इति अपरकालनिमित्तो यद्यभ्युपगम्यते तदा अनवस्था । अथ पदार्थभेदनिमित्तस्तदा इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः । अथ तत्र स्वत एव अयं भेदः पदार्थेष्वपि स्वत एव अयं किं नाभ्युपगम्यते? ततश्च पुनरपि दिक्-कालप्रकल्पनं व्यर्थम् ।

मनःसाधनेऽपि हेतौ कारणमात्रे साध्ये सिद्धसाध्यता मनस्कारादेश्चक्षुरादिव्यतिरिक्तस्य कारणमात्रस्येष्टेः । विशेषेण तु नित्यैकमनःसाधने अनन्वयदोषः प्रतिज्ञायाश्च अनुमानबाधा इष्टविपर्ययसाधनाद् विरुद्धश्च हेतुः इति दोषाः पूर्ववद् वाच्याः । चक्षुरादिव्यतिरिक्ताऽनित्यकारणसापेक्षत्वस्य साधनाद् विरुद्धता प्रकटैव अन्यथा हि अत्रापि नित्यकारणत्वे चेतसामविकलकारणत्वात् क्रमोत्पत्तिर्विरुद्धैव भवेत् । तन्न पृथिव्यादेर्मनःपर्यन्तस्य द्रव्यनवकस्य प्रमाणतः सिद्धिः । ततः 'पृथिव्यादीनि द्रव्याणि इतरेभ्यो भिद्यन्ते, द्रव्यत्वाभिसंबन्धात्' इत्यादिहेतूपन्यासोऽयुक्त एव, तत्स्वरूपासिद्धौ हेतोराश्रयासिद्धत्वदोषात्, स्वरूपासिद्धश्च अयं हेतुः द्रव्यत्वाभिसंबन्धस्य समवायलक्षणस्य असिद्धेः, विशेषणासिद्धश्च द्रव्यत्वसामान्यस्य निषिद्धत्वात् निषेत्स्यमानत्वाच्च । न चात्र अन्वयः सिद्धः, साधर्म्यदृष्टान्तस्य अभावात् । न च सपक्षाभावे केवलव्यतिरेकी हेतुर्गमकः, प्रतिबन्धप्रसाधकप्रमाणविषयसाधर्म्यदृष्टान्ताभावे सर्वत्र साध्याभावात् साधनस्य व्यावृत्त्यसिद्धेः । "'साध्यसद्भावे एव सर्वत्र साधनसद्भावः' इत्येवंभूतान्वयाऽप्रसिद्धौ 'साध्याभावे सर्वत्र साधनस्य अभावः' इति सकलाक्षेपेण व्यतिरेकस्यासंभवात्" [ ] इत्यादेर्न्यायस्य असकृत् प्रतिपादितत्वात्। यदपि 'नवैव द्रव्याणि' इत्यादिप्रयोगप्रतिपादनम्, तदप्यसंगतमेव; तत्स्वरूपासिद्धौ तत्संख्यासिद्धेर्दूरापास्तत्वात्। न च लक्षणयोगित्वमपि तेषाम् असिद्धपृथिवीत्वाभिसंबन्धादेर्लक्षणस्य अनुपपत्तेः । अत एव अन्योन्यव्यावृत्तादेर्विशेषणस्यानुपपत्तिः विशेष्याभावे विशेषणस्याप्यसंभवात् । 'न्यूनाधिक-' इत्याद्यपि तद्विशेषणमसंगतम्, प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प वितण्डा-हेत्वाभास छल-जाति निग्रहस्थानानां नैयायिकाभ्युपगतपदार्थानां षट्पदार्थाधिकानाम् तमश्छायादीनां च नवद्रव्याधिकानां सद्भावात्। न च

---

१ "तथाहि-कालः पूर्वापरक्षणलवनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्ताहोरात्रार्धमासादिप्रत्ययप्रसवहेतुः दिक् च पूर्वोत्तरादिव्यवस्थाहेतुरिष्यते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०९ पं० १३ ।

२ "चक्षुराद्यतिरिक्तं तु मनोऽस्माभिरपीष्यते । षण्णामनन्तरोद्भूतप्रत्ययो यो हि तन्मनः" ॥ —तत्त्वसं० का० ६३१ पृ० २०९ ।

३ "नित्ये तु मनसि प्राप्ताः प्रत्यया यौगपद्यतः । तेन हेतुरिह प्रोक्तो भवतीष्टविघातकृत् ॥
सौगतापरनिर्दिष्टमनःसंसिद्धसाधने । साकारमन्यथाऽऽयुक्तं मन्ये सूत्रमिदं कृतम्" ॥ —तत्त्वसं० का० ६३२-६३३ पृ० २०९-२१० ।

४ पृ० ६५६ पं० २७ । ५ पृ० ६५६ पं० ३२ । ६ न्यायद० १-१-१ । ७ पृ० ५४३ टि० १३ ।

"से णूणं भंते ! दिया उज्जोए राति अंधयारे ?
हंता, गोयमा ! जाव-अंधयारे ।
से केणट्ठेणं ?
गोयमा ! दिया सुभा पोग्गला सुभे पोग्गलपरिणामे, राति असुभा पोग्गला असुभे पोग्गलपरिणामे । से तेणट्ठेणं०" । —भगव० श० ५ उ० ९ सू० २२४ पृ० २४६ ।

"सद्धयारउज्जोओ पहा छायाऽऽतवे इ वा । वण्ण-रस-गंध-फासा पुग्गलाणं तु लक्खणं" ॥ —उत्तरा० अ० २८ गा० १२ । नवत० गा० ११ ।

लम्भाद् अनुमीयते इन्द्रियार्थव्यतिरिक्तं हेत्वन्तरमस्ति इति यत्सन्निधानाऽसन्निधानाभ्यां ज्ञानस्य उत्पत्त्यनुत्पत्ती भवतः । तथा च प्रयोगः—रूपाद्युपलब्धिः आत्मनादीन्द्रियार्थव्यतिरिक्तहेत्वन्तरापेक्षा, क्रमेण उपजायमानत्वात्, रथादिवत् ।

अत्र प्रतिविधीयते-यदि सामान्येन आश्रितत्वमात्रं शब्दानां साध्यते तदा सिद्धसाध्यता तेषां भूतकार्यतया तदाश्रितत्वात् कार्यस्य कारणप्रतिबद्धात्मलाभतया तदाश्रितत्वाभ्युपगमात् । अथ एक-नित्याऽमूर्त-विभुद्रव्यसमवेतत्वेन एषामाश्रितत्वं साध्यते तदा तथाभूतसाध्यान्वितत्वस्य दृष्टान्ते हेतोरभावात् अनैकान्तिकता हेतोः, प्रतिज्ञायाश्च अनुमानविरोधित्वम् । तथाहि-यदि नित्यैकव्यापिनभोद्रव्यसमवेताः शब्दा भवेयुस्तदा एकदोत्पन्नानेकशब्दवद् अन्यकाला अपि ते तदैव स्युः अविकलकारणत्वात् एकाश्रयत्वाच्च । न च सहकार्यपेक्षा नित्यस्य संभवति इति प्रतिपादितम् । नापि समवायित्वमनुपकारिणो युक्तम् अतिप्रसङ्गात् । ततोऽक्रमभावित्वप्रसङ्गो व्यवस्थितः । तत्कारणस्य नित्यत्वे व्यापित्वे च शब्दानां सर्वपुरुषैर्ग्रहणप्रसङ्गः । तथाहि-आकाशात्मकं श्रोत्रम् आकाशं च एकमेव इति तत्प्राप्तानां सर्वेषामपि श्रवणं स्यात् । न च निरवयवाकाशे अयं विभागः- 'इदमात्मीयं श्रोत्रम्' 'इदं च परकीयम्' इति । अथ यदीयधर्माऽधर्माभिसंस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धं नभः तत् तस्य श्रोत्रमिति विभागः, अत एव नासिकादिरन्ध्रान्तरेण न शब्दोपलम्भः संजायते, तत्कर्णशष्कुलीविघाताद् बाधिर्यादिकं च व्यवस्थाप्यते इति, असदेतत्, अनंशस्य नभस एवंविधविभागानुपपत्तेः । न च पारमार्थिकविभागनिष्पाद्यं फलं परिकल्पितावयवविभागो निर्वर्तयितुं क्षमः अतिप्रसङ्गात् अन्यथा मलयजरसादिकमपि पावकप्रकल्पनया प्लोषादिकार्यं विदध्यात् । न च कल्पिततदवयववशादपि प्रतिनियतशब्दोपलम्भदर्शनान्नायं दोषः, शब्दोपलम्भकार्यस्य अन्यथा सिद्धत्वात् । न च 'संयोगस्य अव्याप्यवृत्तित्वकृता आकाशस्य देशाः' इति व्यपदेशः, प्रागेव अस्य प्रतिषिद्धत्वात् । अपि च, अनल-कर्णशष्कुल्यादयोऽपि समानदेशाः स्युः अभिन्नैकनभःसंसर्गित्वात् । तथाहि-येन एको वियत्स्वभावेन संयुक्तस्तेनैव अपरोऽपीति तद्देशभावी सोऽपि स्यात् तत्संयुक्तस्वभाववियत्संसर्गित्वात् तद्देशावस्थितानलवत् । शब्दानामपि अत एव एकदेशत्वात् एकोपलम्भे सर्वोपलब्धिश्च स्यात् । दूरासन्नाद्यवस्थायिता तु भावानां प्रतीतिगोचरा विरोधिनी च भवेत् ।

दिक्-कालसाधनप्रयोगेष्वपि एते दोषाः-सामान्येन साधने सिद्धसाध्यता । विशेषसाधने हेतोरन्वयाद्यसिद्धिः अनुमानबाधितत्वं च प्रतिज्ञायाः इति-समानाः । तथाहि-पूर्वापरोत्पन्नपदार्थविषयपूर्वापरशब्दसंकेतवशोद्भूतसंस्कारनिबन्धनत्वात् प्रकृतप्रत्ययस्य कारणमात्रे साध्ये कथं न सिद्धसाध्यता? विशेषे च कथं नान्वयासिद्धिः? अनुमानबाधा च प्रतिज्ञायाः पूर्ववद् भावनीया । अत एव नेतरेतराश्रयदोषोऽपि पूर्वपक्षोदितो विशिष्टपदार्थसंकेतप्रभवत्वेऽस्य प्रत्ययस्य । किञ्च, निरंशैकदिक्-कालाख्यपदार्थनिमित्तत्वं पराऽपरादिप्रत्ययस्य प्रसाधयितुमभ्युपगतम्, तच्चायुक्तम्;

---

१ "उत्पादादिमहाभूतहेतुत्वाङ्गीकृतेर्ध्वनेः । सिद्धा एवाश्रिता शब्दास्तेष्वित्याद्यमसाधनम्" ॥
—तत्त्वसं० का० ६२७ पृ० २०७ ।

२ "एकव्यापिध्रुवव्योमसमवायस्तु सिध्यति । नैषामन्वयवैकल्यादक्रमाद्यासितस्तथा" ॥
—तत्त्वसं० का० ६२८ पृ० २०७ ।

३ "काल-दिक्साधनयोरपि सामान्येन सिद्धसाध्यता विशेषेणान्वयासिद्धिर्हेतो प्रतिज्ञायाश्च अनुमानबाधेति"
—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०८ पं० २१ ।

४ प्र० पृ० पं० ४– ।

५ "विशिष्टसमयोद्भूतमनस्कारनिबन्धनम् । परापरादिविज्ञानं न कालाश्च दिशश्च तत् ॥
निरंशैकस्वभावत्वात् पौर्वापर्याद्यसंभवः । तयो संबन्धिभेदाच्चेदेव तौ निष्फलौ ननु" ॥
—तत्त्वसं० का० ६२९–६३० पृ० २०८ ।

६ पृ० ६६९ पं० १३ ।

७ परादिप्र-भां० मां० आ० । "परापरादिज्ञानस्य निरंशैकदिक्कालाख्यपदार्थनिबन्धनत्वं साधयितुमिष्टम्"
—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २०९ पं० ४–५ ।

घ्राणग्राह्यः पृथिवीवृत्तिः । स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकज्वलनपवनवृत्तिः । रूपादेश्च गुणत्वे सति चक्षुर्ग्राह्यत्वादिकं लक्षणमितरव्यवच्छेदकम् । एषां च मध्ये रूपस्य महत्त्वाद्युपेतद्रव्यसमवेतस्य शुक्लादेर्निरवयवस्य यदि ग्रहणमिष्यते तदा कुञ्चिकादिविवरवर्तिसूक्ष्मप्रदीपाद्यालोकोद्द्योतिताऽपवरकादिव्यवस्थितपृथुतरघटादिद्रव्यसमवेतशुक्लादिरूपाभिव्यक्तौ सकलस्यैव यावद्द्रव्यवर्तिन उपलब्धिः स्यात् निरवयवत्वात् न हि एकस्य तस्य अवयवा विद्यन्ते येन एकदेशाभिव्यक्तिर्भवेत् । एवं गन्ध-रस-स्पर्शानामपि तदाधारैकदेशस्थानामभिव्यक्तौ यावद्द्रव्यभाविनामुपलब्धिप्रसङ्गः । अथ भवत्येव सकलस्य नीलादेरुपलब्धिः नेनु तेन आलोकादिना नीलादेरणुशो भेदाभ्युपगमे पृथिव्यादिपरमाणुद्रव्यवद् अणुपरिमाणयोगित्वेन गुणवत्त्वाद् द्रव्यताप्रसक्तिर्भवेत् । न चैवमपि गुणसंज्ञाकरणे कश्चिद् गुणः अविवादप्रसक्तेः । न च अणुत्वेऽपि आश्रितत्वाद् गुणत्वमुपपन्नम् सदसतोराश्रयानुपपत्तेः, अतिप्रसङ्गाच्च-अवयविद्रव्यस्यापि अवयवद्रव्याश्रितत्वाद् गुणत्वापत्तेः ।

संख्या तु एकादिव्यवहारहेतुः एकत्वादिलक्षणा परैरभ्युपगता । सा पुनः एकद्रव्या च अनेकद्रव्या च । तत्र एकसंख्या एकद्रव्या, अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिसंख्या । तत्र एकद्रव्यायाः सलिलादिपरमाण्वादिगतरूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः अनेकद्रव्यायास्तु एकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिः अपेक्षाबुद्धिविनाशाद् विनाशः क्वचिद् आश्रयविनाशादिति । इयं च द्विविधाऽपि संख्या प्रत्यक्षत एव सिद्धा, विशेषबुद्धेश्च निमित्तान्तरापेक्षत्वाद् अनुमानतोऽपि सिद्धिः इति परे मन्यन्ते । अत्र समुदायव्यावृत्तैकत्वादिसंख्याविषयपदार्थव्यतिरेकेण उपलब्धिलक्षणप्राप्तायाः संख्याया अनुपलब्धेरसत्त्वं शशविषाणवत् । न च विशेषणमसिद्धम् तस्या दृश्यत्वेन इष्टेः । तथा च सूत्रम्- "संख्या-परिमाणानि पृथक्त्वम् संयोग-विभागौ परत्वाऽपरत्वे कर्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणि" [वैशेषिकद० ४-१-११] न च विशेषबुद्धितोऽनुमानतोऽपि संख्यासिद्धिः यतो यथा 'एको गुणः' 'बहवो गुणाः' इत्यादौ संख्यामन्तरेणापि एकादिबुद्धिस्तथा घटादिष्वपि असहायादिषु स्वेच्छाविरचितैकत्वादिसंकेताहितमनस्कारप्रभवमेकादिज्ञानं भविष्यतीति किमेकादिसंख्यया? न च गुणेषु

---

१ "द्रव्ये महति नीलादिरेक एव यदीष्यते । रन्ध्रालोकेन तद्व्यक्तौ व्यक्तिर्दृष्टिश्च नास्य किम् ?" ॥

—तत्त्वसं० का० ६३६ पृ० २११ ।

२ "तत्र च द्रव्ये यद्येकमेवानवयवं नीलादि चतुर्विधमिष्यते तदा सूक्ष्मेणापि कुञ्चिकादिविवरवर्तिना प्रदीपाद्यालोकेन अपवरकादिस्थितपृथुतरघटादिद्रव्यसमवेतस्य नीलादिरूपस्याभिव्यक्तौ सत्यां सकलस्यैव यावद्द्रव्यवर्तिनो रूपादेरभिव्यक्तिरुपलब्धिश्च प्राप्नोति निरवयवत्वात्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २११ पं० १५-।

३ "न च देशविभागेन स्थितो नीलादिरिष्यते । व्यज्यते यस्तदा तेन तस्य भेदोऽणुशस्ततः" ॥

—तत्त्वसं० का० ६३७ पृ० २११ ।

४ "तत्र एकादिव्यवहारहेतुरेकत्वादिलक्षणा सङ्ख्या सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च" इत्यादि—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २१२ पं० ४-।

"एकादिव्यवहारहेतुः संख्या । सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च । तत्रैकद्रव्यायाः सलिलादिपरमाणु-रूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः । अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिका परार्धान्ता । तस्याः खलु एकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिः अपेक्षाबुद्धिविनाशाद् विनाश इति"—प्रशस्त० कं० पृ० १११ पं० ३—।

५ "विशेषबुद्धेश्च निमित्तान्तरापेक्षत्वादनुमानतोऽपीति परो मन्यते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २१२ पं० ८—।

६ संख्याः मु० वै० द० सू० । गू० वै० द० । " 'संख्याः' इति बहुवचनमेकत्वादिकाः सर्वा एव संख्याः संग्रहीतुं" इति-गू० वै० द० पृ० १८२ पं० १३ उपस्कारवचनाद् मूलसूत्रस्थं बहुवचनमेवोचितं भाति" । पञ्जिकायां तु "संख्या-परिमाणानि" इत्यादिपाठः—पृ० २१२ पं० १५ ।

"अतद्रूपपरावृत्तगजादिव्यतिरेकिणी । न सङ्ख्या भासते ज्ञाने दृश्येष्टा नैव साऽस्ति तत्" ॥—तत्त्वसं० का० ६३८ पृ० २१२ ।

७ "इच्छारचितसंकेतमनस्कारान्वयं त्विदम् । घटेष्वेकादिविज्ञानं ज्ञानादाविव वर्तते ॥

अद्रव्यत्वाच्च संख्याऽस्ति तेषु काचिद् विभेदिनी । तज्ज्ञानं नैव मुख्यं तु भाक्तमस्खलितत्वतः" ॥

—तत्त्वसं० का० ६३९-६४० पृ० २१२ ।

पदार्थषोडशकस्य पट्स्वेव अन्तर्भावात् तमश्छायादीनां च तेजोऽभावरूपत्वात् न तदधिकपदार्थसद्भाव इति वक्तव्यम्, द्रव्यादीनामपि षण्णां प्रमाणप्रमेयरूपपदार्थद्वयेऽन्तर्भावात् पदार्थषट्कस्याऽपि अनुपपत्तेः । अथ तदन्तर्भावेऽपि अवान्तरविभिन्नलक्षणवशात् प्रयोजनवशाद् वा द्रव्यादिषट्कव्यवस्था तर्हि तत एव प्रमाणादिषोडशकव्यवस्था तमश्छायादिद्रव्यान्तरव्यवस्थाऽपि भविष्यति इति 'न्यूनाधिक'-इत्यादिविशेषणानुपपत्तिरेव । न च तमश्छायादेर्बहलत्वादितरतमविशेषयोगिनः विशिष्टार्थक्रियानिर्वर्तनसमर्थस्य च भासामभावरूपतेति वक्तव्यम्, भासामप्येवं तमश्छायाऽभावरूपताप्रसक्तेः । न च आवारकद्रव्यसन्निधानापेक्षतेजोऽभावरूपता तयोः, स्वसामग्रीतो विशिष्टपदार्थोत्पत्तौ प्रतियोग्यभावरूपत्वे भासामपि तथात्वोपपत्तेः । यदपि मधुर-शीतद्रव्योपयोगाद् ये गुणाः समुपजायन्ते छायादिसेवनादपि ते प्रादुर्भवन्तीत्युपचारात् 'छाया मधुर-शीतला' इत्युच्यते तत् तेजस्यपि समानम् । यथा च छाया-तमसोः पुद्गलद्रव्यात्मकत्वं तथा प्राक् प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते । तदेवं 'पृथिव्यादीनि नव द्रव्याणि' इत्यनुपपन्नम् तत्सद्भावप्रतिपादकप्रमाणाभावात् बाधकस्य च प्रदर्शितत्वात् ।

द्रव्याभावाच्च गुणादयो विशेषपर्यन्ताः असन्त एव, तेषां तदाश्रितत्वाभ्युपगमात् आश्रयाभावे च तदाश्रितानां तत्परतन्त्रतयाऽवस्थानासंभवात् । गुण-कर्मणां च साक्षाद्द्रव्याश्रितत्वं परैरभ्युपगतम् । तथा च सूत्रम्—"द्रव्याश्रयी अगुणवान् संयोग-विभागेष्वकारणम् अनपेक्ष इति गुणलक्षणम्" । [वैशेषिकद० १-१-१६] "एकद्रव्यम् अगुणम् संयोग-विभागेष्वनपेक्षम् कारणम् इति कर्मलक्षणम्" । [वैशेषिकद० १-१-१७] एकमेव एकस्मिन्नेव च द्रव्ये आश्रितमेकद्रव्यं कर्म । गुणास्तु केचिद् अनेकस्मिन् वर्तन्ते संख्या-संयोगादयः, अनेके वा एकदा एकत्र वर्तन्ते रूपरसादयः । सामान्यविशेषाश्च केचिद् द्रव्यत्व-पृथिवीत्वादयो द्रव्यवृत्तय एव गुणत्व-कर्मत्वादयस्तु द्रव्यसंबन्ध(बद्ध)गुण-कर्माश्रिताः । सत्तासामान्यं तु द्रव्य-गुण-कर्मवृत्ति । विशेषास्तु नित्यद्रव्येष्वेव वर्तन्त इति द्रव्यप्रतिषेधे गुणादिप्रतिषेधः प्रसिद्ध एव । समवायस्तु पञ्चपदार्थवृत्तिरूपः पञ्चपदार्थनिषेधे निषिद्ध एव, सर्वाश्रयाश्रिताभावे तस्याऽभावात् । ततो द्रव्यनिषेधादेव अशेषपदार्थनिषेधसिद्धावपि विशेषतो गुणादिप्रतिषेधः प्रदर्श्यते परदर्शनस्य सर्वथाऽयुक्तताप्रदर्शनात् ।

[क्रमशो रूपादिगुणानां प्रक्रियामुपन्यस्य तेषां खण्डनम्]

तत्र "रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वम् संयोग-विभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छा-द्वेषौ प्रयत्नश्च गुणाः" । [वैशेषिकद० १-१-६] इति सूत्रसंगृहीताः सप्तदश, 'च'शब्दसमुच्चिताः—गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कार-धर्माऽधर्म-शब्दाश्च सप्त गृह्यन्ते इति चतुर्विंशतिर्गुणाः । तत्र चक्षुर्ग्राह्यं रूपं पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति । रसो रसनेन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकवृत्तिः । गन्धो

---

१ पृ० ५४३ पं० १४- टि० ११ ।

२ "द्रव्याणां प्रतिषेधेन सर्व एव तदाश्रिताः । गुण-कर्मादयोऽपास्ता भवन्त्येव तथा मताः" ॥
—तत्त्वसं० का० ६३४ पृ० २१० ।

३ "गुणत्व-कर्मत्वादयश्च द्रव्यसंबद्धगुण-कर्मपदार्थवृत्तयः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २१० पं० २३ ।

४ "क्व कस्य समवायश्च संबन्धित्वपहस्तिते । विशेषप्रतिषेधोऽयं तथापि पुनरुच्यते" ॥
—तत्त्वसं० का० ६३५ पृ० २११ ।

५ "तत्र 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः सङ्ख्या-परिमाणानि पृथक्त्वम् संयोग-विभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुख-दुःखे इच्छा-द्वेषौ प्रयत्नश्च गुणाः' इति सूत्रम् । चशब्दाद् गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कार-धर्माधर्म-शब्दाश्च परिगृह्यन्ते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २११ पं० ६-।

"गुणाश्च रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वाऽपरत्व-बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नाश्चेति कण्ठोक्ताः सप्तदश । चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कारादृष्टशब्दाः सप्तैव इत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः" —प्रशस्त० कं० पृ० १० पं० ११-।

६ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २११ पं० ८-।

"तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम् पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति ××× । रसो रसनग्राह्यः पृथिव्युदकवृत्तिः ××× । गन्धो घ्राणग्राह्यः ..."—इत्यादि गुणग्रन्थगतं समग्रं गुणनिरूपणमत्रावगन्तव्यं सविस्तरं विज्ञातुकामेन—प्रशस्त० कं० पृ० ९५ ।

घ्राणग्राह्यः पृथिवीवृत्तिः । स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकज्वलनपवनवृत्तिः । रूपादेश्च गुणत्वे सति चक्षुर्ग्राह्यत्वादिकं लक्षणमितरव्यवच्छेदकम् । एषां च मध्ये रूपस्य महत्त्वाद्युपेतद्रव्यसमवेतस्य शुक्लादेर्निरवयवस्य यदि ग्रहणमिष्यते तदा कुञ्चिकादिविवरवर्तिसूक्ष्मप्रदीपाद्यालोकोद्योतिताऽपवरकादिव्यवस्थितपृथुतरघटादिद्रव्यसमवेतशुक्लादिरूपाभिव्यक्तौ सकलस्यैव यावद्द्रव्यवर्तिन उपलब्धिः स्यात् निरवयवत्वात् न हि एकस्य तस्य अवयवा विद्यन्ते येन एकदेशाभिव्यक्तिर्भवेत् । एवं गन्ध-रस-स्पर्शानामपि तदाधारैकदेशस्थानामभिव्यक्तौ यावद्द्रव्यभाविनामुपलब्धिप्रसङ्गः । अथ भवत्येव सकलस्य नीलादेरुपलब्धिः नेनु तेन आलोकादिना नीलादेरणुशो भेदाभ्युपगमे पृथिव्यादिपरमाणुद्रव्यवद् अणुपरिमाणयोगित्वेन गुणवत्त्वाद् द्रव्यताप्रसक्तिर्भवेत् । न चैवमपि गुणसंज्ञाकरणे कश्चिद् गुणः अविवादप्रसक्तेः । न च अणुत्वेऽपि आश्रितत्वाद् गुणत्वमुपपन्नम् सदसतोराश्रयानुपपत्तेः, अतिप्रसङ्गाच्च–अवयविद्रव्यस्यापि अवयवद्रव्याश्रितत्वाद् गुणत्वापत्तेः ।

संख्या तु एकादिव्यवहारहेतुः एकत्वादिलक्षणा परैरभ्युपगता । सा पुनः एकद्रव्या च अनेकद्रव्या च । तत्र एकसंख्या एकद्रव्या, अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिसंख्या । तत्र एकद्रव्यायाः सलिलादिपरमाण्वादिगतरूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः अनेकद्रव्यायास्तु एकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिः अपेक्षाबुद्धिविनाशाद् विनाशः क्वचिद् आश्रयविनाशादिति । इयं च द्विविधाऽपि संख्या प्रत्यक्षत एव सिद्धा, विशेषबुद्धेश्च निमित्तान्तरापेक्षत्वाद् अनुमानतोऽपि सिद्धिः इति परे मन्यन्ते । अत्र समुदायव्यावृत्तैकत्वादिसंज्ञाविषयपदार्थव्यतिरेकेण उपलब्धिलक्षणप्राप्तायाः संख्याया अनुपलब्धेरसत्त्वं शशविषाणवत् । न च विशेषणमसिद्धम् तस्या दृश्यत्वेन इष्टेः । तथा च सूत्रम्–"संख्या[६]-परिमाणानि पृथक्त्वम् संयोग-विभागौ परत्वाऽपरत्वे कर्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणि" [वैशेषिकद० ४-१-११] न च विशेषबुद्धितोऽनुमानतोऽपि संख्यासिद्धिः यतो यथा 'एको गुणः' 'बहवो गुणाः' इत्यादौ संख्यामन्तरेणापि एकादिबुद्धिस्तथा घटादिष्वपि असहायादिषु स्वेच्छाविरचितैकत्वादिसंकेताहितमनस्कारप्रभवमेकादिज्ञानं भविष्यतीति किमेकादिसंख्यया ? न च गुणेषु

---

१ "द्रव्ये महति नीलादिरेक एव यदीष्यते । रन्ध्रालोकेन तद्व्यक्तौ व्यक्तिर्दृष्टिश्च नास्य किम् ?" ॥
—तत्त्वसं० का० ६३६ पृ० २११ ।

२ "तत्र च द्रव्ये यद्येकमेवानवयवं नीलादि चतुर्विधमिष्यते तदा सूक्ष्मेणापि कुञ्चिकादिविवरवर्तिना प्रदीपाद्यालोकेन अपवरकादिस्थितपृथुतरघटादिद्रव्यसमवेतस्य नीलादिरूपस्याभिव्यक्तौ सत्या सकलस्यैव यावद्द्रव्यवर्तिनो रूपादेरभिव्यक्तिरुपलब्धिश्च प्राप्नोति निरवयवत्वात्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २११ पं० १५–।

३ "न च देशविभागेन स्थितो नीलादिरिष्यते । व्यज्यते यस्तदा येन तस्य भेदोऽणुशस्ततः" ॥
—तत्त्वसं० का० ६३७ पृ० २११ ।

४ "तत्र एकादिव्यवहारहेतुरेकत्वादिलक्षणा संख्या सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च" इत्यादि—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २१२ पं० ४–।

"एकादिव्यवहारहेतुः संख्या । सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च । तत्रैकद्रव्यायाः सलिलादिपरमाणु–रूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः । अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिका परार्धान्ता । तस्याः खलु एकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिः अपेक्षाबुद्धिविनाशाद् विनाश इति"—प्रशस्त० कं० पृ० १११ पं० ३—।

५ "विशेषबुद्धेश्च निमित्तान्तरापेक्षत्वादनुमानतोऽपीति परो मन्यते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २१२ पं० ८—।

६ संख्याः मु० वै० द० मू० । मू० वै० द० । " 'संख्याः' इति बहुवचनमेकत्वादिकाः सर्वा एव संख्याः संगृह्णाति" इति–मू० वै० द० पृ० १८२ पं० १३ उपस्कारवचनाद् मूलसूत्रस्थं बहुवचनमेवोचितं भाति" । पञ्जिकायां तु "संख्या–परिमाणानि" इत्यादिपाठ —पृ० २१२ पं० १५ ।

"अतद्रूपपरावृत्तगजादिव्यतिरेकिणी । न संख्या भासते ज्ञाने दृश्येष्टा नैव सास्ति तत्" ॥—तत्त्वसं० का० ६३८ पृ० २१२ ।

७ "इच्छारचितसंकेतमनस्कारान्वयं त्विदम् । घटेष्वेकादिविज्ञानं ज्ञानादाविव वर्तते ॥
अद्रव्यत्वान्न संख्यास्ति तेषु काचिद् विभेदिनी । तज्ज्ञानं नैव युक्तं तु भाक्तमस्खलितत्वतः" ॥
—तत्त्वसं० का० ६३९–६४० पृ० २१२ ।

संख्या संभवति अद्रव्यत्वात् तेषाम् संख्यायाश्च गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात्। न च गुणेषु उपचरितमेकत्वादि ज्ञानम् अस्खलद्वृत्तित्वात्। न च गुणेषु संख्यासद्भावे अनवस्थादिबाधकप्रमाणोपपत्तेरुपचरितमेकत्वादिज्ञानम् घटादिष्वपि वृत्ति-विकल्पादेर्द्वित्वादिसंख्यायां बाधकस्य सद्भावात् तद्विज्ञानस्य तथात्वप्रसक्तेः। न च वृत्ति-विकल्पादेर्बाधकस्य अबाधकत्वम् तस्य निरस्तत्वात्। न च क्वचिद् मुख्यसंख्याभावे गौणप्रत्ययस्य तद्विषयस्याऽभाव इति घटादौ मुख्यसंख्यायोगोऽभ्युपगन्तव्य इति वाच्यम्, मुख्यपूर्वकत्वेन गौणप्रत्ययस्य एवंविधे विषये यौद्धं प्रति क्वचिदपि असिद्धेः न हि गवादिष्वपि 'गौः' इति ज्ञानं पारमार्थिकगोत्वनिबन्धनतया मुख्यं सिद्धम् नापि वाहीके तद् ज्ञानं वस्तुभूतगोत्वाध्यारोपाद्-उपचरितम्। किञ्च, यथा वाहीके गौरिव अयम् न तु गौरेव साक्षाद् भावात् स्खलति प्रत्यय इति गौणः न एवम् एक इव एको गुण न तु एक एव इति प्रत्ययः किन्तु यादृशी घटादिषु अस्खलिता बुद्धिर्भवति तादृशी गुणादिष्वपि। अथ न सादृश्यापेक्षमेतद् ज्ञानम् किन्तु यत् तदाश्रयभूतं द्रव्यं तद्गतैकत्वादिसंख्यातः गुणादीनां तदेकार्थसमवायात्, नन्वेवम् 'एकस्मिन् द्रव्ये रूपादयो बहवो गुणा' इति ज्ञानोत्पत्तिर्न स्यात् तदाश्रयद्रव्ये बहुत्वसंख्याया अभावात्। 'षट् पदार्थाः' 'सुख-दुःखे' 'इच्छा-द्वेषौ' 'पञ्चविधं कर्म' 'परमपरं च द्विविधं सामान्यम्' 'एको भावः' 'एकः समवायः' इति व्यपदेशेषु च किं निमित्तमिति वक्तव्यम्, न ह्यत्र एकार्थसमवायिनी संख्या विद्यते इति अव्यापिनी इयमपि कल्पना न युक्तिसंगता। भवतु वा एकार्थसमवायाद् अन्यतो वा स्वप्रकल्पिताद् हेतोरस्य प्रत्ययस्तथापि गुणादिगतमुख्यसंख्याऽभावत स्खलद्वृत्तिः स्यात् माणवके सिंहप्रत्ययवत्, न चैवमुपलभ्यते इति संकेतमात्रनिबन्धन एव सर्वत्र अभ्युपगन्तव्यः। यदपि 'गज-तुरग-स्यन्दनादिव्यतिरिक्तनिमित्तप्रभवः सेनाप्रत्ययः, गजादिप्रत्ययविलक्षणत्वात्, वस्त्र-चर्म-कम्बलेषु नीलप्रत्ययवत्' इति संख्यासिद्धये यद् अविद्धकर्णोक्तं प्रमाणम्, तदप्ययुक्तम्, गजादिव्यतिरिक्तसंकेतादिप्रभवत्वेन इष्टत्वात् सिद्धसाध्यतादोषाघ्रातत्वात्। अथ विशिष्टसंख्यानिमित्तप्रभवत्वमस्य साध्यत्वेन अभिप्रेतम् तदा अनैकान्तिको हेतुः बुद्ध्यादौ 'एका बुद्धिः' इत्यादिविशिष्टप्रत्ययस्य संख्यामन्तरेणापि भावात्। 'अनेकद्रव्या च द्वित्वादिसंख्या, एकत्वेभ्योऽनेकविषयैकबुद्धिसहितेभ्य उत्पद्यते' इत्यभ्युपगमश्च अनुपपन्नः, संकेताभोगमात्रेण संख्येयेषु 'द्वे' 'त्रीणि द्रव्याणि'

१-संख्यायाः भा-वा० बा०।

२ मुख्यसंख्याऽभावे गौणप्रत्ययस्य तद्विषयस्य भाव इति-भां० मां०। मुख्यपूर्वकत्वेन संख्याभावे गौणप्रत्ययस्य तद्विषयस्याभाव इति-आ० हा० वि०।

३ "न हि यथा वाहीको गौरिति स्खलति प्रत्ययः गौरिव गौर्न तु गौरेव साक्षादभावादिति न तथायं स्खलति एकमिवैकं ज्ञानादि न त्वेकमेवेति किं तर्हि यादृशी घटादिष्वस्खलिता बुद्धिर्भवति तादृशी ज्ञानादिष्वपि"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २१२ पं० २७—।

४ मुख्यसि-वृ० विना।

५ "तद्द्रव्यसमवेताच्चेदेकत्वात् परिकल्प्यते। गुणादिष्वेकविज्ञानमेकार्थसमवायतः"॥

—तत्त्वसं० का० ६४१ पृ० २१३।

६ "अस्तु नामैवमेकत्र ज्ञाने व्याप्ति(द्व्यादि)मतिस्तु कम्। एतेष्वपेक्षते हेतुं षट्पदार्थादिकेषु वा॥
एकार्थसमवायादेर्गौणोऽस्य प्रत्ययो भवन्। तथा च स्खलितो यस्मान्माणवेऽनलबुद्धिवत्"॥

—तत्त्वसं० का० ६४२-६४३ पृ० २१३।

७ "गजादीत्यादिना अविद्धकर्णोक्तं संख्यासिद्धये प्रमाणमाशङ्कते—
गजादिप्रत्ययेभ्यश्च वैलक्षण्यात् प्रसाध्यते। संख्याबुद्धिस्तदन्योत्था नीलवस्त्रादिबुद्धिवत्"—

—तत्त्वसं० का० ६४४ पृ० २१३।

८ "इच्छारचितसंकेतमनस्कारादुपायतः। तन्नेष्टसिद्धिर्बुद्ध्यादौ सत्यैतेनैव वा भवेत्"॥

—तत्त्वसं० का० ६४५ पृ० २१४।

९ "बुद्ध्यपेक्षा न संख्याया निष्पत्तिर्यदि वर्ण्यते। संकेताभोगमात्रेण तद्बुद्धिः किं न सम्मता"॥

—तत्त्वसं० का० ६४६ पृ० २१४।

इत्यादिबुद्धेरुपपत्तेः तथापि अदृष्टसामर्थ्यस्य अन्यस्य तद्धेतुत्वकल्पने हेत्वनवस्थाप्रसक्तिः । किञ्च, अपेक्षाबुद्ध्यन्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वे द्वित्वादिप्रत्ययस्य द्व्यादिसंख्याप्रभवत्वाभ्युपगमे तद्धेतुभूतसंख्याया एकस्या अनेकवृत्तित्वमभ्युपगतं भवति, तच्च प्रमाणबाधितमिति असकृद् आवेदितम्। अतोऽपेक्षाबुद्धिरेव द्व्यादिबुद्धिनिमित्तभूता वरमभ्युपगन्तव्येति स्थितम्।

"परिमाणव्यवहारकारणं परिमाणं महद् अणु दीर्घम् ह्रस्वमिति चतुर्विधम्" [ ] इति परैरभ्युपगतम्। "तत्र महद् द्विविधम्-नित्यम् अनित्यं च। नित्यम् आकाश-काल-दिगात्मसु परममहत्त्वम्, अनित्यम् त्र्यणुकादिषु द्रव्येषु । अणु अपि नित्याऽनित्यभेदात् द्विविधम्-परमाणुमनस्सु पारिमाण्डल्यलक्षणं नित्यम्, अनित्यं द्व्यणुक एव। कुवलाऽऽ-मलक-बिल्वादिषु तु महत्स्वपि तत्प्रकर्षाभावमपेक्ष्य भाक्तोऽणुव्यवहारः। तथाहि-यादृशं बिल्वे महत् परिमाणम् तादृशं न आमलके यादृशं च तत् तत्र न तादृशं कुवल इति । ननु महद्-दीर्घयोस्त्र्यणुकादिषु वर्तमानयोः द्व्यणुके च अणुत्व-ह्रस्वत्वयोः को विशेषः? महत्सु 'दीर्घमानीयताम्' दीर्घेषु 'महद् आनीयताम्' इति व्यवहारभेदप्रतीतेरस्ति तयोः परस्परतो भेदः। अणुत्व-ह्रस्वत्वयोस्तु विशेषो योगिनां तद्दर्शिनामध्यक्ष एव" [ ] महदादि च परिमाणं रूपादिभ्योऽर्थान्तरम्, तत्प्रत्ययविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्वात्, सुखादिवत्। अत्र यदि 'रूपादिविषयेन्द्रियबुद्धिविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्वात्' इति हेत्वर्थस्तदा हेतुरसिद्धः तथाव्यवस्थितरूपादिव्यतिरेकेण महदादिपरिमाणस्य अध्यक्षप्रत्ययग्राह्यत्वेन असंवेदनात् । अथ 'अणु' 'महत्' इत्याकारतत्प्रत्ययविलक्षणकल्पनाबुद्धिग्राह्यत्वात्' इति हेतुस्तदा विपर्यये बाधकप्रमाणाभावाद् अनैकान्तिकः। न ह्यस्याः किञ्चिदपि परमार्थतो ग्राह्यमस्ति कल्पनाबुद्धित्वात्। एकदिग्मुखादिप्रवृत्तेषु विशिष्टरूपादिषु उपलब्धेषु तद्विलक्षणरूपादिभेदप्रकाशनाय समयवशात् 'महत्' इत्यादि अध्यवस्यन्ती बुद्धिः प्रवर्तते इति नातो वस्तुव्यवस्था। न च रूपादिव्यतिरिक्तं ग्राह्यमप्यस्या अस्तीति असिद्धता हेतोः। प्रत्यक्षबाधा च प्रतिज्ञायाः अध्यक्षत्वेन अभ्युपगतस्य महदादे रूपादिव्यतिरेकेण अनुपलब्धेः । ततो दृष्टे स्पृष्टे वा एकदिङ्मुखप्रवृत्ते रूपादौ भूयसि अतद्रूपपरावृत्ते 'दीर्घम्' इति व्यवहार• प्रवर्तते परिमाणाभावेऽपि तदपेक्षया चाल्पीयसि रूपादौ समुत्पन्ने 'ह्रस्वम्' इति व्यवहारः। एवं महदादौ अपि योज्यम् । एकाऽनेकविकल्पाभ्यां रूपादिवद् महदाद्यनुपपत्तेश्च अभावः। अविद्यमानेऽपि महदादौ भवत्प्रकल्पिते प्रासादमालादिषु महदादिप्रत्ययप्रादुर्भूतेरनुभवाद्

---

१ "एवं ह्यदृष्टसामर्थ्यस्य हेतुत्वं न कल्पितं स्यादन्यथा हि हेतूनामनवस्था भवेत्"—तत्त्वसं॰ पञ्जि॰ पृ॰ २१४ पं॰ १६।

२ "महद्दीर्घादिभेदेन परिमाणं यदुच्यते । तदप्यर्थं तथारूपभेदादेव न किं मतम्?" ॥—तत्त्वसं॰ का॰ ६४७ पृ॰ २१४।

"परिमाणं मानव्यवहारकारणम्। तच्चतुर्विधम् अणु महद् दीर्घं ह्रस्वं चेति। तत्र महद् द्विविधम् नित्यमनित्यं च। नित्यमाकाशकालदिगात्मसु परममहत्त्वम् अनित्यं त्र्यणुकादावेव। तथा चाण्वपि द्विविधम् नित्यमनित्यं च । नित्यं परमाणुमनस्सु तत् पारिमाण्डल्यम्। अनित्यं द्व्यणुक एव"—प्रशस्त॰ कं॰ पृ॰ १३० पं॰ २०—।

३ "कुवलयामलकबिल्वादिषु महत्स्वपि तत्प्रकर्षभावाभावमपेक्ष्य भाक्तोऽणुत्वव्यवहारः"—प्रशस्त॰ कं॰ पृ॰ १३० पं॰ २५।

"कुवलामलबिल्वादिषु च महत्स्वपि तत्प्रकर्षाभावमपेक्ष्य भाक्तोऽयं व्यवहारः"—तत्त्वसं॰ पञ्जि॰ पृ॰ २१५ पं॰ १।

"अनित्यमणुपरिमाणं द्व्यणुक एवेत्युक्तम् कुवलयामलकबिल्वादिषु परस्परापेक्षयाणुव्यवहारदर्शनादत आह-कुवलयामलकबिल्वादिष्विति। बिल्वे यः प्रकर्षभावो महत्परिमाणातिशययोगित्वं तस्यामलकेऽभावमपेक्ष्याणुव्यवहारो भाक्तः। उभाभ्यां भज्यते इति भक्ति सादृश्य तस्यायमिति भाक्त सादृश्यमात्रनिबन्धनो गौण इत्यर्थ एवमामलकपरिमाणातिशयाभावं कुवलयेऽपेक्ष्याणुव्यवहारः। यत्र हि मुख्यमणुत्वं द्व्यणुके तत्र महत्परिमाणस्याभावो दृष्टः आमलकेऽपि यादृशं बिल्वे महत्परिमाणं तादृशं नास्तीत्येतावता साधर्म्येणोपचारप्रवृत्तिः"—प्रशस्त॰ कं॰ पृ॰ १३४ पं॰ १—।

४ "दीर्घा प्रासादमालेति महती वेद्यते यथा। न हि तत्र यथारूपं परिमाणं प्रकल्पितम् ॥
एकार्थसमवायेन तथा चेद् व्यपदिश्यते। न महत्त्वं न दैर्घ्यं च धामस्वत्र विवक्षितम्" ॥—तत्त्वसं॰ का॰ ६४९ पृ॰ २१५।

अनैकान्तिकश्च हेतुः। न च यत्रैव प्रासादादौ समवेतो मालाख्यो गुणः तत्रैव महत्त्वादिकमपीत्ये-कार्थसमवायवशात् 'महती प्रासादमाला' इति प्रत्ययोत्पत्तेर्न अनैकान्तिकत्वम्, स्वसमयविरोधात्। तथाहि—न प्रासादो भवद्भिरवयविद्रव्यमभ्युपगम्यते, विजातीयानां द्रव्यानारम्भात् किं तर्हि? संयोगात्मको गुणः। न च गुणः परिमाणवान् "निर्गुणा गुणाः" [ ] इति वचनात्। ततो मालाख्यस्य गुणस्य प्रासादादिष्वभावात् 'प्रासादमाला' इत्ययमेव प्रत्ययस्तावद् अयुक्तः—दूरत एव 'सा महती ह्रस्वा वा' इत्यादिप्रत्ययव्यपदेशसंभवो मालायाः संख्यात्वेन प्रासादादीनां च संयोगत्वेन महत्त्वादेश्च परिमाणत्वेन परैरभ्युपगमात् त्रयाणामपि गुणत्वाद् गुणेषु च गुणासंभवात् 'महती प्रासादमाला' इति नैकार्थसमवायात् प्रत्ययोत्पत्तिः। अथापि अवयविस्वभावा माला इष्यते तथापि द्रव्यस्य द्रव्याश्रयत्वान्न मालायाः संयोगस्वरूपप्रासादाश्रयत्वं युक्तम्। अथ माला जातिस्वभावा अभ्युपगम्यते तथापि जातेः प्रत्याश्रयं परिसमाप्तत्वात् एकस्मिन्नपि प्रासादे 'माला' इति प्रत्ययोत्पत्तिर्भवेत्। 'एका प्रासादमाला महती दीर्घा ह्रस्वा वा' इत्यादिप्रत्ययानुपपत्तिस्तदवस्थैव स्यात् मालायाम् तदाश्रये च प्रासादादौ एकत्वादेर्गुणस्य असंभवात् काष्ठादिषु च प्रासादाश्रयेषु विवक्षितदीर्घाद्ययोगात् बह्वीषु च प्रासादमालासु 'माला' 'माला' इति अनुगतप्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात् जातावपरजातेरनुपपत्तेः। न च तदाश्रयजातिनिबन्धन औपचारिकोऽयं प्रत्ययोऽस्खलद्वृत्तित्वात्। न हि मुख्यप्रत्ययाऽविशिष्टो गौणो युक्तोऽतिप्रसङ्गात्। अत एव मालादिषु महत्त्वादिप्रत्ययोऽपि नौपचारिकः। उक्तं च—

"मालादौ च महत्त्वादिरिष्टो यश्चौपचारिकः।
मुख्याऽविशिष्टविज्ञानग्राह्यत्वान्नौपचारिकः" ॥ [ ] इति।

तन्न परिमाणं रूपादिषु पृथग् गुण इति स्थितम्।

संयुक्तमपि द्रव्यं यद्वशात् 'अत्रेदं पृथक्' इत्यपोद्ध्रियते तदपोद्धारव्यवहारकारणं पृथक्त्वं नाम गुणः इति काणादाः 'घटादिभ्योऽर्थान्तरम्, तत्प्रत्ययविलक्षणज्ञानग्राह्यत्वात्, सुखादिवत्' इति

---

१ "प्रासादश्चेष्यते योगो गुणः सोऽपरिमाणवान्। न तस्मात्स्वपरा माला नोपचारस्य चाश्रयः" ॥—तत्त्वसं० का० ६५० पृ० २१६।

२ "विजातीयद्रव्यानारम्भात्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २१६ पं० ९। "विजातीयानां द्रव्यानारम्भकत्वात्"—प्रमेयक० पृ० १७८ प्र० पं० १४।

३ "स च गुणः परिमाणवान्न भवति "निर्गुणा गुणाः" इति समयात्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २१६ पं० १०।
"न च गुणः परिमाणवान् निर्गुणा गुणा इत्यभिधानात्"—प्रमेयक० पृ० १७८ प्र० पं० १४।

४ "द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्"—वैशेषिकद० १-१-१६।
"रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसंबन्धो द्रव्याश्रितत्वं निर्गुणत्वम् निष्क्रियत्वम्"—प्रशस्त० कं० पृ० ९४ पं० ६।
"अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः"—न्यायसि० मु० का० ८६।
"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः"—तत्त्वार्थसू० ५-४०।

५ "अथ जातिस्वभावा मालाऽङ्गीक्रियते एवमपि जातेस्सर्वात्मना प्रत्याश्रयपरिसमाप्तत्वादेकोऽपि प्रासादो मालेत्युच्येत वृक्षवत्। यथोक्तम्—गेहो यद्यपि संयोगस्तन्माला किन्नु तद् भवेत्। जातिश्चेद् गेह एकोऽपि मालेत्युच्येत वृक्षवत्" ॥—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २१६ पं० १४—।

६ "बह्वीषु च प्रासादमालासु माला माला इत्यनुगामी व्यपदेशो न स्यात् जातेरजातितः। यदाह—मालाबहुत्वे तच्छब्दः कथं जातेरजातितः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २१६ पं० १९—।

७ "नहि मुख्यप्रत्ययाविशिष्टो गौणो युक्तोऽतिप्रसङ्गात् यदाह—
मालादौ च महत्त्वादिरिष्टो यश्चौपचारिकः। मुख्याविशिष्टविज्ञानग्राह्यत्वान्नौपचारिकः" ॥
—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २१६ पं० २३—।

८ "तत्र इदमस्मात् पृथगिति यद्वशात् संयुक्तमपि द्रव्यमपोद्ध्रियते तदपोद्धारकारणं पृथक्त्वं नाम, तच्च घटादिभ्योऽर्थान्तरं तत्प्रत्ययविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्वादिति पूर्ववत् परस्याभिप्रायः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २१६ पं० २६—।

व्यवस्थिताः । अत्र तावद् हेतोरसिद्धता, पररूपरस्वरूपव्यावृत्तरूपादिव्यतिरेकेण अर्थान्तरभूतस्य पृथक्त्वगुणस्य अध्यक्षे अप्रतिभासनेन घटादिविलक्षणज्ञानग्राह्यत्वस्यासिद्धेः । अत एव उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वेन अभ्युपगतस्य तस्य अनुपलम्भाद् असत्त्वम् । न च 'पृथक्' इति विकल्पप्रत्ययावसेयत्वेन तस्य सत्त्वम् सजातीय-विजातीयव्यावृत्तरूपाद्यनुभवनिबन्धनत्वात् तत्प्रत्ययस्य । व्यावृत्तता च भावानां स्वस्वभावव्यवस्थितेः अन्यथा स्वत एव अव्यावृत्तरूपाणां पृथक्त्वादिवशात् तेषां पृथग्रूपताऽसिद्धेः पृथक्त्वादेर्भिन्नाऽभिन्नपृथग्रूपभावकरणे अकिञ्चित्करत्वात्-भेदपक्षे संबन्धासिद्धेः, अभेदपक्षे तु पृथग्रूपस्य भावस्यैव उत्पत्तेरर्थान्तरभूतपृथक्त्वगुणकल्पनावैयर्थ्यात् तत एव 'पृथक्' व्यवहारसिद्धेर्हेतोरनैकान्तिकत्वम् । किञ्च, यथा परस्परव्यावृत्तात्मतया सुख-दुःखादिगुणेषु 'पृथक्' इति प्रत्ययविषयता पृथक्त्वगुणाभावेऽपि-गुणेषु गुणासंभवात्-तथा घटादिष्वपि भविष्यतीति हेतोरनैकान्तिकता परिस्फुटैव । न च गुणेषु 'पृथक्' इति प्रत्ययो भाक्तः मुख्यप्रत्ययाऽविशिष्टत्वात् । 'पृथक्' इत्यपोद्धारव्यवहारस्य स्वरूपविभिन्नपदार्थनिबन्धनत्वात् परोपन्यस्तानुमाने प्रतिज्ञाया अनुमानबाधा । तथा च प्रयोगः—ये परस्परव्यावृत्तात्मानः ते स्वव्यतिरिक्तपृथक्त्वानाधाराः, यथा सुखादयः, परस्परव्यावृत्तात्मानश्च घटादयः इति स्वभावहेतुः । एकस्य अनेकवृत्त्यनुपपत्तिः संबन्धाभावश्च समवायस्य प्रतिपेत्स्यमानत्वात् सुखादिषु तद्व्यवहाराभावप्रसक्तिश्च विपर्यये बाधकं प्रमाणम् । तन्न पृथक्त्वं गुणः तत्साधकप्रमाणाभावाद् बाधकोपपत्तेश्चेति व्यवस्थितम् ।

अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः प्राप्तिपूर्विका च अप्राप्तिर्विभागः । एतौ च द्रव्येषु यथाक्रमं 'संयुक्त'-'विभक्त'-प्रत्ययहेतू अन्यतरोभयकर्मजौ संयोग-विभागजौ च यथाक्रमम् । न च संयोग-विभागयोः सत्त्वप्रतिपादकप्रमाणाविषयत्वात् सद्व्यवहाराविषयता शशविषाणवत् इति वाच्यम्, "संयोगस्य द्रव्ययोर्विशेषणत्वेन अध्यक्षतः प्रतीयमानत्वात् । तथाहि-कश्चित् केनचित् 'संयुक्ते द्रव्ये आहर' इत्युक्तो ययोरेव द्रव्ययोः संयोगमुपलभ्य(भ)ते ते एव आहरति न द्रव्यमात्रम् अन्यथा हि यत्

---

१ "अपोद्धारव्यवहृतिः पृथक्त्वाद् या तु कल्प्यते । कारणात् सा विभिन्नात्मभावनिष्ठा न किंमता" ? ॥ —तत्त्वसं० का० ६५१ पृ० २१७ ।

२ "परस्परविभिन्ना हि यथा बुद्धि-सुखादयः । पृथग्वाच्यास्तदङ्गं च विनाऽन्येन तथाऽपरे" ॥—तत्त्वसं० का० ६५२ पृ० २१७ ।

३ "यौ संयोगविभागौ च द्रव्येषु नियतौ परैः । संयुक्तादिधियो हेतू कल्पितौ तावनर्थकौ" ॥—तत्त्वसं० का० ६५३ पृ० २१८ ।

४ "संयुक्ते आहरेत्युक्ते संयोगं प्रेक्षते ययोः । तदन्यपरिहारेण ते एवाहरति ध्रुवम्" ॥—तत्त्वसं० का० ६५७ पृ० २१८ ।

५ "तथाहि—कश्चित् केनचित् संयुक्ते द्रव्ये आहरेत्युक्ते ययोरेव द्रव्ययोः संयोगमुपलभते ते एव आहरति न द्रव्यमात्रम्" इत्यादि—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २१८ पं० २३—।

संयोगसमर्थनपरमेतद् उद्द्योतकरमतं न्यायवार्तिके इत्थमुपलभ्यते—

"विशेषणभावाच्चार्थान्तरं संयोगः—संयुक्ते द्रव्ये आहरेत्युक्ते ययोर्द्रव्ययोः संयोगं पश्यति ते इतरेभ्यो विशिष्य संयुक्ते आहरति । × × × यदि चार्थान्तरं संयोगो न स्यात् क्षेत्रोदकबीजामीन्धनादीनि सर्वत्रावस्थितानि सर्वत्राङ्कुरपाकादिकार्यं कुर्युः तान्येव तानीति । तस्माद् यस्तैरपेक्ष्यते सोऽर्थोऽन्यस्तस्मिन् संयोग इति संज्ञेति । क्षेत्रोदकबीजामीन्धनानि अङ्कुरपाकादिकार्योत्पत्तौ सापेक्षाणि सर्वदा तत्कार्यानारम्भाद् दण्डादिवत्–यथा दण्डाद्यनेकं कारणं संयोगादिनिमित्तान्तरापेक्षं सर्वदा न घट-पटादिकार्यं करोति तथा बीजाद्यपि तस्मात् तदपि सापेक्षम् । × × × सान्तरनिरन्तरबुद्ध्योश्च निमित्तं वक्तव्यम् । यदि संयोगं विभागं निमित्तान्तरं न प्रतिपद्यसे सान्तरमितिबुद्धेर्निरन्तरमिति च बुद्धेर्भेदहेतुर्वक्तव्यः । न हि निमित्तभेदमन्तरेण बुद्धीनां भेदो दृष्टो रूपादिवदिति–या चेयमचलति चलतीति बुद्धिर्या असंयुक्ते संयुक्तमिति अविभक्ते विभक्तमिति च सा च प्रधानमन्तरेण न भवति । सर्वा एता मिथ्याबुद्धयः प्रधानानुकारेण भवन्तीति प्रधानं वक्तव्यम् । न हि निष्प्रधानं भाक्तं दृष्टम् स्थाणु-पुरुषवदिति । यथा स्थाणौ सति पुरुषे स्थाणुरिति बुद्धिः पुरुषे वाऽसति स्थाणौ रिति । यदि चार्थान्तरं संयोगो न स्यात् कुण्डलीत्यस्या बुद्धेः किंनिमित्तमवश्यं विधीयमानं प्रतिषिध्यमानं वा नि

किञ्चिद् आहरेत्। एतद् विभागसाधनेऽपि विपर्ययेण सर्वं समानम् । किञ्च, यदि अर्थान्तरभूतौ संयोग-विभागौ वस्तुनो न स्याताम् तदा वस्तुमात्रनिबन्धनौ 'सान्तरमिदम्' 'निरन्तरम्' इति च प्रत्ययौ नोत्पद्येयाताम् न हि विशेषप्रत्ययौ वस्तुविशेषमन्तरेण संभविनौ सर्वदा सर्वत्र भावप्रसङ्गात्। अपि च, दूरदेशावर्तिनः प्रमातुः सान्तरावस्थितेऽपि धव-खदिरादौ निरन्तरावसायिनी बुद्धिर्योत्पद्यते या च शालिशिखरावसक्ते बलाकादौ सान्तरत्वाध्यवसायिनी समुपजायते; द्विविधाऽपि इयम् 'अतस्मिंस्तत्' इति प्रवृत्तेर्मिथ्याबुद्धिः। न च असौ मुख्यपदार्थानुभवमन्तरेण क्वचिद् उपजायमाना संलक्ष्यते न हि अननुभूतरजतस्य शुक्तिकायाम् 'रजतम्' इति विभ्रमः इति कश्चित् मुख्यो भावो विभ्रमधियो निमित्तमभ्युपगन्तव्यः; तदभ्युपगमे च संयोग-विभागसिद्धिः तद्व्यतिरेकेण अन्यस्य एतद्बुद्धेर्निबन्धनस्य असंभवात्। तथा, 'कुण्डली देवदत्तः' इति मतिः किंनिबन्धना उपजायते इति वक्तव्यम् । न पुरुष-कुण्डलमात्रनिबन्धना, सर्वदा तयोस्तस्या उत्पत्तिप्रसङ्गात् । अपि च, यदेव क्वचित् केनचित् उपलब्धं सत्वेन; तस्यैव अन्यत्र विधिः प्रतिषेधो वा दृष्टः । यदि च संयोगो न कदाचिद् उपलब्धः कथं विभागेन अस्य 'चैत्रोऽकुण्डलः कुण्डली वा' इत्येवं प्रतिषेधः विधिश्च

श्रुपादेयम् । न तावत् कुण्डलनिमित्ता नापि देवदत्तनिमित्ता । न च भवता निमित्तान्तरं प्रतिपाद्यते, निमित्तान्तरं चान्तरेण यथा कथंचिद् व्यवस्थिताभ्यां देवदत्त-कुण्डलाभ्यां कुण्डलीति बुद्ध्या भवितव्यम् । तस्मादवश्यं विधीयमानं प्रतिषिध्यमानं वा निमित्तान्तरमभ्युपगन्तव्यम् । यदि प्रतिषिध्यमानं यदन्यत्र भवति तदन्यत्र प्रतिषिध्यत इति प्रतिषिध्यमानस्य विषयो वक्तव्यः । तस्मान्न कथमन संयोगः प्रतिषेद्धुं शक्यते । इहबुद्धिनिमित्तत्वाच्च–इयमिहबुद्धिः प्रवर्तमाना नर्ते संबन्धात् प्रवर्तते–यथेह कुण्डे बदराणीति–नेयं बदरमात्रनिमित्ता न कुण्डमात्रनिमित्तेति । यदस्या निमित्तं स संयोग इति । × × × तस्माद् उपपन्नमर्थान्तरं संयोग इति"—पृ० २१९ पं० १–पृ० २२५ पं० १।

प्रमेयकमलमार्तण्डे तु तत् तन्मतमित्थं वर्तते—

"ननु संयोगो नामार्थान्तरं न स्यात् तदा क्षेत्रे बीजादयो निर्विशिष्टत्वात् सर्वदैवाङ्कुरादिकार्यं कुर्युः न चैवम्, तस्मात् सर्वदा कार्यानारम्भात् तेऽङ्कुरादिकार्योत्पत्तौ कारणान्तरसापेक्षा यथा मृत्पिण्डदण्डादयो घटकरणे कुम्भकारादिसापेक्षाः योऽसावपेक्ष्यः स संयोग इति । किञ्च, द्रव्ययोर्विशेषणभावेनाध्यक्षत एवासौ प्रतीयते । तथाहि—कश्चित् केनचित् संयुक्ते द्रव्ये आहरेत्युक्ते ययोरेव द्रव्ययोः संयोगमुपलभते ते एवाहरति न द्रव्यमात्रम्। किञ्च, कुण्डली देवदत्त इत्यादि मतिरुपजायमाना किंनिबन्धनेति अभिधातव्यम् ? न तावत् पुरुषकुण्डलमात्रनिबन्धना सर्वदा तस्याः सद्भावप्रसङ्गात् । किञ्च, यदेव केनचित् क्वचिदुपलब्धसत्त्वं तस्यैवान्यत्र विधिप्रतिषेधमुखेन लोके व्यवहारप्रवृत्तिर्दृष्टा । यदि तु संयोगो न कदाचिदुपलब्धस्तत् कथमस्य चैत्रोऽकुण्डली कुण्डली चेत्येवं विभागेन व्यवहारो भवेत्। चैत्रोऽकुण्डलीत्यत्र हि न कुण्डलं चैत्रो वा प्रतिषिध्यते देशादिभेदेनानयोः सतोः प्रतिषेधायोगात् । तस्माच्चैत्रस्य कुण्डलसंयोगः प्रतिषिध्यते । तथा चैत्रः कुण्डलीत्यनेनापि विधिवाक्येन चैत्र-कुण्डलयोर्नान्यतरस्य विधानं तयोः सिद्धत्वात् । पारिशेष्यात् संयोगस्यैव विधिर्ज्ञायते इत्यप्युद्द्योतकरस्य मनोरथमात्रम्"—पृ० १८५ द्वि० पं० १०—पृ० १८६ प्र० पं० २।

तत्त्वसंग्रहे त्वेतदुद्द्योतकरमतं समग्रं वर्तते परंतु न प्रस्तुतटीकाक्रमेण अत एव यत्र यत्र तत्त्वसंग्रहानुसारिणी टीका समायाता तत्र तत्र तास्ताः कारिकाः क्रमव्यत्यासेनापि उद्धृताः।

१ निरन्तरमिदं वस्तु सान्तरं चेदमित्ययम् । बुद्धिभेदश्च केनैव विद्यते तौ च चेदिह" ॥—तत्त्वसं० का० ६५८ पृ० २१८।

२ "या चेयं सान्तरे बुद्धिर्नैरन्तर्यावसायिनी । निरन्तरेऽपि या चान्या मिथ्याबुद्धिरियं द्विधा ॥

मिथ्याबुद्धिश्च सर्वैव प्रधानार्थानुकारिणी । प्रधानं चेह वक्तव्यं तदुक्तौ तौ च सिद्धतः" ॥—तत्त्वसं० का० ६५९-६६० पृ० २१९।

३ "या चेयमीषत्तरुशिखरावलम्बे बलाकादौ निरन्तरेऽपि सान्तरत्वमिवावस्यन्ती जायतेऽन्या"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २१९ पं० ९-।

४ "कुण्डलीति मतिश्चेयं किंनिमित्तोपजायते । नरकुण्डलभावाच्चो सर्वदा तत्प्रसङ्गतः ॥

अन्यत्र दृष्टभावस्य निषेधोऽन्यत्र युज्यते । संयोगश्च भवेद् दृष्टः स कथं प्रतिषिध्यते ? ॥

चैत्रोऽकुण्डल इत्येवं तस्मादस्त्येव वास्तवः । प्रतिषेधविधानादि विभागेन प्रवर्तते" ॥—तत्त्वसं० का० ६६१-६६३ ।

भवेत्? यतः 'अकुण्डलश्चैत्रः' इति न कुण्डलं प्रतिषिध्यते तस्य अन्यदेशादौ विद्यमानस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्, अत एव न चैत्रः ततश्चैत्रस्य कुण्डलसंयोगः प्रतिषिध्यते। एवं 'कुण्डली चैत्रः' इत्यत्रापि चैत्र-कुण्डलयोर्नान्यतरस्य विधिः तयोः सिद्धत्वात्। ततः पारिशेष्याद् अप्रतीतस्य तत्-संयोगस्यैव[1] विधिरिति संयोगादिर्वास्तवः समस्त्येव यद्वशाद् विभक्तविधि-प्रतिषेधप्रवृत्तिः 'चैत्रः कुण्डली' इत्यादिप्रयोगेषु। किञ्च, यदि संयोगः अर्थान्तरं न भवेत् तदा बीजादयः[2]—अविशिष्टत्वात् सर्वदैव स्वकार्यमङ्कुरादिकं विदध्युः न चैवम् सर्वदा तेषां कार्यानारम्भात्; अतो बीजादयः स्वकार्यनिर्वर्तने कारणान्तरसव्यपेक्षाः मृत्पिण्ड-दण्ड-चक्र-सूत्रादय इव घटादिकरणे; योऽसौ अपेक्ष्यः स संयोगः" [ ] इति उद्द्योतकरः।

अत्र प्रतिविधीयते-यत्[3] तावदुक्तम् 'पदार्थविशेषणभावेन संयोगोऽध्यक्षतः प्रतीयते' इति, तदयुक्तम्; यतः न संयुक्त[4]पदार्थार्थान्तरभूतः संयोगः कदाचित् प्रतिपत्तुर्दर्शनपथमवतरति, न तद्दर्शनाद् विशिष्टे द्रव्ये[5]ऽसावाहरति किं तर्हि? प्राग्भाविसान्तरावस्थातो विशिष्टे निरन्तरावस्थे ये समुत्पन्ने वस्तुनी; ते एव 'संयुक्त'प्रत्ययविषये तच्छब्दवाच्ये, अवस्थाविशेषे संकेतितत्वात् 'संयुक्त'-शब्दस्य। ततो यत्र तथाविधे वस्तुनी 'संयोग'शब्दविषयतामुपगते निश्चिनोति तत्र ते एव आहरति नान्ये न हि प्रेक्षावान् शब्दात् तदप्रेरिते अर्थे प्रवृत्तिमारचयति। वस्त्वन्तर[6]मेव च तथा तथोत्पद्यमानं 'निरन्तरमिदं वस्तु' 'सान्तरमिदम्' इति च बुद्धिभेदनिबन्धनं भविष्यति संयोग-विभागयोर्द्रव्यार्थान्तरभूतयोरभावेऽपि इति अनैकान्तिको 'विशेषप्रत्ययत्वात्' इति हेतुः। तथाहि-विच्छिन्नं यदुत्पन्नं वस्तु तत् सान्तरबुद्धेर्निमित्तभावमुपयात्येव हिमवत्[7]-विन्ध्यादिवत्, अविच्छिन्नोत्पत्तिकं च निरन्तरबुद्धिविषयः निरन्तरोपरचितदेवदत्त-यज्ञदत्तगृहवत् न हि गृहयोः परेणापि संयोगगुणाश्रयत्वमभ्युपगम्यते निर्गुणत्वाद् गुणानाम् तयोश्च संयोगात्मकत्वेन गुणत्वात्। नापि हिमवत्-विन्ध्ययोर्विभागाश्रयत्वम् प्राप्तिपूर्विकाया अप्राप्तेर्विभागलक्षणायास्तयोरभावात्। न[8] च सर्वा मिथ्याबुद्धिः

---

१ "पारिशेष्यात् संयोगस्यैवाप्रतीतस्य विधेर्ज्ञायते तस्मादस्त्येव संयोगादिर्वास्तवः यद्वशाच्चैत्रः कुण्डली न भवतीत्यादिनिषेधविधानादि प्रविभक्तमेव प्रतीयते। आदिशब्देन विशेषणत्वेनोपादानमित्यादिपूर्वोक्तपरिग्रहः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२० पं० ३—।

२ "बीजोदकेत्यादिना उद्द्योतकरमतोपदर्शनाद् हेतोरसिद्धतामाशङ्कते—

बीजोदकपृथिव्यादि सर्वदा कार्यकारकम्। प्रसक्तं निर्विशेषत्वात् संयोगासंभवेन तु॥

क्षेत्र-बीज-जलादीनि सापेक्षाणीति गम्यते। स्वकार्यकरणानित्यं दण्डचक्रोदकादिवत्॥

यस्तैरपेक्ष्यते भावः स संयोगो भविष्यति। सविशेषणभावाच्च भिन्न एवेति गम्यते"॥—तत्त्वसं० का० ६५४-६५६ पृ० २१८।

३ पृ० ६७७ पं० २०।

४ "प्राप्तावस्थाविशेषे हि नैरन्तर्येण जातितः। ये पश्यत्याहरत्येष वस्तुनी ते तथाविधे"॥—तत्त्वसं० का० ६६६ पृ० २२१।

५ अत्र द्वितीयाद्विवचनस्य समुचितत्वेन प्रकृतिभावस्य साधुत्वात् 'द्रव्ये असौ'-इत्येव पाठः सुचारुः। "नहि संयुक्तपदार्थान्तरभूतः संयोगः प्रतिपत्तुर्दर्शनपथमवतरति येन तद्दर्शना(त्त)द्विशिष्टे द्रव्ये आहरति"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२१ पं० १५।

६ विच्छिन्नमन्यथा चैव जातमेति निमित्तताम्। सान्तरानन्तरज्ञाने गेह-विन्ध्य-हिमादिवत्" ॥—तत्त्वसं० का० ६६७ पृ० २२१।

७ "गेह विन्ध्य-हिमादिवत् इति। अनयोरेव यथायोगमुदाहरणम्। न हि अविच्छेदेनोत्पन्नयोः स्वयं संयोगात्मनोर्गेहयोरपरः संयोगो निरन्तरबुद्धेर्निबन्धनमस्ति परमतेऽपि, नापि विच्छेदेनोत्पन्नयोस्तयोरेव विभागः सान्तरप्रत्ययनिमित्तमस्ति निर्गुणत्वाद् गुणानामित्युक्तमेतत्। न हि हिम-विन्ध्ययोरपि विभागः सान्तरबुद्धेर्हेतुरस्ति प्राप्तिपूर्विका ह्यप्राप्तिर्विभाग इति समयात्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२१ पं० २५—।

८ "मिथ्याबुद्धिर्न सर्वैव प्रधानार्थानुसारिणी। साधर्म्यनिरपेक्षाऽपि काचिदन्तरुपप्लवात्॥

अन्यत्र गतचित्तस्य द्विचन्द्रादिमतिर्यथा। अविच्छिन्नादिजातं वा प्रधानमिह विद्यते"॥—तत्त्वसं० का० ६६८-६६९ पृ० २२२।

साधर्म्यग्रहणादुत्पद्यते कस्याश्चित् तदन्तरेणापि इन्द्रियवैगुण्यमात्रादेव उत्पत्त्युपलब्धेः अन्यगतचेतसस्तैमिरिकस्य द्विचन्द्राद्यविकल्पबुद्धिवत् । न च प्रधानार्थानुसारित्वेऽपि मिथ्याबुद्धेः परस्य इष्टसिद्धिः विच्छिन्नाऽविच्छिन्नरूपतया उपजातस्य वस्तुनः प्रधानभूतस्य तद्बुद्धिनिबन्धनस्य सिद्धावपि तदर्थान्तरभूतसंयोग-विभागलक्षणगुणाप्रसिद्धेः, यथा च चैत्र-कुण्डलयोर्विशिष्टावस्थाप्राप्तौ संयोगः प्रादुर्भवति न सर्वदा तथा 'चैत्रः कुण्डली' इति मतिरपि तदवस्थाविशेषनिबन्धना कदाचिदेव भविष्यति न सर्वदा इति किमर्थान्तरभूतसंयोगकल्पनया? यदपि 'यदेव क्वचिद् उपलब्धम्' इत्याद्यभिधानम्, तदपि असंगतम्; विशिष्टावस्थायाः प्रदर्शितमितिनिबन्धनाया उपलभ्यस्वभावायाः अन्यथानुपलम्भतः प्रतिषेधोपपत्तेः परपरिकल्पितस्य च संयोगस्य संयोगिपदार्थविवेकेन क्वचिदपि प्रत्यये अप्रतिभासनात् कुतः प्रतिषेधः विधिर्वा संभवी? यदि च देवदत्त कुण्डलयोर्देशान्तरादौ सत्त्वान्न निषेधः असत्त्वेऽपि तदानर्थक्यम् तदा नञर्थाभाव एव स्यात् । संयोगप्रतिषेधेऽपि चेतद् दूषणं समानम् तस्यापि विद्यमानत्वे प्रतिषेधानुपपत्तेः अविद्यमानत्वे तदानर्थक्यात् । यदपि 'बीजादयोऽविशिष्टत्वात् सर्वदैव कार्यं विदध्युः' इत्याद्युक्तम् तत्र बीजादीनामविशिष्टत्वमसिद्धम्, सर्वभावानां प्रतिक्षणविशरारुतया विशिष्टावस्थाप्राप्तौ जनकत्वात् बीजादीनां स्वकार्यजनने सापेक्षत्वमात्रसाधने च सिद्धसाध्यता अव्यवधानाद्यवस्थान्तरसापेक्षाणां बीजादीनामङ्कुरादिस्वकार्यनिर्वर्तनस्य अस्माभिरभ्युपगमात् । अथ संयोगाख्यपदार्थान्तरसापेक्षत्वं तेषां साध्यते तदा तथाविधेन धर्मेण हेतोरन्वयासिद्धेरनैकान्तिकता दृष्टान्तस्य च साध्यविकलताप्रसक्तिः । अथ अवस्थान्तरविशेषापेक्षा बीजादयः स्वकार्योत्पत्तिहेतवः न पुनरर्थान्तरभूतसंयोगापेक्षा इति कुतः सिद्धं येन सापेक्षत्वमात्रे साध्ये सामान्येन सिद्धसाध्यतादोष उद्भाव्यते? यदि हि संयोगमात्रसापेक्षा एव ते तदारम्भकास्तदा प्रथमोपनिपात एव अङ्कुरादिकार्यप्रसवो बीजादिभ्यो भवेत् पश्चाद्वद् अविकलकारणत्वात् । अथ प्रथमोपनिपाते न तदुदयः पश्चादपि न स्यात् पूर्ववद् विकलकारणत्वाविशिष्टत्वात् । न च बीजादेः संयोगे अनुपकारिणि अपेक्षा युक्ता अतिप्रसङ्गात् । न च तत्कारणानां क्षिति-बीजादीनामेकस्वभावतया नित्यसन्निहितत्वात् संयोगानां कादाचित्कत्वं युक्तम् । अथ क्षित्यादीनां संयोगेऽपि जन्ये कर्मादिसापेक्षत्वात् संयोगस्य कादाचित्कत्वम्, न; तत्रापि तुल्यपर्यनुयोगत्वात् । तथाहि–कर्मापि कस्मात् सर्वदा न जनयति? इति पर्यनुयोगस्य अव्यावृत्तिरेव । न च तत्कारणाभावात् इत्युत्तरं संगतम् नित्यकारणाभ्युपगमे तस्यापि नित्यभावः इति पर्यनुयोगस्य सर्वत्र तुल्यत्वात् । क्षणिकवादिनस्तु नायं दोषः पूर्वपूर्वहेतुप्रतिबद्धत्वात् तदुत्तरोत्तरकार्याणां युगपत् कारणैकत्वेन सर्वेषामसन्निधानात्, अतः परेषामङ्कुरादिकार्यहेतुत्वं बीजादीनां न सर्वदा प्रसज्यत इति नार्थान्तरसंयोगसापेक्षास्ते इति व्यवस्थितम् । संयोगसद्भावबाधकं च प्रमाणं प्रत्यक्षवद् अनुमानमपि विद्यत

---

१ "कुण्डलीति मतिश्चेयं जातावस्थाविशेषयोः । चैत्रकुण्डलयोरेव संयोग इव जायते" ॥—तत्त्वसं० का० ६७० पृ० २२२ ।

२ पृ० ६७८ पं० ९ टि० ४ । ३ पृ० ६७८ पं० ११ ।

४ "सोऽवस्थातिशयस्तादृग् दृष्टोऽन्यत्र निषिध्यते । चैत्रे कुण्डल इत्यादौ न संयोगस्तदृष्टितः" ॥—तत्त्वसं० का० ६७१ पृ० २२२ ।

५–तमतिबन्ध–भा० मां० । "यदवस्थाविशेषनिबन्धनेयं मतिरुपवर्णिता तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२३ पं० १ ।

६ पृ० ६७९ पं० १ । ७ पृ० ६७९ पं० ५ ।

८ "उच्यते क्षणिकत्वेन नाविशेषा जलादयः । सर्वेऽप्यव्यवधानादि तेऽपेक्षन्ते दशान्तरम्" ॥—तत्त्वसं० का० ६६४ पृ० २२० ।

९ "संयोगमात्रसापेक्षा यदि तु स्युर्जलादयः । योगानन्तरमेव स्यात् कार्यमेतेन ... तत्त्वसं० का० ६६५ पृ० २२० ।

१० "तस्माद् भवत एव दर्शनेऽङ्कुरादिकार्यप्रसवहेतुत्वं क्षित्यादीनां ... इति सिद्धम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२१ पं० ९— ।

एव । तथाहि-या[1] संयुक्ताकारा बुद्धिः सा भवत्परिकल्पितसंयोगानास्पदवस्तुविशेषमात्रप्रभवा, 'संयुक्तौ प्रासादौ' इति बुद्धिवत्, संयुक्ताकारा च 'चैत्रः कुण्डली' इत्यादिबुद्धिः इति स्वभावहेतुः । यद्वा-या अनेकवस्तुसन्निपाते सति समुत्पद्यते सा भवत्परिकल्पितसंयोगविकलानेकवस्तुविशेषमात्रभाविनी, यथा विरलावस्थितानेकतन्तुविषया बुद्धिः, तथा च विमत्यधिकरणभावापन्ना संयुक्तबुद्धिः इति स्वभावहेतुः । एतदेव प्रयोगद्वयं विभागप्रतिषेधेऽपि वाच्यम् । तथाहि-मेषादिषु विभक्तबुद्धिः विभागरहितपदार्थविषयमात्रनिबन्धना, विभक्तबुद्धित्वात् अनेकपदार्थाऽसन्निधानायत्तोदयत्वाद् वा, देवदत्तयज्ञदत्तगृहविभागबुद्धिवत् हिमवत्-विन्ध्यविभागबुद्धिवद्वा । साध्यविपर्यये हेतोर्बाधकं प्रमाणम्-एकस्यानेकवृत्त्यनुपपत्तिः इति न संयोग-विभागगुणद्वयसद्भावः ।

'इदं[2] परम्' 'इदमपरम्' इति यतोऽभिधानप्रत्ययौ भवतः तद् यथाक्रमं परत्वम् अपरत्वं च सिद्धम् । प्रयोगश्चात्र योऽयं 'परम्' 'अपरम्' इति च प्रत्ययः स घटादिव्यतिरिक्तार्थान्तरनिबन्धनः, तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्, सुखादिप्रत्ययवत् । तथाहि-एकस्यां दिशि स्थितयोः 'परम्' 'अपरम्' इति च प्रत्ययोत्पत्तेर्न तावदयं दिङ्निबन्धनः, एकस्मिन्नपि वर्तमानकाले वर्तमानयोर्युव-स्थविरयोरनियतदिग्देशसंयुक्तयोः 'परम्' 'अपरम्' इति च प्रत्ययोत्पत्तेर्नाप्ययं कालनिबन्धनः तदविशेषेऽपि प्रत्ययविशेषात्; न चान्यद् अस्य निबन्धनमभिधातुं शक्यम् तस्माद् यन्निबन्धनोऽयं प्रत्ययः तत् परत्वम् अपरत्वं चाभ्युपगन्तव्यम् । एतच्च द्वितयमपि दिक्कृतम् कालकृतं च । दिक्कृतस्य तावदियमुत्पत्तिः—एकस्यां[3] दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोरेकस्य द्रष्टुः संनिकृष्टमवधिं कृत्वा 'एतस्माद् विप्रकृष्टोऽयम्' इति परत्वाधारे बुद्धिरुत्पद्यते ततस्तामपेक्ष्य परेण दिक्प्रदेशेन योगात् परत्वमुत्पद्यते; विप्रकृष्टं वाऽवधिं कृत्वा 'एतस्मात् संनिकृष्टोऽयम्' इत्यपरत्वाधारे बुद्धिरुत्पद्यते तामपेक्षा(क्ष्या)परेण दिक्प्रदेशेन योगाद् अपरत्वस्य उत्पत्तिः । कालकृतयोस्तु अयमुत्पत्तिक्रमः । तथाहि-वर्तमानकालयोः अनियतदिग्देशसंयुक्तयोर्युव-स्थविरयोर्मध्ये [4]यस्य वली-पलित-रूढश्मश्रुतादिना अनुमितमादित्योदयानां भूयस्त्वम् तत्रैकस्य द्रष्टुर्युवानमवधिं कृत्वा स्थविरे विप्रकृष्टबुद्धिरुत्पद्यते तामपेक्ष्य परेण कालप्रदेशेन योगात् परत्वस्योत्पत्तिः, स्थविरं चावधिं कृत्वा यस्य अरूढश्मश्रुतादिना अनुमितमादित्योदयाऽस्तमयानामल्पत्वम् तत्र यूनि संनिकृष्टबुद्धिरुत्पद्यते तामपेक्ष्य अपरेण कालप्रदेशेन योगात् अपरत्वस्योत्पत्तिरिति ।

अत्र च परत्वसाधनमनैकान्तिकम् साध्यविपक्षेऽपि हेतोर्वृत्तेः । तथाहि-यथा[5] क्रमेण उत्पादाद् नीलादिषु कालोपाधिः क्रमेण च व्यवस्थानाद् दिगुपाधिश्च 'परं नीलम् अपरं च' इति प्रत्ययोत्पत्तिः असत्यपि परत्वापरत्वलक्षणे गुणे—गुणानां निर्गुणत्वात्—तथा घटादिष्वपि भविष्यतीति यद्यर्थान्तरनिमित्तत्वमात्रं परेण इह साधयितुमिष्टं तदा कथं न अनैकान्तिकता हेतोः ? अथ नित्यदिक्-कालपदार्थहेतुकगुणविशेषनिबन्धनत्वं प्रकृतप्रत्ययस्य तदा दृष्टान्ताभावः अनुमानबाधा च प्रतिज्ञायाः । तथाहि-यः पराऽपरादिप्रत्ययः स परपरिकल्पितगुणरहितार्थमात्रकृतक्रमोत्पादव्यवस्थानिबन्धनः, परापरप्रत्ययत्वात्, रूपादिषु परापरप्रत्ययवत्, परापरप्रत्ययश्चायं घटादिषु इति स्वभावहेतुः । न च

---

१ "न पराभिमताद् योगाज्जायते युक्तवस्तुधीः । युक्तबुद्धितया यद्वत् प्रासादादिषु युक्तधीः ॥
अनेकवस्तुसद्भावे जायमानतयाऽथवा । विभक्तानेकतन्त्वादिविषया इव बुद्धयः ॥
विभागेऽपि यथायोगं वाच्यमेतत् प्रमाद्वयम् । एकस्यानेकवृत्तिश्च न युक्तेति प्रबाधकम्" ॥—तत्त्वसं० का० ६७२-६७४ पृ० २२२ ।

२ "परापराभिधानादिनिमित्तं यच्च कल्प्यते । परत्वमपरत्वं च दिक्कालावधिकं न तत्" ॥—तत्त्वसं० का० ६७५ पृ २२३ ।

३ "एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोरेकस्य द्रष्टुः संनिकृष्टमवधिं कृत्वा एतस्माद् विप्रकृष्टोऽयमिति परत्वाधारे बुद्धिरुत्पद्यते ततस्तामपेक्ष्य परेण दिक्प्रदेशेन संयोगात् परत्वमुपजायते । विप्रकृष्टं चावधिं कृत्वा एतस्मात् सन्निकृष्टोऽयमित्यपरत्वाधारे बुद्धिरुत्पद्यते तामपेक्ष्यापरेण दिक्प्रदेशेन संयोगादपरत्वस्योत्पत्तिः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२४ पं० ११—।

४ "यस्य वलीपलितरूढश्मश्रुतादिनाऽनुमितमादित्योदयास्तमयानां बहुलम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२४ पं०

५ "यथा नीलादिरूपाणि क्रमभावव्यवस्थितेः । अन्योपाधिविवेकेऽपि तथोच्यन्ते तथापरे (परापरे)" ॥
—तत्त्वसं० का० ६७६ पृ० २२

नीलादिषु एकार्थसमवायाद् उपचरितोऽयं परापरत्वादिप्रत्ययः इति अनैकान्तिकता भवत्प्रयुक्तस्यापि हेतोः पारंपर्येण च नीलादिष्वपि परत्वादेर्निमित्तभावोपगमात् साध्यविकलता च दृष्टान्तस्येति वक्तव्यम्, अस्खलद्वृत्तित्वेन अस्य उपचरितत्वाभावात् स्वाश्रयेऽपि च तयोरुपलब्ध्यभावाद् न तद्बलेन प्रत्ययो युक्तः इति कुतो रूपादिषु तन्निबन्धनो भविष्यति ? सुखादिषु वा पूर्वोत्तरकालभाविषु किंनिबन्धनोऽयं भवेत् ? न चैवं तत्रैकार्थसमवायादेस्तन्निबन्धनस्याभावात् । किञ्च, दिक्-कालयोः पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वात् तद्धेतुकयोः परत्वाऽपरत्वयोरभाव इति कुतस्तन्निमित्तत्वाशङ्का येन हेतोरनैकान्तिकता स्यात् ? न च परमार्थतो दिक्-कालयोः प्रदेशाः सन्ति यतस्तत्संयोगादपेक्षाबुद्धिसहिताद् उत्पत्तिस्तयोर्भवेत् । दिक्-कालयोरेकात्मकत्वेन निरवयवत्वाद् न चार्थक्रियानिबन्धन उपचरितोऽवयवभेदो युक्तः अर्थक्रियाया वस्तुस्वभावप्रतिबद्धत्वात् उपचारस्य च अपारमार्थिकत्वात् । तत् कुतः अनैकान्तिकता प्रकृतहेतोः ? असिद्धता च परोपन्यस्तहेतोः पूर्ववद् वाच्या ।

'न संख्यादयो गुणा द्रव्याद् अव्यतिरेकिणः, तेषां तद्व्यवच्छेदहेतुत्वात्, यो हि यद्व्यवच्छेदकः नासौ तदव्यतिरेकी देवदत्तव्यवच्छेदकदण्डादिवत्, तथा च संख्यादयो द्रव्यव्यवच्छेदकाः, तस्माद् न तदव्यतिरेकिणः' इत्यत्र प्रयोगे यदि द्रव्याद् अव्यतिरेकत्वनिषेधमात्रं साध्यं तदा सिद्धसाध्यता सर्वसंवृतिमतामवस्तुतया तत्त्वाऽन्यत्ववाच्यत्वेन अनिष्टेः । अथ 'समूह-संतानादयः तत्त्वाऽन्यत्वाभ्यामवचनीया न भवन्ति, प्रतिनियतधर्मयोगित्वात्, रूपादिवत्' अत्रापि यदि पारमार्थिकनियतधर्मत्वं हेतुत्वेनेष्टं तदा असिद्धो हेतुः, न हि संतानादीनां पारमार्थिकनियतधर्मयोगित्वं सौगतं प्रति सिद्धम् । अथ सामान्येन हेतुः तदा शशशृङ्गादावपि कल्पितनियतधर्मयोगित्वस्य अभावत्वाऽमूर्तत्वादेः सद्भावाद् अनैकान्तिकः । अथ न द्रव्यादव्यतिरेकप्रतिषेधमात्रं साध्यम् किं तर्हि ? द्रव्या(द्व्याद्) व्यतिरेकित्वम् प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतेः, असदेतत्; संख्यादेर्द्रव्याद् व्यतिरेकेण अनुपलम्भाद् अभावतो हेतोराश्रयासिद्धत्वप्रसक्तेः । न च द्रव्यात्मकत्वेन प्रतीयमानस्यापि संख्यादेर्भेदः साधयितुं शक्यः तदात्मनस्ततो भेदे तस्य निःस्वभावताप्रसक्तेः । तन्न संख्यादयः परत्वाऽपरत्वपर्यन्ता द्रव्याद् व्यतिरेकिणः कुतश्चित् प्रमाणादवसीयन्ते इति न तथा ते सद्व्यवहारविषयाः ।

१-भाविषु तन्निबन्धनोऽयं भवेत् तत्रैकार्थसमवायादेस्तन्निबन्धनस्याभावात् वा० बा० ।
"सुखादिषु वा पूर्वोत्तरकालभाविषु किं कल्प्येत, न हि तत्रैकार्थसमवायोऽस्ति"—तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २२५ पं० ७।

२ "सङ्ख्यासंयोगादयः सर्वे न द्रव्याव्यतिरेकिणः । तद्व्यवच्छेदकत्वेन दण्डादिरिव चेन्मतम् ॥
तेषां सवृतिसत्त्वेन वर्णनादिष्टसाधनम् । तत्त्वान्यत्वेन निर्वाच्यं नैव सवृतिसद् यत." ॥—तत्त्वसं० का० ६७७-६७८ पृ० २२५ ।

३ द्रव्या व्यति-वा० बा० भा० मां० । "तदत्र द्रव्यादव्यतिरेकित्वनिषेधमात्रे साध्ये सिद्धसाध्यता दोषः प्रतिज्ञायाः."—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२५ पं० २१ ।

४ "अथेत्यादिनाऽविद्धकर्णोत्तरमाशङ्कते—
अथानिर्वचनीयत्वं समूहादेर्निषिध्यते । यस्मान्नियतधर्मत्वं रूप-शब्द-रसादिवत्" ॥—तत्त्वसं० का० ६७९ पृ० २२५ ।

५ "निःस्वभावतया तस्य तत्त्वतोऽम्बरपद्मवत् । न सिद्धा नियता धर्माः कल्पनारोपितास्तु ते ॥
तथैवोक्तावनैकान्तो वियत्पद्मादिभिर्भवेत् । अभेदो व्यतिरेकश्च वस्तुन्येव व्यवस्थितः" ॥—तत्त्वसं० का० ६८०-६८१ पृ० २२६ ।

६ "सङ्ख्यादेर्द्रव्यतोऽन्यत्वमेवं चेत् प्रतिपाद्यते । आश्रयासिद्धता हेतोः संख्यादीनामसिद्धितः ॥
समुच्चयादिभिन्नं तु द्रव्यमेव तथोच्यते । स्वरूपादेव भेदश्च व्याहतः साधितो भवेत्" ॥—तत्त्वसं० का० ६८२-६८३ पृ० २२६ ।

७ "किं तर्हि द्वौ प्रतिषेधौ विधिमेव गमयत इति प्रतिषेधद्वयेन द्रव्याद् व्यतिरेकित्वमेव साध्यत इति"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२६ पं० १७ ।

८ "एवं तावत् परत्वान्ता गुणाः प्रतिषिद्धाः."—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२६ पं० २७ ।

ये च[1] बुद्ध्यादयः प्रयत्नान्ता आत्मसमवेतत्वेन तद्गुणा अभ्युपगताः ते तथाभूतात्मनिषेधादेव प्रतिषिद्धाः। तथाहि-आत्मा एषामुत्पत्तिकारणत्वेन वा आश्रयोऽभ्युपगम्येत, स्थितिनिमित्ततया वा? न तावद् आद्यः पक्षः, अविकलकारणतया बुद्ध्यादेः सर्वदैव सर्वस्योत्पत्तिप्रसक्तेः अनाधेयातिशयस्य सहकार्यपेक्षाऽयोगात्। न च क्रम-यौगपद्यव्याप्तकार्योत्पादनसामर्थ्यस्य नित्ये संभवः तत्र क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधस्य प्रतिपादितत्वात्। न च द्वितीयोऽपि पक्षो युक्तः, स्थितेः स्थातुरव्यतिरेकात् तस्य तद्धेतुत्वे स्थातृहेतुत्वमेव स्यात् तच्च प्राक्तनन्यायेन असंगतम्। न च परिनिष्ठितात्मरूपत्वात् स्थातुः कश्चिद्धेतुः संभवी, तत्र तस्य अकिञ्चित्करत्वात्। व्यतिरेकेऽपि स्थितेः स्थातुर्न तेन किञ्चित् कृतं स्यात् स्थितेरर्थान्तरभूतायाः करणात्। एवं च अकिञ्चित्करः कथमाश्रयो बुद्ध्यादेरसौ भवेत्? न च स्थितेस्तत्संबन्धितया करणात् तस्याऽसावुपकारकत्वाद् आश्रयः तस्यास्तत्संबन्धित्वासिद्धेः भिन्नायास्तदुपकाराभावे संबन्धायोगात् तत उपकारकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः समवायसंबन्धस्य च असिद्धेः। न च तस्य स्थितिं प्रति हेतुत्वमपि युक्तम् नित्यस्य क्वचिदपि सामर्थ्यायोगात्। किञ्च, स्थाप्यमानो बुद्ध्यादिः स्थितिस्वभावो वा तेन स्थाप्येत, अस्थितिस्वभावो वा? यदि अस्थितिस्वभावः नासौ केनचित् स्थापयितुं शक्यः तत्स्वभावाव्यतिक्रमात्। अथ स्थितिस्वभावः तदा तत्स्वभावस्य स्वयमेव तत्स्वभावतया तस्य स्थितिसिद्धेः किमकिञ्चित्करस्थापककल्पनया? अथ स्थातुः पाताभावं कुर्वन् स्थापकः न अकिञ्चित्करः, नः पाताभावस्य प्रसज्यप्रतिषेधरूपत्वे कारकव्यापाराविषयत्वात्, पर्युदासरूपत्वेऽपि किमसौ पात एव, उत पाताद् अन्यत् पदार्थान्तरम्? यदि पात एव तदा 'स्थापकः स्थातुः पातं करोति' इति प्राप्तम् तथा च कथमसौ स्थापको भवेत्? अथ पदार्थान्तरं पाताद् अन्यद् असौ करोति; नन्वेवं पदार्थान्तरकरणेऽपि स्थाता पतेदेव पदार्थान्तरोत्पादेऽपि तस्य त्राणासंभवात्। न च पदार्थान्तरेण स्थापकोत्पादितेन स्थातुः पातप्रतिबन्धः क्रियत इति वक्तव्यम्, तस्याऽपि पातादनन्यत्वे पात एव कृतः स्यात्, अन्यत्वे तेन तत्संबन्धासिद्धेस्तत्करणेऽपि स्थातुस्तदवस्थ एव पातो भवेत्; तेनापि अपरपातप्रतिबन्धकरणे तद्भिन्नाऽभिन्नविकल्पद्वयानतिवृत्तिद्वारेण अनवस्थादिप्रसक्तिः। तन्न कश्चित् कस्यचित् स्थापकः। किञ्च, भवेन्नाम बदरादेर्मूर्तद्रव्यस्य अधोगमनप्रतिबन्धकत्वेन कुण्डादिराश्रयः। बुद्ध्यादेस्तु अमूर्तस्य अधोगत्यभावात् किं कुर्वाण आत्मादिराश्रयो भवेत्? अपि च, नोत्पन्नानां बुद्ध्यादीनां कश्चिद् आश्रयः, सतां[2] निराशंसतया आश्रितत्वानुपपत्तेः। नापि अनुत्पन्नानाम् निरुपाख्यतया तेषां तत्त्वायोगात्। किञ्च, "बुद्धिः उपलब्धिः ज्ञानम् इति अनर्थान्तरम्[3]" [न्यायद० १-१-१५] इति वचनाद् बुद्धेर्ज्ञानरूपता परैरभ्युपगता। न च तस्याः स्वसंविदितत्वमभ्युपगतम् बुद्ध्यन्तरग्राह्यतयाऽभ्युपगमात्। न च तथाभूतायास्तस्या रूपादिवद् बुद्धित्वं युक्तमिति प्राक् प्रतिपादितम्। सुख-दुःखेच्छा-द्वेषादीनां च अज्ञानरूपत्वे रूपादिवन्नात्मविशेषगुणता अभ्युपगन्तुं युक्ता। ज्ञानरूपत्वे बुद्धेर्भेदेन अभिधानमसंगतमेव, कश्चिद् विशेषमुपादाय ज्ञानात्मकानामपि ततो भेदेन अभिधाने अभिमानादीनामपि भेदेन अभिधानं कार्यमित्यलमतिजल्पितेन।

गुरुत्व[4]-द्रवत्व-स्नेहानां तु रूपादिवद् गुणरूपता प्रतिषेध्या। 'गुरुत्वं[5] हि पृथिव्युदकवृत्ति

---

१ "बुद्ध्यादयस्तु प्रयत्नान्ता आत्माश्रितत्वेन तद्गुणा इष्टाः। ते चात्मनिषेधादेव निषिद्धा द्रष्टव्याः। न चैषामात्माऽऽश्रयो युक्तः। तथाहि—उत्पत्तिहेतुतया चामीषामात्माऽऽश्रयो भवेत् स्थितिहेतुतया वा? न तावदुत्पत्तिहेतुतया सर्वदैवाविकलकारणतया सुखादीनामुत्पत्तिप्रसङ्गात्" इत्यादि। "नापि स्थितिहेतुतया युक्तः स्थितेः स्थातुरव्यतिरिच्यमानरूपत्वात्" इत्यादि—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२७ पं० १—।

२ "सदसतोश्च निराशंसत(या)नुपाख्यत्वेन चाश्रयणानुपपत्तिरिति"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२७ पं० १८।

३ "यथोक्तम्—बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरमिति"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२७ पं० २०।
"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः"—प्रशस्त० कं० पृ० १७१ पं० १६।

४ "गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेहानां तु रूपादिवत् प्रतिषेधो विधेयः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२७ पं० २५।

५ "गुरुत्वं जल-भूम्योः पतनकर्मकारणम्। × × × द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम् त्रिद्रव्यवृत्ति। तत् तु द्विविधम् सांसिद्धिकम् नैमित्तिकं च। सांसिद्धिकमपां विशेषगुणः नैमित्तिकं पृथिवी-तेजसोः सामान्यगुणः। × × × स्नेहोऽपां विशेषगुणः संग्रह-मृजादिहेतुः"—प्रशस्त० कं० पृ० २६३ पं० २५-पृ० २६६।

पतनक्रियानिबन्धनम्, द्रवत्वं तु पृथिव्युदक-ज्वलनवृत्ति स्प(स्य)न्दनहेतुः पृथिव्यनलयोर्नैमित्तिकम् अपां सांसिद्धिकम्, स्नेहस्तु अम्भसि एव स्निग्धप्रत्ययहेतुः' इत्यादिप्रक्रिया पृथिव्यादीनामाधारत्वनिषेधात् तद्गतरूपादिनिषेधाच्च निषिद्धैव, तन्न्यायस्य अत्रापि समानत्वात्।

संस्कारस्तु त्रिविधः—वेगः भावना स्थितस्थापकश्चेति—अभ्युपगतः। तत्र वेगाख्यः पृथिव्यप्-तेजो-वायु-मनस्सु मूर्तिमद्द्रव्येषु प्रयत्नाभिघातविशेषापेक्षात् कर्मणः समुत्पद्यते नियतदिक्क्रियाप्रबन्धहेतुः स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगविरोधी च, तत्र शरीरादिप्रयत्नविशेषाविर्भूतकर्मविशेषनिमित्तः—यद्वशाद् इषोः अन्तराले अपातः—स च नियतदिक्क्रियाकार्यसंबन्धोन्नीयमानसद्भावः लोष्टाद्यभिघातोत्पन्नकर्मोत्पाद्यस्तु शाखादौ वेगाख्यः संस्कारः। भावनासंज्ञः पुनः आत्मगुणः ज्ञानजः ज्ञानहेतुश्च दृष्टाऽनुभूतश्रुतेष्वर्थेषु स्मृति-प्रत्यभिज्ञानकार्योन्नीयमानसद्भावः। मूर्तिमद्द्रव्यगुणः स्थितस्थापको घनावयवसंनिवेशविशिष्टं स्वमाश्रयं कालान्तरस्थायिनमन्यथा व्यवस्थितमपि प्रयत्नतः पूर्ववद् यथावस्थितं स्थापयतीति कृत्वा, दृश्यते च तालपत्रादेः प्रभूततरकालसंवेष्टितस्य प्रसार्यमुक्तस्य पुनस्तथैव अवस्थानं संस्कारवशात् एवं धनुः-शाखा-शृङ्ग-दन्तादिषु भुग्नापवर्तितेषु च वस्त्रादिषु तस्य कार्यं परिस्फुटमुपलभ्यत एवेति ततस्तत्सद्भावः सिद्धः। असदेतत्, क्षणभङ्गसिद्धौ वेगाख्यसंस्कारकार्यस्य कर्मप्रबन्धस्य असिद्धेः। न हि उत्पत्त्यनन्तरं भावानां नाशे नियतदिक्क्रियाप्रबन्धस्य तद्धेतोश्च संस्कारस्य उत्पत्तिः। न च स्वोपादानदेशाऽनन्तरदेशोत्पाद एव भावानां क्रियाप्रबन्धः, हेतोरनैकान्तिकत्वप्रसक्तेः। तथाहि-ततः प्राक्तनस्वहेतव एव सिद्धिमासादयन्ति न यथोक्तः संस्कारः तेन सह क्वचिदपि अन्वयासिद्धेः। यदि च तथाविधसंस्कारवशाद्

तदभावे तस्या अपि अभावात्। तथाहि-ये यदाश्रितास्ते तस्याऽभावे अवस्थितिं न प्रतिलभन्ते, यथा कुड्याभावे चित्रादयः, आश्रिताश्च परेण आत्मनि संस्कारादयोऽभ्युपगम्यन्ते इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। स्थितस्थापकस्तु संस्कारः अत्यन्तमसंगत एव। तथाहि-असौ किं स्वयमस्थिरस्वभावं भावं स्थापयति, उत स्थिरस्वभावमिति पक्षद्वयम्। यदि अस्थिरस्वभावम् तदा क्षणादूर्ध्वं तस्य स्वयमेव अभावात् कस्य असौ स्थापकः स्यात्? अथ द्वितीयः पक्षः तदा स्थिरे स्वभावेऽवस्थितानां भावानां तादूप्यादेव अवस्थानात् किमकिञ्चित्करस्थापकप्रकल्पनया? न च क्षणिकत्वेऽपि भावानामेकक्षणावस्थितांनु(नु)त्तरकालं स्थापकस्य सामर्थ्यमङ्गीक्रियते यतः स्वरूपप्रतिलम्भलक्षणैव भावानां स्थितिरुच्यते न पुनर्लब्धात्मसत्ताकानाम् आत्मरूपसंधारणलक्षणोत्तरकालं स्वयं चलात्मन उत्तरकालमवस्थानासंभवात् संभवे वा न कदाचिदपि निवृत्तिः स्यात् पूर्ववत् पश्चादपि अविशिष्टत्वात् अतत्स्वभावत्वप्रसङ्गाच्च। न च क्षणस्थितिप्रबन्धेऽपि स्थापकस्य सामर्थ्यसिद्धिः, पूर्वपूर्वकारणसामर्थ्यकृतस्य उत्तरोत्तरकार्यप्रसवस्य संस्कारमन्तरेणापि सिद्धेः, अक्षणिकस्य तु अन्यथात्वासंभवात् स्वत एव स्थितिरिति न तत्रापि स्थापकोपयोगः। न च संस्कारस्य क्षणोत्पादनेऽपि सामर्थ्यम् प्राक्तनक्षणमन्तरेण अपरस्य तत्राऽपि सामर्थ्यानवधारणात्। तथाहि-प्रमाणाधीना प्रमेयव्यवस्था। न च प्रसिद्धकारणव्यतिरेकेण वस्त्रादिषु प्रत्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यां चक्षुरादिवद् वा कार्यव्यतिरेकतोऽपरस्य सामर्थ्यावधारणम्। न च अदृष्टसामर्थ्यस्यापि हेतुत्वकल्पना अतिप्रसङ्गात् तदपरापरहेतुप्रकल्पनाया अनिवृत्तेः। न च संस्कार उत्पादकहेतुरिष्टः परैः किन्तु उत्पन्नस्य वस्त्रादेरुत्तरकालं स्थापको गुणः, तत्र च अस्य अकिञ्चित्करत्वमेवेति प्राग् व्यवस्थापितम्।

"कर्तृफलदायी आत्मगुण आत्म-मनःसंयोगजः स्वकार्यविरोधी धर्माऽधर्मरूपतया भेदवान् अदृष्टाख्यो गुणः" [ ] इति वैशेषिकैः परोक्षाऽदृष्टस्वरूपमुपवर्णितम्। कर्तुः प्रियहित-मोक्षहेतुर्धर्मः अधर्मस्तु अप्रिय-प्रत्यवायहेतुः" [प्रशस्तपा० भा० पृ० २७२ पं० ८ तथा पृ० २८० पं० ४] इति, एतच्च तत्समवायिकारणस्य आत्मनो मनसः आत्म-मनःसंयोगस्य च निमित्ताऽसमवायिकारणत्वेन अभ्युपगतस्य निषेधात् कारणाभावे कार्यस्यापि अभावात् सर्वमनुपपन्नम्।

शब्दस्तु आकाशगुणत्वेन अभिमतः तस्य च आकाशगुणत्वं प्राग् निषिद्धमिति न चतुर्विंशतिरपि गुणाः प्रमाणोपपत्तिकाः॥

[निरूपणपुरस्सरं कर्मपदार्थस्य खण्डनम्]

उत्क्षेपणादीनि पञ्च कर्माणि। तथा च सूत्रम्—"उत्क्षेपणम् अपक्षेपणम् आकुञ्चनम् प्रसारणम्

---

१ "स्थितस्थापकरूपस्तु न युक्तः क्षणभङ्गतः। स्थितार्थासंभवाद् भावे तादूप्यादेव संस्थितिः"॥
—तत्त्वसं० का० ६८७ पृ० २२९।

२-तानामुत्तरका-आ० हा० वि०। "अथापि स्यात् क्षणिकत्वेऽपि सर्वभावानामेकक्षणावस्थितौ प्रबन्धेन चानुवृत्तौ तस्य सामर्थ्यमुच्यत इति"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २३० पं० १।

३ "क्षणं त्वेकमवस्थानं स्वहेतोरेव जातितः। पूर्वपूर्वप्रभावाच्च प्रबन्धेनानुवर्तनम्"॥—तत्त्वसं० का० ६८८ पृ० २३०।

४ "नान्ययोदयवानेष कस्यासौ स्थापकस्ततः। न चास्य दृष्टं हेतुत्वं संस्कारोऽन्योऽपि वा भवेत्॥
उत्पन्नस्यैव चेष्टोऽयं वस्त्रादेः स्थापको गुणः। गुणसंस्कारनामैवं सर्वथापि न संभवी"॥—तत्त्वसं० का० ६८९-६९० पृ० २३०।

५ "अथ अदृष्टसामर्थ्यस्यापि हेतुत्वं कल्प्यते तदा संस्कारः अन्योऽपि वा शुक-बकादिरुत्पत्तेर्हेतुर्भवेत्" इत्यादि—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २३० पं० २०।

६ "कर्तृफलदाय्यात्मगुण आत्ममनःसंयोगजः स्वकार्यविरोध्यदृष्टम्। तच्च द्विविधं धर्माऽधर्मभेदात्। तत्र धर्मः कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुः अधर्मस्त्वप्रियाहितप्रत्यवायहेतुरिति परोक्तादृष्टलक्षणम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २३१ पं० ५-।

७ "मनोयोगात्मनां पूर्वं विस्तरेण निबन्धनात्। परोक्तलक्षणोपेतं नादृष्टमुपपद्यते"॥—तत्त्वसं० का० ६९१ पृ० २३१।

८ पृ० १३६ पं० १३। ९ "उत्क्षेपणमपक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणीति सूत्रम्" इत्यादि—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २३१ पं० १४।

गमनमिति कर्माणि" [वैशेषिकद० १-१-७] इति। तत्र उत्क्षेपणं यद् ऊर्ध्वाधःप्रदेशाभ्यां संयोग-विभागकारणं कर्म उत्पद्यते। यथा-शरीरावयवे तत्संबन्धे वा मूर्तिमति मुशलादौ द्रव्ये ऊर्ध्वभागिभिः आकाशादेशाद्यैः संयोगकारणम् अधोदिग्भागावच्छिन्नैश्च तैर्विभागकारणं प्रयत्नादिवशात् कर्म तद् उत्क्षेपणमुच्यते, एतद्विपरीतसंयोग-विभागकारणं च कर्म अपक्षेपणम्, ऋजुद्रव्यस्य कुटिलत्वकारणं च कर्म आकुञ्चनम् यथा-ऋजुनोऽङ्गुल्यादिद्रव्यस्य ये अग्रावयवास्तेषामाकाशादिभिः स्वसंयोगिभिर्विभागे सति मूलप्रदेशैश्च संयोगे सति येन कर्मणा अङ्गुल्यादिरवयवी कुटिलः संपद्यते तद् आकुञ्चनम्, एतद्विपर्ययेण तु संयोग-विभागोत्पत्तौ येन अवयवी ऋजुः संपद्यते तत् कर्म प्रसारणम्, अनियतदिग्देशैर्यत् संयोग-विभागकारणं तद् गमनम्। चतुष्प्रकारमपि उत्क्षेपणादिकं कर्म नियतदिग्देशसंयोग-विभागकारणम्। अनियतदिग्भिस्तु भावैः संयोग-विभागकारणं तु कर्म गमनम् तेन भ्रमण-स्पन्दन-रेचनादीनामपि गमन एव अन्तर्भावात् पञ्चैव कर्माणि। मूर्तिमद्द्रव्यसंयोग-विभागकार्योपलम्भात् पञ्चविधस्यापि कर्मणोऽनुमानात् प्रसिद्धिः। तथा, अध्यक्षतोऽपि उत्क्षेपणादेः कर्मणः प्रतिपत्तिः इन्द्रियव्यापारेण 'गच्छति' इत्यादिप्रतिपत्त्युत्पत्तेः। तथाच—"संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वम् संयोग-विभागौ परत्वाऽपरत्वे कर्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणि" [वैशेषिकद० ४-१-११] इति सूत्रमपि उपपन्नम्।

अत्र संयोग-विभागलक्षणं तावत् तत्कार्यमसिद्धम् तयोः पूर्वमेव निषेधात्। न च नैरन्तर्योत्पादादिमात्रलक्षणौ तत्कार्यतया संयोग-विभागौ हेतुत्वेन वाच्यौ, तथाविधेन कर्मणा तयोः क्वचिद् अन्वयासिद्धेः अनैकान्तिकताप्रसक्तेः। साध्यविपर्ययेण च हेतोर्व्याप्तेर्विरुद्धताऽपि वक्तव्या। सिद्धसाध्यता च कारणमात्राऽस्तित्वे साध्ये तथाविधसंयोग-विभागकारणत्वेन वाय्वादेरभीष्टेः। कारणविशेषास्तित्वे च साध्ये अनुमानबाधः प्रतिज्ञायाः। तथाहि-पदार्थानां क्रिया भवन्ती क्षणिकानां भवेत्, अक्षणिकानां वा? न तावत् क्षणिकानाम् उत्पत्तिदेश एव तेषां ध्वंसाद् देशान्तरप्राप्त्यसंभवात्। तथाहि-यो यत्र देशे ध्वंसते स न तदन्यदेशमाक्रामति, यथा प्रदीपादिः, जन्मदेश एव च ध्वंसन्ते सर्वभावा इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। न च असिद्धताऽस्य हेतोः अन्यस्य क्षणिकत्वायोगात्। अथ यदि नाम भावानां क्षणिकता इष्यते तथापि उत्पत्तिकाल एव किं नैषां क्रिया भवति? नैतत्। यतः पाश्चात्यदेशविश्लेषे पुरोवर्तिदेशश्लेषे च सति गन्ता भावो भवति नाकाशादिः। न च एकः

असौ युक्ता, यत एकरूपं हि सर्वदा वस्तु अक्षणिकमुच्यते न च तस्य आकाशवत् सर्वदाऽविशिष्टत्वात् क्रियासमावेशो युक्तः। तथाहि-यत् सर्वदा अविशिष्टं न तस्य क्रियासंभवः, यथा आकाशस्य, अविशिष्टं च वस्तु अक्षणिकाभिमतं सर्वदा इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिप्रसङ्गः। न च अक्षणिकस्य अविशिष्टत्वेऽपि प्रकृत्यैव गन्तृरूपत्वात् क्रियावत्त्वं भविष्यतीत्यनैकान्तिकता हेतोराशङ्कनीया, यतो यदि प्रकृत्यैव उत्क्षेपणादिक्रियायोगिनो भावा भवेयुस्तदा नैषां कदाचिन्निश्चलता भवेत् सर्वदा एकरूपत्वात्। अथ अगन्तृरूपताऽप्येषामङ्गीक्रियते तथासति सर्वदा एकरूपत्वाद् आकाशवद् अगन्तारो भवेयुः। एवं च गत्यवस्थायामपि अचलत्वमेषां प्रसक्तम् अपरित्यक्ताऽगतिरूपत्वात् निश्चलावस्थावत्। अथ उभयरूपत्वाद् एषामयमदोषः, नैवम्; गन्तृत्वाऽगन्तृत्वविरुद्धधर्माध्यासादेकत्वव्याहतिप्रसक्तेः क्षणिकतैव आपद्येत भिन्नस्वभावयोश्चलाऽनिलयोरिव अत्यन्तभेदात्। अनुमानविरोधवद् अध्यक्षविरोधोऽपि प्रतिज्ञायाः। तथाहि-यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सद् नोपलभ्यते न तत् प्रेक्षावता 'सत्' इति व्यवहर्तव्यम्, यथा क्वचित् प्रदेशविशेषेऽनुपलभ्यमानो घटः, नोपलभ्यते च विशिष्टरूपादिव्यतिरेकेण कर्मेति स्वभावानुपलब्धिः। तथा, तथादेशान्तरावष्टम्भोत्पादिरूपादिव्यतिरेकेण इन्द्रियज्ञाने कर्मणः प्रतिभासानुपलक्षणात् उत्क्षेपणादिबुद्धेस्तु साभिजल्पत्वात् अनध्यक्षत्वम्। न चेयं कर्मपदार्थानुभवसामर्थ्यभाविनी, यथासंकेतं तथोत्पद्यमानरूपादिवशेन उत्पत्तेः 'नित्याऽनित्ययोर्गत्ययोगात्' इति प्रतिपादनात्, गतिव्यवहारस्तु लोके अपरापरनैरन्तर्योत्पत्तिमत्पदार्थोपलब्धेः 'स एवायं गच्छति' इति भ्रान्त्युत्पत्तेः प्रदीपादौ गमनव्यवहारवद् उपपद्यत एव न हि प्रदीपादिः स एव देशान्तरमाक्रामति षट्क्षणस्थायित्वेन तस्य परैरभ्युपगमात् "स्वकारणसंबन्धकालः प्रथमः ततः स्वसामान्याभिव्यक्तिकालः ततः अवयवकर्मकालः ततः अवयवविभागकालः ततः स्वारम्भकावयवसंयोगविनाशकालः ततः द्रव्यविनाशकाल॰" [ ] इति प्रक्रियोपवर्णनात्। अथ च तत्रापि 'स एव प्रदीपादिर्गच्छति' इति व्यवहारप्रवृत्तिरिति नान्यथासिद्धाद् व्यवहारमात्राद् द्रव्यव्यतिरिक्तकर्माभ्युपगमः श्रेयानिति स्थितम्॥

[निरूपणपुरस्सरं सामान्यपदार्थस्य खण्डनम्]

परोऽपरभेदभिन्नं सामान्यमपि द्रव्य-गुण-कर्मात्मकपदार्थत्रयाश्रितत्वाभ्युपगमात् तन्निराशान्निरस्तमेव आश्रयमन्तरेण आश्रितानां सद्भावेऽनाश्रितत्वप्रसङ्गात्। तथापि परेषां तत्राभिनिवेश

---

१ "यदि गत्यादिरूपं तत्प्रकृत्या गमनादयः। सदा स्युः क्षणमप्येवं नावतिष्ठेत निश्चलम्॥
यस्माद् गत्याद्यवस्थेऽपि प्राप्नुवन्त्यस्य वै ध्रुवम्। अत्यक्तपूर्वरूपत्वाद् गत्याद्युदयकालवत्"॥
—तत्त्वसं॰ का॰ ६९९-७०० पृ॰ २३३।

२ "अथागत्यादिरूपं तत्प्रकृत्याऽगमनादयः। सदा स्युः क्षणमप्येकं नैव प्रस्पन्दवद् भवेत्॥
यस्माद् गत्यादिभावेऽपि निश्चलात्मकमेव तत्। अत्यक्तपूर्वरूपत्वाद् निश्चलात्मककालवत्"॥
—तत्त्वसं॰ का॰ ७०१-७०२ पृ॰ २३४।

३ "यदि तु स्यादगन्ताऽयमेकदा चान्यथा पुनः। परस्परविभिन्नात्मसंगतेर्भिन्नता भवेत्॥
अत्यन्तभिन्नावात्मानौ तावेवं व्यवसीयते। विरुद्धधर्मसंगतिसाद् चलनिश्चलवस्तुवत्"॥
—तत्त्वसं॰ का॰ ७०३-७०४ पृ॰ २३४।

४ "दृश्यत्वाभिमतं कर्म न वस्तुव्यतिरेकि च। दृश्यते सोऽपि नैवास्य सत्ता युक्त्यनुपातिनी॥
अस्थिरे वा स्थिरे वैवं गत्यादीनामसंभवः। प्राक्तनाऽपरदेशाभ्यां विभागप्राप्त्ययोगत॰"॥
—तत्त्वसं॰ का॰ ७०५-७०६ पृ॰ २३४-२३५।

५ तथा देशा-भां॰ मां॰। "न हि रूपादेस्तथादेशान्तरावष्टम्भेनोत्पद्यमानस्य व्यतिरेकेण"—तत्त्वसं॰ पञ्जि॰ पृ॰ २३५ पं॰ ३।

६ "देशान्तरोपलब्धेषु नैरन्तर्येण जन्मनः। समानापरवस्तूनां गतिभ्रान्तिः प्रदीपवत्"॥
—तत्त्वसं॰ का॰ ७०७ पृ॰ २३५।

७ "द्रव्यादिषु निषिद्धेषु जातयोऽपि निराकृताः। पदार्थत्रयवृत्ता हि सर्वास्ताः परिकल्पिता॰"॥
—तत्त्वसं॰ का॰ ७०८ पृ॰ २३६।

इति पराभ्युपगमप्रदर्शनपूर्वकः तद्विशेषप्रतिषेधप्रदर्शनमार्गः प्रदर्श्यते-तत्र सामान्यं द्विविधम्-परम् अपरं च । परं सत्ताख्यम् तच्च त्रिषु द्रव्य-गुण-कर्मसु पदार्थेषु अनुवृत्तिप्रत्ययस्यैव कारणत्वात् सामान्यमेव न विशेषः । अपरं तु द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादिलक्षणम् तच्च स्वाश्रयेषु द्रव्यादिषु अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यमित्युच्यते, स्वाश्रयस्य च विजातीयेभ्यो व्यावृत्तप्रत्ययहेतुतया विशेषणात् सामान्यमपि सद् विशेषसंज्ञां लभते । तथाहि-द्रव्यादिषु 'अगुणः' इत्यादिका या इयं व्यावृत्तबुद्धिरुत्पद्यते तां प्रति एषामेव हेतुत्वं नान्यस्य न हि अगुणत्वादिकमपरमस्ति, अपेक्षाभेदाच्च एकस्य सामान्यविशेषभावो न विरुध्यते यद्वा सामान्यरूपता मुख्यतः विशेषसंज्ञा तु उपचारतः विशेषाणामिव द्रव्यत्वादीनामपि व्यावृत्तबुद्धिनिबन्धनत्वात् । सामान्यस्य चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यनुगताकारप्रत्ययग्राह्यत्वाद् अध्यक्षतः प्रसिद्धिः । तथा, अनुमानाच्च । तथाहि-व्यावृत्तेषु खण्ड-मुण्ड-शावलेयादिषु अनुगताकारः प्रत्ययः तद्व्यतिरिक्तानुगताकारनिमित्तनिबन्धनः, व्यावृत्तेषु अनुगताकारप्रत्ययत्वात्, यो यो व्यावृत्तेषु अनुगताकारः प्रत्ययः स स तद्व्यतिरिक्तानुगतनिमित्तनिबन्धनः यथा चर्म-चीर-कम्बलेषु नीलप्रत्ययः, तथा चायं शावलेयादिषु 'गौः' 'गौः' इति प्रत्ययः, तस्मात् तद्व्यतिरिक्तानुगतनिमित्तनिबन्धन इति । तथाहि-नेदमनुस्यूताकारज्ञानं पिण्डेषु निर्हेतुकम्, कादाचित्कत्वात् । न शावलेयादिपिण्डनिबन्धनम्, तेषां व्यावृत्तरूपत्वात् अस्य च अनुगतरूपत्वात् । यदि चेदं पिण्डमात्रप्रभवं स्यात् तदा शावलेयादिष्विव कर्कादिष्वपि 'गौः' 'गौः' इति उल्लेखेन उत्पद्येत पिण्डरूपतायास्तेष्वपि अविशेषात् । अथ वाह-दोहाद्यर्थक्रियानिबन्धनेष्वेव तेषु 'गौः' 'गौः' इतिप्रत्ययहेतुता, न; तदर्थक्रियाऽभावेऽपि वत्सादौ गोबुद्धिप्रवृत्तेः महिष्यादौ तत्सद्भावेऽपि च अप्रवृत्तेः । किञ्च, अर्थक्रियाया अपि प्रतिव्यक्तिभेदे कुतोऽनुगताकारज्ञानहेतुता? अभेदे सिद्धमनुगतनिमित्तनिबन्धनत्वमस्य ज्ञानस्य । न चास्य बाधितत्वम्, सर्वदा सर्वत्र सर्वप्रमातॄणां शावलेयादिषु अनुस्यूतप्रत्ययोत्पत्तेः । न च दुष्टकारणप्रभवत्वम्, विशदनेत्राणामप्यनुस्यूताकारस्य अक्षजप्रत्यये प्रतिभासनात् । न च संशय-विपर्ययाऽनध्यवसायरूपतयाऽस्योत्पत्तिः, तद्वैपरीत्येन अस्य प्रतिभासनात् । न चैवंभूतस्याऽपि प्रत्ययस्य अप्रमाणता स्वलक्षणविषयस्यापि तस्य अप्रमाणताप्रसक्तेः । न च प्रतीयमानस्यापि अनुगतप्रत्ययस्य अपलापः शक्यते कर्तुम्, सर्वप्रत्ययापलापप्रसक्तेः । तस्माद् अनुगतप्रत्ययनिमित्तत्वात् सामान्यसद्भावः सिद्धः ।

अत्र प्रतिविधीयते-यत् तावदुक्तम् 'अध्यक्षप्रत्ययादेव सामान्यं प्रतीयते' इति, तदयुक्तम्; शावलेयादिव्यतिरेकेण अपरस्य अनुगताकारस्य अक्षजप्रत्यये सामान्यस्य अप्रतिभासनात् । न हि अक्षव्यापारेण शावलेयादिषु व्यवस्थितं सूत्रकण्ठे गुण इव भिन्नमनुगताकारं सामान्यं केनचिल्लक्ष्यते

१ "तत्रेयं द्विविधा जातिः परैरभ्युपगम्यते । सामान्यमेव सत्ताख्यं समस्तेष्वनुवृत्तितः ॥
द्रव्यत्वादि तु सामान्यं सद्विशेषोऽभिधीयते । स्वाश्रयेष्वनुवृत्तस्य चेतसो हेतुभावतः ॥
विजातिभ्यश्च सर्वेभ्यः स्वाश्रयस्य विशेषणात् । व्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वं तेषामेव ततः स्थितम्" ॥
—तत्त्वसं० का० ७०९-७११ पृ० २३६ ।

'गौः' 'गौः' इति विकल्पज्ञानेनापि त एव समानाकाराः शावलेयादयो बहिर्व्यवस्थिता अवसीयन्ते अन्तश्च शब्दोल्लेखः; न पुनस्तद्भिन्नमपरं गोत्वम् । तत्र निर्विकल्पकेन सविकल्पकेन वाऽध्यक्षेण सामान्यं व्यवस्थापयितुं शक्यम् । यदपि 'कार्यभूतानुगतप्रत्ययेन अनुमानतः सामान्यव्यवस्थापनम्, तदप्यसंगतम्; तस्य प्रत्ययहेतुत्वेन प्रमाणतोऽनिश्चयात्, तथा हि अनुगताकारज्ञानस्य निर्निमित्तस्य असंभवात् केनचिन्निमित्तेन भाव्यम् इत्येतावन्मात्रं सिध्यति । तच्च सामान्यम् अन्यद् वेति न निश्चयो भवताम् । कार्यान्वय-व्यतिरेकाभ्यां च कारणत्वावधारणम्, पिण्डानां च विज्ञानजन्मनि ततः सामर्थ्यं विशेषप्रत्यये सिद्धमिति इहापि तेषामेव सामर्थ्यप्रकल्पनम्, न; सामान्यस्य तस्य क्वचिदपि सामर्थ्यानवधारणात् । तथाहि-पिण्डसद्भावे अनुगताकारं ज्ञानमुपलभ्यते तदभावे न इति चरमाध्यक्षप्रत्ययावसेयानां तेषामेव तन्निमित्तता कल्पनीया । यदपि 'पिण्डानामविशिष्टत्वात् प्रतिनियमो न स्यात् तज्जन्मनि' इत्यभिधानम्, तदपि असंगतम्; यतो यथा पिंडादिरूपतयाऽविशेषेऽपि तन्तूनामेव पटजन्मनि हेतुत्वम् न कपालादीनाम् तथा शावलेयादीनामेव 'गौः' 'गौः' इति ज्ञानोत्पादने सामर्थ्यं भविष्यति कयाचिद् युक्त्या न कर्कादीनाम्, यथा वा गुडूच्यादेरेव ज्वरादिशमने सामर्थ्यं प्रतीयते न दध्यादेर्वस्तुरूपतयाऽविशेषेऽपि तथा प्रकृतेऽपि भविष्यतीति न पर्यनुयोगो युक्तः । किञ्च सामान्यं परेण मूर्तमभ्युपगम्यते, अमूर्तं वा ? यदि अमूर्तम् न सामान्यं स्याद् रूपवत् । अथ मूर्तम् तथा च न सामान्यं घटादिवत् । तथा, यदि अनंशं सामान्यमभ्युपगम्यते तर्हि न सामान्यम् अनंशत्वात् परमाणुवत्, सांशत्वेऽपि न सामान्यम् घटवत् । किञ्च, यदि पिण्डेभ्यो भिन्नं सामान्यम् भेदेन एव उपलभ्येत घटादिभ्य इव पटः । न च एकान्ततो व्यक्तिभ्यः सामान्यस्य भेदे 'गोर्गोत्वम्' इति व्यपदेशोपपत्तिः संबन्धाभावात्, समवायस्य तत्संबन्धत्वेन निषेत्स्यमानत्वात् । व्यक्तिभ्यस्तस्याऽभेदे अन्यत्राऽननुयायित्वाद् न सामान्यरूपता पिण्डस्वरूपवत् । न च भेदेन व्यक्तिभ्यस्तस्याऽनुपलक्षणं भिन्नप्रतिभासविषयत्वाद् असिद्धम्, बुद्धिभेदस्य व्यक्तिनिमित्तत्वेन प्रतिपादनात् । किञ्च, यदि सामान्यबुद्धिर्व्यक्तिभिन्नसामान्यनिबन्धना भवेत् तदा व्यक्त्यग्रहणेऽपि भवेत् अश्वबुद्धिवद् गोपिण्डाग्रहणे, न च कदाचित् तथा भवेत् । ततो न व्यक्तिव्यतिरिक्तसामान्यसद्भावः । अथ आधारप्रतिपत्तिमन्तरेण आधेयप्रतिपत्तिर्न भवतीति तद्ग्रहे एव तद्ग्रहः नाऽभावात् अन्यथा कुण्डाद्याधारप्रतिपत्तिमन्तरेण बदराधेयस्य अप्रतिपत्तेः तस्याप्यभाव एव स्यात्, न; बदरादेः प्रतिनियताधारमन्तरेणापि स्वरूपेणोपलब्धेर्नाभावः गोत्वादेस्तु प्रतिनियतपिण्डोपलम्भमन्तरेण स्वरूपेण कदाचनाऽपि अनुपलब्धेरभाव एव, तेन 'तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावात् इत्यत्र सामान्याभिव्यञ्जकपिण्डग्रहण एव तदभिव्यङ्ग्यसामान्यबुद्धिसद्भावात्-प्रकाशग्रहण एव गृह्यमाणघटादिसत्त्ववत्-सामान्यस्यापि सत्त्वम्' इति यदुक्तम् तन्निरस्तं भवति घटनिमित्तघटबुद्धिवत् सामान्यनिबन्धनत्वेन तद्बुद्धेरसिद्धेः । किञ्च, सामान्यं निराधारं वा अभ्युपगम्येत, आधारवद् वा ? यदि निराधारम् न सामान्यं स्यात् अनाधारत्वात् शशशृङ्गवत् । आधारवत्त्वेऽपि तस्य तत्र वृत्त्यनुपपत्तिः तथाहि-तस्य एकदेशेन वा तत्र वृत्तिर्भवेत् सर्वात्मना वा ? सर्वात्मना वृत्तौ एकस्मिन्नेव पिण्डे सर्वात्मना परिसमाप्तत्वाद् यावन्तः पिण्डाः तावन्ति सामान्यानि स्युः, न वा सामान्यम् एकपिण्डवृत्तित्वाद् रूपादिवत् । एकदेशवृत्तावपि न सामान्यं स्यात् सामान्यस्य निरंशत्वेन एकदेशासंभवात् संभवेऽपि ते ततो भिन्ना वा स्युः, अभिन्ना वा ? यदि भिन्नास्तदा तेषु सामान्यं वर्तते, उत नेति ? यदि वर्तते तदा किं सर्वात्मना, उत एकदेशेन ? यदि सर्वात्मना तावत्सामान्यप्रसक्तिः प्रत्येकमेकदेशे तस्य परिसमाप्तत्वात्, न वा सामान्यम् प्रदेशवृत्तित्वाद् घटवत् । अथ एकदेशेन, एकदेशेषु वृत्तिस्तदा तेऽपि एकदेशा यदि ततो भिन्नास्तदा तेष्वपि अपरैकदेशवशाद् वृत्तिरिति अनवस्थाप्रसक्तिः । अथ अभिन्नास्तदा तेषां सामान्यरूपत्वात् तावन्ति सामान्यानि स्युः । न च सामान्यात्मकानां तेषां करणरूपता युक्ता येन तैः पिण्डेषु सामान्यं वर्तेत नहि घटत्वादिसामान्यं गोत्वस्य पिण्डवृत्तौ करणत्वेन उपलब्धम् ।

१ अतश्च वृ० आ० । २ पृ० १८८ पं० १० । ३ पृ० १८८ पं० १५-१६ । ४ यथा ज्ञा० । यथा यदि रू-वृ० आ० हा० वि० । ५ वा गडु-भा० मा० ।

६ "यदनेकाश्रयवृत्ति गोत्वं तत् किं प्रतिपिण्डं परिसमाप्त्या वर्तते अथैकदेशेनेति ?" इत्यादि न्यायवार्तिकतोऽवबोद्धव्या-२-२-६५ पृ० ३१७-३१९ ।

इति पराभ्युपगमप्रदर्शनपूर्वकः तद्विशेषप्रतिषेधप्रदर्शनमार्गः प्रदर्श्यते-तत्र सामान्यं द्विविधम्-परम् अपरं च । परं सत्ताख्यम् तच्च त्रिषु द्रव्य-गुण-कर्मसु पदार्थेषु अनुवृत्तिप्रत्ययस्यैव कारणत्वात् सामान्यमेव न विशेषः । अपरं तु द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादिलक्षणम् तच्च स्वाश्रयेषु द्रव्यादिषु अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यमित्युच्यते, स्वाश्रयस्य च विजातीयेभ्यो व्यावृत्तप्रत्ययहेतुतया विशेषणात् सामान्यमपि सद् विशेषसंज्ञां लभते । तथाहि-द्रव्यादिषु 'अगुणः' इत्यादिका या इयं व्यावृत्तबुद्धिरुत्पद्यते तां प्रति एषामेव हेतुत्वं नान्यस्य न हि अगुणत्वादिकमपरमस्ति, अपेक्षाभेदाच्च एकस्य सामान्यविशेषभावो न विरुध्यते यतः सामान्यरूपता मुख्यतः विशेषसंज्ञा तु उपचारतः निर्देशाणामिव द्रव्यत्वादीनामपि व्यावृत्तबुद्धिनिबन्धनत्वात् । सामान्यस्य चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यनुगताकारप्रत्ययग्राह्यत्वाद् अध्यक्षतः प्रसिद्धिः । तथा, अनुमानाच्च । तथाहि-व्यावृत्तेषु खण्ड-मुण्ड-शावलेयादिषु अनुगताकारः प्रत्ययः तद्व्यतिरिक्तानुगताकारनिमित्तनिबन्धनः, व्यावृत्तेषु अनुगताकारप्रत्ययत्वात्, यो यो व्यावृत्तेषु अनुगताकारः प्रत्ययः स स तद्व्यतिरिक्तानुगतनिमित्तनिबन्धनः यथा चर्म-चीर-कम्बलेषु नीलप्रत्ययः, तथा चायं शावलेयादिषु 'गौः' 'गौः' इति प्रत्ययः, तस्मात् तद्व्यतिरिक्तानुगतनिमित्तनिबन्धन इति । तथाहि-नेदमनुस्यूताकारज्ञानं पिण्डेषु निर्हेतुकम्, कादाचित्कत्वात् । न शावलेयादिपिण्डनिबन्धनम्, तेषां व्यावृत्तरूपत्वात् अस्य च अनुगतरूपत्वात् । यदि चेदं पिण्डमात्रप्रभवं स्यात् तदा शावलेयादिष्विव कर्कादिष्वपि 'गौः' 'गौः' इति उल्लेखेन उत्पद्येत पिण्डरूपतायास्तेष्वपि अविशेषात् । अथ वाह-दोहाद्यर्थक्रियानिबन्धनेष्वेव तेषु 'गौः' 'गौः' इतिप्रत्ययहेतुता, न; तदर्थक्रियाऽभावेऽपि वत्सादौ गोबुद्धिप्रवृत्तेः महिष्यादौ तत्सद्भावेऽपि च अप्रवृत्तेः । किञ्च, अर्थक्रियाया अपि प्रतिव्यक्तिभेदे कुतोऽनुगताकारज्ञानहेतुता? अभेदे सिद्धमनुगतनिमित्तनिबन्धनत्वमस्य ज्ञानस्य । न चास्य बाधितत्वम्, सर्वदा सर्वत्र सर्वप्रमातॄणां शावलेयादिषु अनुस्यूतप्रत्ययोत्पत्तेः । न च दुष्टकारणप्रभवत्वम्, विशदनेत्राणामप्यनुस्यूताकारस्य अक्षजप्रत्यये प्रतिभासनात् । न च संशय-विपर्ययाऽनध्यवसायरूपतयाऽस्योत्पत्तिः, तद्वैपरीत्येन अस्य प्रतिभासनात् । न चैवंभूतस्याऽपि प्रत्ययस्य अप्रमाणता स्वलक्षणविषयस्यापि तस्य अप्रमाणताप्रसक्तेः । न च प्रतीयमानस्यापि अनुगतप्रत्ययस्य अपलापः शक्यते कर्तुम्, सर्वप्रत्ययापलापप्रसक्तेः । तस्माद् अनुगतप्रत्ययनिमित्तत्वात् सामान्यसद्भावः सिद्धः ।

अत्र प्रतिविधीयते-यत् तावदुक्तम् 'अध्यक्षप्रत्ययादेव सामान्यं प्रतीयते' इति, तदयुक्तम्; शावलेयादिव्यतिरेकेण अपरस्य अनुगताकारस्य अक्षजप्रत्यये सामान्यस्य अप्रतिभासनात् । न हि अक्षव्यापारेण शावलेयादिषु व्यवस्थितं सूत्रकण्ठे गुण इव भिन्नमनुगताकारं सामान्यं केनचिल्लक्ष्यते

---

१ "तत्रेयं द्विविधा जातिः परैरभ्युपगम्यते । सामान्यमेव सत्ताख्यं समस्तेष्वनुवृत्तितः ॥
द्रव्यत्वादि तु सामान्यं सद्विशेषोऽभिधीयते । स्वाश्रयेष्वनुवृत्तस्य चेतसो हेतुभावतः ॥
विजातिभ्यश्च सर्वेभ्यः स्वाश्रयस्य विशेषणात् । व्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वं तेषामेव ततः स्थितम्" ॥
—तत्त्वसं० का० ७०९-७११ पृ० २३६ ।

"प्रत्यक्षतः प्रसिद्धास्तु सत्त्व-गोत्वादिजातयः । अक्षव्यापारसद्भावे सदादिप्रत्ययोदयात् ॥"
—तत्त्वसं० का० ७१४ पृ० २३७ ।

३ "अनुमानबलेनापि सत्त्वमासां प्रतीयते । विशेषप्रत्ययो येन निमित्तान्तरभाविकः" ॥
—तत्त्वसं० का० ७१५ पृ० २३७ ।

४ अतः परं भाविविक्तोद्द्योतकरादिमतमालम्ब्य तत्त्वसंग्रहकारिकाभिः (का० ७१६-८१२ पृ० २३७-२६२) तत्पञ्जिकया च विहितया समग्रया सामान्यपदार्थपरीक्षया नैषा टीका सर्वशः साम्यं बिभर्ति तथापि अन्तराऽन्तरा साम्यं वर्तते तच्च यथास्थानं निर्देक्ष्यते, भावार्थस्तु समानो भाति । सविस्तरं विज्ञातुकामैस्तु ताः सर्वा अपि कारिका विलोकनीयाः ।

५ कर्मादि-भां० मां० । ६ प्र० पृ० पं० ९ ।

७-तं भूतकण्ठे भां० मां० विना । श्लोकवार्तिकमूलेऽपि अयं 'भूतकण्ठ'-शब्दः प्रयुक्तः । तथथा—
"भूतकण्ठगुणादेश्च प्रतिपिण्डं समाश्रितः" ॥—
"कण्ठगुणः कण्ठभूषणं हारादि"—श्लो० वा० न्यायर० श्लो० ३५ पृ० ६२२ ।
"भूतकण्ठगुणवत् स्रक्सूत्रवद् वा"—श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० ६२१ पं० २२ ।
स्याद्वादरत्नाकरे तु सामान्यविचार एव एष शब्दो बहुशः प्रयुक्तो दृश्यते । तथथा "भूतकण्ठे गुण इव" इत्यादि—
पृ० ९५१ पं० १०-२१-२२,२४ ।

८ "सूत्रकण्ठः खञ्जरीटे द्विजन्मनि कपोतके"—हैम० अनेका० ४-७० ।

'गौः' 'गौः' इति विकल्पज्ञानेनापि त एव समानाकाराः शावलेयादयो बहिर्व्यवस्थिता अवसीयन्ते अन्तश्च शब्दोल्लेखः; न पुनस्तद्भिन्नमपरं गोत्वम्। तन्न निर्विकल्पकेन सविकल्पकेन वाऽध्यक्षेण सामान्यं व्यवस्थापयितुं शक्यम्। यदपि 'कार्यभूतानुगतप्रत्ययेन अनुमानतः सामान्यव्यवस्थापनम्, तदप्यसंगतम्; तस्य प्रत्ययहेतुत्वेन प्रमाणतोऽनिश्चयात्, तथा हि अनुगताकारज्ञानस्य निर्निमित्तस्य असंभवात् केनचिन्निमित्तेन भाव्यम् इत्येतावन्मात्रं सिध्यति। तच्च सामान्यम् अन्यद् वेति न निश्चयो भवताम्। कार्यान्वय-व्यतिरेकाभ्यां च कारणत्वावधारणम्, पिण्डानां च विज्ञानजन्मनि ततः सामर्थ्यं विशेषप्रत्यये सिद्धमिति इहापि तेषामेव सामर्थ्यप्रकल्पनम्, न; सामान्यस्य तस्य क्वचिदपि सामर्थ्यानवधारणात्। तथाहि-पिण्डसद्भावे अनुगताकारं ज्ञानमुपलभ्यते तदभावे न इति चरमध्यक्षप्रत्ययावसेयानां तेषामेव तन्निमित्तता कल्पनीया। यदपि 'पिण्डानामविशिष्टत्वात् प्रतिनियमो न स्यात् तज्जन्मनि' इत्यभिधानम्, तदपि असंगतम्; यतो यथा पिंडादिरूपतयाऽविशेषेऽपि तन्तूनामेव पटजन्मनि हेतुत्वम् न कपालादीनाम् तथा शावलेयादीनामेव 'गौः' 'गौः' इति ज्ञानोत्पादने सामर्थ्यं भविष्यति कयाचिद् युक्त्या न कर्कादीनाम्, यथा वा गुडूच्यादेरेव ज्वरादिशमने सामर्थ्यं प्रतीयते न दध्यादेर्वस्तुरूपतयाऽविशेषेऽपि तथा प्रकृतेऽपि भविष्यतीति न पर्यनुयोगो युक्तः। किञ्च; सामान्यं परेण मूर्तमभ्युपगम्यते, अमूर्तं वा? यदि अमूर्तम् न सामान्यं स्याद् रूपवत्। अथ मूर्तम् तथा च न सामान्यं घटादिवत्। तथा, यदि अनंशं सामान्यमभ्युपगम्यते तर्हि न सामान्यम् अनंशत्वात् परमाणुवत्, सांशत्वेऽपि न सामान्यम् घटवत्। किञ्च, यदि पिण्डेभ्यो भिन्नं सामान्यम् भेदेन एव उपलभ्येत घटादिभ्य इव पटः। न च एकान्ततो व्यक्तिभ्यः सामान्यस्य भेदे 'गोर्गोत्वम्' इति व्यपदेशोपपत्तिः संबन्धाभावात्, समवायस्य तत्संबन्धत्वेन निषेत्स्यमानत्वात्। व्यक्तिभ्यस्तस्याऽभेदे अन्यत्राऽननुयायित्वाद् न सामान्यरूपता पिण्डस्वरूपवत्। न च भेदेन व्यक्तिभ्यस्तस्याऽनुपलक्षणं भिन्नप्रतिभासविषयत्वाद् असिद्धम्, बुद्धिभेदस्य व्यक्तिनिमित्तत्वेन प्रतिपादनात्। किञ्च, यदि सामान्यबुद्धिर्व्यक्तिभिन्नसामान्यनिबन्धना भवेत् तदा व्यक्त्यग्रहणेऽपि भवेत् अश्वबुद्धिवद् गोपिण्डाग्रहणे, न च कदाचित् तथा भवेत्। ततो न व्यक्तिव्यतिरिक्तसामान्यसद्भावः। अथ आधारप्रतिपत्तिमन्तरेण आधेयप्रतिपत्तिर्न भवतीति तद्ग्रहे एव तद्ग्रहः नाऽभावात् अन्यथा कुण्डाद्याधारप्रतिपत्तिमन्तरेण बदराधेयस्य अप्रतिपत्तेः तस्याप्यभाव एव स्यात्, न; बदरादेः प्रतिनियताधारमन्तरेणापि स्वरूपेणोपलब्धेर्नाभावः गोत्वादेस्तु प्रतिनियतपिण्डोपलम्भमन्तरेण स्वरूपेण कदाचनाऽपि अनुपलब्धेरभाव एव, तेन 'तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावात् इत्यत्र सामान्याभिव्यञ्जकपिण्डग्रहण एव तदभिव्यङ्ग्यसामान्यबुद्धिसद्भावात्-प्रकाशग्रहण एव गृह्यमाणघटादिसत्ववत्-सामान्यस्यापि सत्त्वम्' इति यदुक्तम् तन्निरस्तं भवति घटनिमित्तघटबुद्धिवत् सामान्यनिबन्धनत्वेन तद्बुद्धेरसिद्धेः। किञ्च, सामान्यं निराधारं वा अभ्युपगम्येत, आधारवद् वा? यदि निराधारम् न सामान्यं स्यात् अनाधारत्वात् शशशृङ्गवत्। आधारवत्त्वेऽपि तस्य तत्र वृत्त्यनुपपत्तिः तथाहि-तस्य एकदेशेन वा तत्र वृत्तिर्भवेत् सर्वात्मना वा? सर्वात्मना वृत्तौ एकस्मिन्नेव पिण्डे सर्वात्मना परिसमाप्तत्वाद् यावन्तः पिण्डाः तावन्ति सामान्यानि स्युः, न वा सामान्यम् एकपिण्डवृत्तित्वाद् रूपादिवत्। एकदेशवृत्तावपि न सामान्यं स्यात् सामान्यस्य निरंशत्वेन एकदेशासंभवात् संभवेऽपि ते ततो भिन्ना वा स्युः, अभिन्ना वा? यदि भिन्नास्तदा तेषु सामान्यं वर्तते, उत नेति? यदि वर्तते तदा किं सर्वात्मना, उत एकदेशेन? यदि सर्वात्मना तावत्सामान्यप्रसक्तिः प्रत्येकमेकदेशे तस्य परिसमाप्तत्वात्, न वा सामान्यम् प्रदेशवृत्तित्वाद् घटवत्। अथ एकदेशेन, एकदेशेषु वृत्तिस्तदा तेऽपि एकदेशा यदि ततो भिन्नास्तदा तेष्वपि अपरैकदेशवशाद् वृत्तिरिति अनवस्थाप्रसक्तिः। अथ अभिन्नास्तदा तेषां सामान्यरूपत्वात् तावन्ति सामान्यानि स्युः। न च सामान्यात्मकानां तेषां करणरूपता युक्ता येन तैः पिण्डेषु सामान्यं वर्तेत नहि घटत्वादिसामान्यं गोत्वस्य पिण्डवृत्तौ करणत्वेन उपलब्धम्।

---

१ अतश्च चू० आ०। २ पृ० ६८८ पं० १०। ३ पृ० ६८८ पं० १५-१६। ४ यथा घटादि-मां० मां०। यथा यदि, रू-चू० आ० डा० वि०। ५ वा गड्ड-वा० बा०।

६ "यद्यनेकानुवृत्ति गोत्वं तत् किं प्रतिपिण्डं परिसमाप्त्या वर्तते अथैकदेशेनेति?" इत्यादि सामान्यविषयिणी चर्चा न्यायवार्तिकतोऽवबोद्धव्या-२-२-६५ पृ० ३१७-३१९।

न च सामान्यस्य अनुवृत्त्येकरूपत्वात् कार्त्स्न्यैकदेशशब्दयोस्तत्राऽप्रवृत्तिः, निरवयवैकरूपेऽपि व्याप्त्यव्याप्तिशब्दयोर्भवतैव प्रवृत्त्यभ्युपगमात् तत्र च कार्त्स्न्यैकदेशवृत्तिपक्षोक्तदोषाणां समानत्वात् अपरस्य चात्र वक्तव्यस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात्। तत्र वृत्त्यनुपपत्तेः सामान्यस्य सत्त्वमभ्युपगन्तुं युक्तम्।

किञ्च, पिण्डोत्पत्तिकाले किं गवात्मकेन पिण्डेन गोत्वं संबध्यते, उत अगवात्मकेन? यदि आद्यः पक्षस्तदा गोत्वसंबन्धात् प्राक् पिण्डस्य यद्यपरगोत्वसंबन्धाद् गोरूपता तदा अनवस्थाप्रसक्तिः। अथ तत्संबन्धमन्तरेणाऽपि तस्य गोरूपता तदा गोत्वसंबन्धवैयर्थ्यम् तमन्तरेणापि गोपिण्डस्य प्रागेव गोरूपत्वात्। अथ अगोरूपेण तदाऽगोरूपत्वाविशेषात् अश्वादिपिण्डैरपि गोत्वसंबन्धप्रसक्तिः इति अश्वादयोऽपि गोरूपाः स्युः। न च अगोरूपत्वाविशेषेऽपि गोत्वसंबन्धात् प्राक् शावलेयादिभिरेव गोत्वं संबध्यते न कर्कादिभिरिति वक्तव्यम्, नियमहेतोरभावात्। अथ उपलक्षणभेदो नियमहेतुः। तथाहि-यत्र ककुदादीनि उपलक्षणानि पिण्डे तत्रैव गोत्वं वर्तते न केसराद्युपलक्षणवति, असदेतत्; गोत्वादेरचेतनत्वेन निरभिप्रायस्य प्रदर्शितोपलक्षणप्रत्यभिज्ञानवशाद् अन्यपरिहारेण प्रतिनियताधारवृत्तित्वानुपपत्तेः। न च ककुदाद्युपलक्षणयोगिनः पिण्डादेः स्वात्मनि गोत्वाधारसामर्थ्यं प्रतिनियतं निमित्तं कल्पयितुं युक्तम्, यतो यया शक्त्या ककुदादिमन्तः पिण्डविशेषा गोत्वसामान्यं विजातीयपिण्डव्यवच्छेदेन स्वात्मनि व्यवस्थापयन्ति तयैव 'गौः' 'गौः' इत्यनुगताकारज्ञानहेतवोऽपि भविष्यन्तीति किमन्तर्गड्डसामान्यप्रकल्पनया। न च अदृष्टं गोत्वादेः सामान्यस्य प्रतिनियतव्यक्तिवृत्तिनिमित्तं कल्पनीयम्, तत्रापि अस्य दूषणस्य समानत्वात्। यदपि 'अनुगताकारं ज्ञानं सामान्यमन्तरेण असंभवि' इति, तत्रापि किं यत्रानुगतं ज्ञानं तत्र सामान्यसंभवः प्रतिपाद्यते, आहोस्वित् यत्र सामान्यसंभवस्तत्र अनुगतं ज्ञानमिति? तत्र यदि आद्यः पक्षः, स न युक्तः; यतो गोत्वादिसामान्येषु बहुषु 'सामान्यम्' 'सामान्यम्' इति अनुगताकारप्रत्ययप्रवृत्तेः अपरसामान्यप्रकल्पनाप्रसक्तिः स्यात्। तथा, प्रागभावादिष्वपि अभावेषु 'अभावः' 'अभावः' इत्यनुगतप्रत्ययप्रवृत्तिरस्ति, न च परैः अभावसामान्यमभ्युपगतमिति व्यभिचारः। न च सामान्यादिषु अनुगतप्रत्ययस्य गौणत्वान्न व्यभिचारः, अस्खलद्वृत्तित्वेन गौणत्वस्य असिद्धेरित्युक्तत्वात्। अथ यत्र सामान्यं तत्रानुगतप्रत्ययकल्पना, न; पाचकादिषु तदभावेऽपि अनुगतप्रत्ययप्रवृत्तेः। न च तत्रापि पचनक्रियानिमित्तोऽयं प्रत्ययः तस्याः प्रतिव्यक्ति भिन्नत्वात् तत्सामान्यनिमित्तत्वे प्रागेव तत्प्रत्ययप्रसूतिर्भवेत् सामान्यस्य नित्यत्वेन तदापि तद्धेतोर्भावात्। अभिव्यञ्जकक्रियाभावात् प्राक् अनभिव्यक्तत्वात् तत्सामान्यस्य न तत्प्रत्ययोत्पत्तिरिति चेत्, पचनक्रियानिवृत्तावपि अभिव्यञ्जकाभावेन अनभिव्यक्तात् तत्सामान्यात् तत्प्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात् अनुत्पन्नवद् विनष्टस्यापि अभिव्यञ्जकस्य अभिव्यञ्जकत्वायोगात्। अथ एकदा अभिव्यक्तस्य तत्सामान्यस्य नित्यत्वेन सर्वदा अभिव्यक्तत्वाद् उत्तरकालं तत्प्रत्ययोत्पत्तिस्तर्हि पचनक्रियायाः प्रागपि तत्सामान्यस्य एकरूपतया अभिव्यक्तत्वात् ततस्तत्प्रत्ययोत्पत्तिः स्यात्। अथ प्राग् न तस्याऽभिव्यक्तिस्तर्हि अभिव्यक्ताऽनभिव्यक्तस्वभावद्वययोगात् तस्य नैकत्वम् स्वभावभेदलक्षणत्वाद् वस्तुभेदस्य। अथ व्यक्तिप्रतिभाससमय एव सामान्यस्य प्रतिभास इति न ततः प्राक् पश्चाद् वा अभिव्यक्तैकरूपस्यापि तस्य ग्रहणं तर्हि व्यक्तिप्रतिभासकाले अपरप्रतिभासस्याऽसंवेदनाद् अनुगतप्रतिभासस्य च तदा व्यक्तिनिबन्धनत्वात् सामान्यस्य अभाव एवेति प्राप्तम्। तेन 'यत्र सामान्यसद्भावाद् अनुगताकारं ज्ञानं प्रवर्तते तत्र तद् मुख्यम् यत्र तु तदभावात् तत् तद् गौणम्' इत्येतदपि निरस्तम् सामान्यनिबन्धनत्वेन अनुगतज्ञानस्य क्वचिदपि असिद्धेः मुख्याभावे गौणकल्पनाया दूरापास्तत्वात्। यदपि 'किमनेन प्रसङ्ग आपाद्यते परस्य, आहोस्वित् स्वतन्त्रसाधनमिति, न तावत् प्रसङ्गसाधनम् …

वृत्तिर्वाच्या। अथ समवायलक्षणा वृत्तिस्तत्र तस्य उक्तैव, न; तस्याः स्वरूपानिर्देशात्। अथ आश्रयाऽऽश्रयिभावस्तस्याः स्वरूपम्, न; अस्य पर्यायमात्रत्वात्-वृत्तिमात्रम् समवायः आश्रयाश्रयिभावः इति च पर्यायशब्दाः। एतेन तु कात्स्न्यैकदेशवृत्तिव्यतिरेकेण लोकप्रसिद्धाऽपरवृत्तिप्रदर्शनं कृतम्। या तु समवायलक्षणा स्वशास्त्रपरिभाषिता वृत्तिः सा तु तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् सामान्यवद् असिद्धस्वरूपैव यदि च पिण्डेभ्यो व्यतिरिक्तम्-कुण्डव्यतिरिक्तवदरवत्-सामान्यं प्रमाणत उपलभ्येत तदा तेषु तस्य वृत्तिप्रकल्पना स्यात् न च तत् तथोपलभ्यत इत्युक्तं प्राक्[1]। अपि च, उत्पन्ने पिण्डे सामान्यं वर्तते, आहोस्विद् अनुत्पन्ने, उत उत्पद्यमाने इति विकल्पाः। न तावद् अनुत्पन्ने, तदा पिण्डस्याऽसत्त्वात्। नापि उत्पन्ने, अगोरूपे अश्वपिण्ड इव तत्र तस्य वृत्त्ययोगात् इत्युक्तत्वात्। नापि उत्पद्यमाने, अनिष्पन्नस्य आधारत्वायोगात् विद्यमानस्वरूपाणामेव कुण्डबदराणामाश्रयाश्रयिभावदर्शनात् अतः 'य एव पिण्डोत्पत्तिकालः स एव तत्सामान्यसंबन्धसमयः' इति अयुक्तम्, अन्यत्र एवमदर्शनात्।

किञ्च, उत्पद्यमानेन पिण्डेन सह सामान्यं संबन्ध्यमानं किमन्यत आगत्य संबध्यते उत पिण्डेन सह उत्पादात्, आहोस्वित् पिण्डोत्पत्तेः प्रागेव तद्देशावस्थानात् इति विकल्पाः। तत्र न तावद् अन्यत आगत्य संबध्यत इति पक्ष आश्रयितुं युक्तः यतः प्राक्तनपिण्डपरित्यागेन तत् तत्र आगच्छति, उत अपरित्यागेन इति वाच्यम्। यदि परित्यागेन इति पक्षः स न युक्तः प्राक्तनपिण्डस्य गोत्वपरित्यक्तस्य अगोरूपताप्रसक्तेः। अथ अपरित्यागेन तदा अपरित्यक्तप्राक्तनपिण्डस्य निरंशस्य रूपादेरिव गमनासंभवः न हि अपरित्यक्तप्राक्तनाधाराणां रूपादीनामाधारान्तरसंक्रान्तिः क्वचिदपि उपलब्धा, न च प्राक्तनाधारापरित्यागेऽपि आधारान्तरसंक्रमः सर्पादेरिव सामान्यस्य भविष्यतीति वक्तव्यम्, सामान्यस्य अमूर्तत्वाभ्युपगमात् अमूर्तस्य च रूपादिवद् गमनासंभवात्। न च सर्पवत् पूर्वाधारापरित्यागेन आधारान्तरक्रोडीकरणे सामान्यरूपता, सदेशस्य घटवत् सामान्यरूपतानुपपत्तेः। न च पिण्डोत्पत्तेः प्राक् तद्देशे तस्य अवस्थानाद् उत्पद्यमाने पिण्डे तस्य वृत्तिरित्यभ्युपगमोऽपि युक्तः निराधारस्य सामान्यस्य तत्र अवस्थानासंभवात् अवस्थाने वा आकाशवत् सामान्यरूपताविरहात्। न च पिण्डेनैव सह उत्पद्यत इति पक्षप्रकल्पनाऽपि संगता, उत्पत्तिमत्त्वेन तस्य अनित्यताप्रसक्तेः अनित्यस्य च ज्वालादिवत् सामान्यरूपताऽयोगात्। न च शावलेयादिपिण्डस्य सामान्यसंबन्धविकलस्यैव परेण अवस्थानमभ्युपगतमिति सामान्यप्रकल्पना अनेकदोषदुष्टत्वाद् असंगतैव। तदुक्तम्[2]—

> "न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न वांऽशवत्।
> जहाति पूर्वं नाधारमहो! व्यसनसंततिः"॥ [ ]

तथा—

> "यत्रासौ वर्तते भावस्तेन संबध्यते न च।
> तद्देशिनं च व्याप्नोति किमप्येतद् महाद्भुतम्"॥ [ ]

न च गमनादिधर्मविकलस्यापि सामान्यस्य उत्पद्यमानपिण्डसंबन्धो 'गौः' 'गौः' इत्यनुस्यूताकारप्रत्ययात् प्रतीयत एवेति प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुनि विरोधाद्युद्भावनमसंगतमेवेति वाच्यम्, 'गौः' 'गौः' इत्यनुगताकारप्रत्ययस्य प्रागभावादिषु अभावप्रत्ययवत् सामान्यसंबन्धमन्तरेणाऽपि सिद्धत्वात्। किञ्च, पिण्डेभ्यो व्यतिरिक्तं यदि अनुस्यूतमेकं सामान्यमभ्युपगम्येत तदा एकपिण्डोपलम्भे तस्य अविभक्तत्वात् पिण्डान्तरालेऽपि उपलब्धिः स्यात् न हि तस्य एकत्राभिव्यक्तस्य अन्यत्र अनभिव्यक्तस्वरूपता विरुद्धधर्माध्यासतो भेदप्रसक्तेः तथापि अभेदे न किञ्चिद् भिन्नं स्याद् इति सर्वत्र भेदव्यवहारनिवृत्तेः तदपेक्षस्य अभेदव्यवहारस्याऽपि विरहात् सर्वाभावप्रसक्तिः। अथ अन्तराले संयुक्तसमवायसंबन्धस्य उपलम्भहेतोश्चक्षुषोऽभावाद् अनुपलम्भः, असदेतत्; तत्र तत्सद्भावे प्रमाणाभावात्-यदि हि पिण्डद्वयान्तराले सामान्यस्य कुतश्चित् प्रमाणात् सद्भावः सिद्धः स्यात् तदा ग्रहण-

1–अत्र सामान्यगोचरा चर्चाऽवगन्तव्या—पृ० २३९ पं० ३–पृ० २४१ पं० १। हेतुबिन्दुतोऽप्येषाऽवधारणीया लि० पृ० ३१ ब०–३५ अ०।

2 'तदुक्तम्' इत्युल्लिख्यायं श्लोकः स्याद्वादरत्नाकरे उद्धृतो वर्तते—पृ० ९५५ पं० १८।

निमित्तं यथोपवर्णितमुपपद्येताऽपि, न च तत्सद्भावः सिद्ध इति असकृद् आवेदितम्।[1] न च स्वव्यक्तिसर्वगतत्वात् सामान्यस्य अयमदोषः, अन्तराले तस्य अभावे स्वव्यक्तिषु च सद्भावे अनेकत्व प्रसक्तेः तदन्तरेण अन्तराले विच्छिन्नस्य सकलस्वव्यक्तिसंबद्धत्वानुपपत्तेः। यदपि 'अत्र 'अन्तराल' शब्देन किं पिण्डान्तरमश्वादिरूपमभिधीयते, आहोस्विद् मूर्तद्रव्याभावः, उत आकाशादिप्रदेश इति विकल्पाः। यदि अश्वादिपिण्डान्तराभिधानं तदा तत्र गोत्वसामान्यस्य अवृत्तेरग्रहणमुपपन्नमेव न हि यद् यत्र नास्ति तत् तत्र गृह्यत इति परस्याभ्युपगमः अथ आकाशादिदेशस्तदा तत्रापि सामान्यस्य वृत्तेरग्रहणमेव। एवं मूर्तद्रव्याभावेऽपि अग्रहणमभावादेव' इति दूषणाभिधानम्, तदपि असंगतमेव। एवं दूषणाभिधाने सर्वत्र तदभिधानानिवृत्तेः। तथाहि—'घटद्वयान्तराले पटादिद्रव्यस्य अग्रहणाद् अभावः' इत्यत्रापि निकल्पेत(कल्प्येत)[2]द्दोषाभिधानस्य अभिधातुं शक्यत्वात्। अथ अत्र 'अन्तराल'शब्दस्य लोकप्रसिद्ध एवार्थः प्रकल्प्यते तर्हि एतद् अन्यत्रापि समानमिति न पर्यनुयोगावकाशः।

[3]किञ्च, यदि उपलभ्यस्वभावं सामान्यमभ्युपगम्यते तदा सास्नाद्यवयवानामिव शावलेयादौ तद्बुद्ध्या ग्रहणं स्यात्, अग्रहणात् तद् असदित्यत्र किं सास्नादिबुद्ध्याऽग्रहणात् सामान्यस्य असत्त्वम्, आहोस्वित् स्वबुद्ध्या इति कल्पनाद्वयम्। न तावत् सास्नादिबुद्ध्या अगृह्यमाणत्वात् तस्य असत्त्वम् रूपादेरपि रसादिबुद्ध्यग्रहणाद् असत्त्वप्रसक्तेः। अथ स्वबुद्ध्या अगृह्यमाणत्वाद् असत्त्वम्, तदयुक्तम्, विरोधात्—न हि 'सामान्यबुद्धिः सामान्यस्य च अग्राहिका' इत्यभिधानमविरुद्धम् 'माता च मे वन्ध्या च' इत्यभिधानवत्। न च अनुगताकारबुद्ध्या सामान्यं न गृह्यते, व्यावृत्तबुद्धेरपि विशेषं प्रत्यग्राहकत्वप्रसक्तेः।[4] अतः 'तद्बुद्ध्या अगृह्यमाणत्वात् असत् सामान्यमित्ययुक्तम्' इत्यपि अभिधानम संगतम् यतो भवदभिप्रायेण समानाकारशावलेयादिबुद्धिः सामान्यबुद्धिः तया च देश-कालव्यापि सामान्यं न गृह्यते तथाभूतस्य बुद्ध्यजनकत्वेन तद्ग्राह्यत्वायोगात् अत एव अनुगताकारबुद्धेरव्यापक-क्षणिकशावलेयादिपदार्थप्रभवत्वात् तद्ग्राहकत्वमेव न सामान्यग्राहकत्वम्। किञ्च, अक्षणिक-व्यापकैकस्वभावत्वे सामान्यस्य किं येनैव स्वभावेन एकस्मिन् पिण्डे वर्तते सामान्यं तेनेव पिण्डान्तरे, आहोस्वित् स्वभावान्तरेण? यदि तेनैव ततः सर्वपिण्डानामेकत्वप्रसक्तिः एकदेश-काल-स्वभावनियतपिण्डवृत्त्यभिन्नसामान्यस्वभावकोडीकृतत्वात् सर्वपिण्डानाम् प्रतिनियतदेश-काल-स्वभावैकपिण्डवत्।[5] अथ स्वभावान्तरेण, तदा अनेकस्वभावयोगात् सामान्यस्य अनेकत्वप्रसक्तिः स्वभावभेदस्य भावभेदकत्वात् अन्यथा भेदायोगात्। न च एकस्य अनेकवृत्तित्वं रूपादेरिव युक्तम्। अथ यथा एकस्य रूपादेरेकवृत्तित्वं-तथैवोपलम्भात्-अभ्युपगम्यते तथा एकस्य सामान्यस्य अनेकवृत्तित्वमनेकनोपलम्भात् किं नाऽभ्युपगम्यते अबाधितोपलम्भस्य भावरूपव्यवस्थानिबन्धनत्वात्? भवेद् एतत् यदि अनेकवृत्तितया एकं सामान्यं स्वरूपतोऽध्यक्षे प्रतिभासेत न चैवम् व्यक्तिव्यवस्थितस्य एकस्य व्यक्तिभ्यो भिन्नस्य कुत्रचित् प्रत्यये अप्रतिभासनात्। न च देशव्याप्तिः कालव्याप्तिर्वा कस्यचिद् भावस्य केनचित् प्रमाणेन प्रतिपत्तुं शक्येति प्राक् प्रतिपादितम्। न च परस्परव्यावृत्तात्मानो भावा अनुगतनिमित्तमन्तरेण कथमभिन्नाकारप्रत्ययनिबन्धनं भवन्तीति वक्तव्यम् यतो यथा गुडूच्यादयो भावाः परस्परविविक्ता अपि सह प्रत्येकं च एकसामान्यमन्तरेणापि एकं ज्वरादिशमनलक्षणं कार्यं निर्वर्तयन्ति—न हि तत्र एकं सामान्यं तदर्थक्रियासंपादनसमर्थमस्ति अन्यथा तेषां चिर-क्षिप्रादिभेदेन व्याध्युपशमसामर्थ्योपलब्धिर्न स्यात् सामान्यस्य सर्वत्र एकरूपत्वात्, न च सरसौषधाद्युपयोगसंपाद्यशीघ्रव्याध्युपशमादिभेदोपलब्धिश्च स्यात् सामान्यस्य नित्यस्वभावतया परैरनाधेयातिशयस्य सर्वत्र सर्वदा एकरूपत्वात्। गुडूच्यादिभावनिबन्धनत्वे तु नायं दोषः तस्य प्रतिक्षणं भिन्नत्वे भिन्नशक्तित्वात्—तथा इहापि केचिद् भावाः प्रकृत्यैव एकाकारपरामर्शहेतवो भविष्यन्तीति न तदर्थं सामान्यप्रकल्पनं युक्तम्। यदपि 'अनुगतप्रत्ययः पिण्डव्यतिरिक्तानुगतनिमित्तनिबन्धनः' इत्याद्यनुमानम् तत्र प्रतिज्ञाया अनुमानबाधा। तथाहि-अनुगतप्रत्ययानां पिण्डव्यतिरिक्तमनुगतं निमित्तमालम्बनभूतं साधयितुमभिप्रेतम् तच्चायुक्तम् तस्य तत्र अप्रतिभासनात् वर्णाऽऽकृत्यक्षराकारस्यैव

१ २-२-६५ न्यायवा० पृ० ३१५ पं० २१—। २-कल्पैत-वृ०। ३-मित्यभिधान-वा० बा०। ४-वा० बा०।-क्षणिके व्या-वृ०। ५ पृ० ६८८ पं० १०।

अर्थस्य तत्र प्रतिभासनाच्च तद्रूपविकलतया सामान्यस्य परैरभ्युपगमात् कथं तत्प्रतिभासे तस्य प्रतिभासः अन्याकारस्य विज्ञानस्य अन्यालम्बनत्वे अतिप्रसङ्गात्? तथाहि—यो यद्विलक्षणार्थप्रतिभासः प्रत्ययः स तद्ग्राहको न भवति, यथा रूपप्रत्ययो न रसादिग्राहकः, जातिविलक्षणवर्णादिप्रतिभासश्च अन्वयी प्रत्यय इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः ।

योऽपि शंकरस्वामी अत्राह—"सामान्यमपि नीलत्वादि नीलाद्याकारमेव अन्यथा 'नीलम्' 'नीलम्' इति अनुवृत्तिप्रत्ययो न स्यात् इति हेतोरसिद्धत्वात् नानुमानबाधा" [ ] इति, सोऽपि अयुक्तकारी, नीलादेर्गुणाद् नीलत्वादेः सामान्यस्य एवमभेदप्रसङ्गात् । अथ गुणस्य व्यावृत्तत्वात् तत्सामान्यस्य तु अनुगतत्वात् आकारभेदाद् भेदः, न, व्यावृत्तनीलादिगुणव्यतिरिक्तानुगतनीलत्वादिसामान्यस्य नीलाद्याकारस्य अप्रतिभासनाद् अध्यक्षे असाधारणस्य नीलादेरेकस्यैव प्रतिभासनात् विकल्पज्ञानेऽपि यथादृष्टस्यैव निर्णयात् द्वितीयस्य सामान्याकारस्य तत्रापि अनिश्चयात् । न च क्षणिकत्ववत् प्रतिभासमानमपि सामान्यं व्यक्तिभेदेन नोपलक्ष्यत इति वक्तव्यम्-अनुपलक्षितस्य व्यक्तिष्वभिन्नधी-ध्वनिनिमित्तत्वायोगात् न हि विशेषणानुपलक्षणे विशेष्ये बुद्धिरुपजायते दण्डानुपलक्षणे दण्डिबुद्धिवत् तथा च "समवायिनः श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धेः श्वेते बुद्धिः" [वैशेषिकद० ८-१-९] इति वचनं निरवकाशं भवेत् । किञ्च, अविकल्पविज्ञानवादिनः प्रतिभातानुपलक्षणं युज्येतापि भवतस्तु सविकल्पकाध्यक्षवादिनो गृहीताऽनुपलक्षणमयुक्तम् निश्चयानामुपलक्षणमन्तरेण अपरग्रहणासंभवात् न हि निश्चयैरनिश्चितं गृहीतं नाम । किञ्च, यदि अत्र अनुगतं निमित्तं नित्यं साध्यते तदा तस्य असिद्धिः विपर्ययसिद्धेः । तथाहि—अनुगताभिधानप्रत्ययाः क्रमवत्कारणप्रभवाः, क्रमेण उपजायमानत्वात्, प्रदीपज्वालाप्रभवक्रमभाविप्रत्ययवत् । यदि तु अक्रम सामान्यहेतुका एते अभविष्यन् क्रमेण उत्पत्तिमासादयिष्यन् अविकलकारणत्वात् तथापि तेषां तद्धेतुकत्वे सर्वं सर्वहेतुकं स्यात् इति प्रतिनियतकार्यकारणभावव्यवस्थाविलोपप्रसक्तिः । अनैकान्तिकश्च हेतुः षट्सु पदार्थेषु अपरानुगतनिमित्ताभावेऽपि 'पदार्थाः' 'पदार्थाः' इत्यनुगतप्रत्ययोपलब्धेः । न च सदुपलम्भकप्रमाणविषयत्वादिकमनुगतं निमित्तमत्रापि अस्ति इत्यव्यभिचारः, प्रागुक्तोत्तरत्वाद् अस्य । न च विपक्षे वृत्तौ अस्य बाधकं प्रमाणमस्ति इति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वाद् अनैकान्तिकः । न च अनुगतनिमित्ताभावेऽपि अस्य भावे प्रत्ययभेदकृता विषयभेदव्यवस्था न स्यादिति रूपादिप्रत्ययानामपि न स्वविषयव्यवस्थापकत्वं भवेदिति वक्तव्यम्, अनुगतप्रत्ययस्याविशिष्टाभिलापत्वेन स्वलक्षणाविषयीकरणात् तद्व्यवस्थापकत्वायोगात् यथासंकेतं तत्तद्व्यावृत्ति-

---

१ "शङ्करस्वामी त्वाह—सामान्यमपि नीलत्वादि नीलाद्याकारमेव अन्यथा हि नील इत्येवमनुवृत्तिप्रत्ययो न स्यात्", इत्यादि—तत्त्वसं॰ पञ्जि॰ पृ॰ २४३ पं॰ २७ ।

"सामान्यस्यापि नीलादिरूपत्वे गुणतोऽस्य कः । भेदो नानुगतश्चैको नीलादिरुपलक्ष्यते ॥
भासमानोऽपि चैवैष न विवेकेन लक्ष्यते । तत्कथं धीध्वनी व्यक्तौ वर्तेते तद्बलेन तौ ॥
निश्चयात्मक एवायं सामान्यप्रत्ययः परैः । इष्टश्चाग्रहणे प्राप्ते युक्तं नानुपलक्षणम्" ॥
—तत्त्वसं॰ का॰ ७४०-७४२ पृ॰ २४४ ।

२ मुद्रितेषु वैशे॰ द॰ पुस्तकेषु "समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते एते कार्यकारणभूते"-८-१-९ इति सूत्रं वर्तते, केवल गू॰ वै॰ पुस्तके इत्थं टिप्पणी दृश्यते—"त एते" इत्यादि पृथक् सूत्रं चन्द्रकान्तमते—पृ॰ ३०३ ।

३ "सिद्धेऽप्यन्यनिमित्तत्वे न सामान्यं प्रसिध्यति । अनुगाम्येकमध्रौव्यविविक्तं च क्रमोदयात्" ॥
—तत्त्वसं॰ का॰ ७४३ पृ॰ २४४ ।

४ "पदार्थशब्दः यं हेतुमपरं षट्स्वपेक्षते । अस्तीति प्रत्ययो यश्च सत्तादिष्वनुवर्तते ॥
अन्यधर्मनिमित्तश्चेत् तत्राप्यस्त्यस्तितामतिः । तदन्यधर्महेतुत्वेऽनिष्ठासक्तेरधर्मिता ॥
व्यभिचारी ततो हेतुरमीभिरयमिष्यते । न च सर्वोपसंहाराद् व्याप्तिरस्य प्रसाधिता" ॥
—तत्त्वसं॰ का॰ ७४४-७४६ पृ॰ २४५

५-स्याविशिष्टाभि-पु१ । "न हि सामान्यप्रत्ययो वस्तुस्वलक्षणविषयः परमार्थतो ... स्वलक्षणस्याविषयीकरणात्"—तत्त्वसं॰ पञ्जि॰ पृ॰ २४६ पं॰ २ ।

मादाय एकत्रापि अनेकविरुद्धधर्माध्यवसायिविकल्पप्रसूतेरविरोधात् । यदि च अनुगतनिमित्तमन्तरेण अनुगतप्रत्ययो न भवेत् इच्छाविरचितरूपेषु 'चन्द्रापीडादि'भावेषु नष्टाऽजातेषु च महासम्मत-शङ्खचक्रवर्तिप्रभृतिषु कथं भवेत्? न हि तत्रापि सामान्यसद्भावः तस्य व्यक्त्याश्रितत्वात् तदभावे तस्याप्यभावात् न हि आश्रितानामयं धर्मः-यदुत आश्रयाभावेऽपि केवलानामवस्थानम् अनाश्रितत्वप्रसङ्गात् केवलस्य वा अवस्थाने ग्रहणप्रसक्तिरेव इति न नष्टाऽजातेषु अनुगताकारः प्रत्ययः सामान्यनिबन्धनः स्यात् इति अनेकान्त एव हेतोः । न च परेणापि केवलस्य सामान्यस्य ग्रहणमभ्युपगम्यते । तथा चोक्तम्—"स्वाश्रयेन्द्रियसंनिकर्षापेक्षप्रतिपत्तिकं सामान्यम्" [ ] इति । केवलस्यापि च सामान्यस्य ग्रहणाभ्युपगमे सामान्यप्रत्ययस्य व्यक्त्यध्यवसायो न प्राप्नोति व्यक्तेस्तदानीमभावाद् 'व्यक्तीनामिदं सामान्यम्' इति संबन्धश्च न स्यात् निमित्ताभावात् । तथाहि-संबन्धस्य निमित्तं भवत् तद्व्यङ्ग्यत्वं वा सामान्यस्य भवेत्, तज्जन्यता वा, तद्ग्रहणापेक्षग्रहणता वा? तत्र न तावद् व्यक्तिभिर्व्यङ्ग्यत्वात् सामान्यं ताभिः संबद्धम् परैरनुपकार्यस्य नित्यत्वात् सामान्यस्य अविशेषतो व्यङ्ग्यत्वानुपपत्तेः यो हि यस्य अनुपकार्यः स तस्य अभिव्यङ्ग्यो न भवति, यथा हिमवान् विन्ध्यस्य, अनुपकार्यं च सामान्यं व्यक्तिभिः इत्यनुपकार्यस्यापि व्यङ्ग्यत्वे सर्वः सर्वस्य व्यङ्ग्यः स्यात् इत्यतिप्रसङ्गः । नापि तज्जन्यता तन्निबन्धनम् नित्यतया अभ्युपगतस्य तज्जन्यत्वायोगात् केवलस्यापि ग्रहणाभ्युपगमाच्च । नापि तज्ज्ञानपारतन्त्र्यमपि तस्य संभवति तेन "स्वाश्रयेन्द्रियसन्निकर्षापेक्षप्रतिपत्तिकं सामान्यम्" इति अयुक्तमभिधानम् आश्रयस्यायोगात् तद्गतेन्द्रियसन्निकर्षाद्यपेक्षाया दूरोत्सारितत्वात् न चास्य नित्यतया परैरनाधेयविशेषत्वात् क्वचिदपि अपेक्षा अतो यदि तत्स्वविषयज्ञानोत्पादनसमर्थं तदा सर्वदैव तद् जनयेत् अथ असमर्थम् न कदाचिदपि जनयेत् न हि समर्थम् असमर्थं वा तस्य तद्रूपं तत् केनचिद् अन्यथा कर्तुं शक्यम् नित्यत्वहानिप्रसङ्गात् । यदुक्तम्—

"तस्य शक्तिरशक्तिर्वा या स्वभावेन संस्थिता ।
नित्यत्वादचिकित्स्यस्य कस्तां क्षपयितुं क्षमः?" ॥ [ ] इति ।

अत एव अस्य व्यक्तिषु वृत्तिरपि अनुपपन्ना । तथाहि-वृत्तिरस्य भवन्ती स्थितिलक्षणा वा भवेत्,

१-प्रसूते-वृ० आ० हा० वि० ।

२ "इच्छारचितरूपेषु नष्टाजातेषु वा ततः । अनैकान्तिकता हेतोः सर्वैरेभिर्यथोदितैः" ॥

—तत्त्वसं० का० ७४९ पृ० २४६ ।

३ महाव्युत्पत्तिनामके बौद्धग्रन्थे चक्रवर्तिनां षष्टिर्नामानि परिगणितानि विद्यन्ते, तेषु 'महासंमत' इत्याद्यं नाम वर्तते—पृ० ५२ अं० १८० ।

४-चक्रप्र-वृ० आ० हा० वि० । "इच्छारचितरूपेषु चन्द्रापीडादिषु नभस्तलोपकल्पितधवलगृहादिषु नष्टाजातेषु च महासम्मत-शङ्खप्रभृतिषु"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २४६ पं० २१ । ५ प्र० पृ० पं० ७ ।

६ न हि समर्थमसमर्थं वा तस्य तत्स्वविषयज्ञानोत्पादरूपं तत् केनचिदन्यथा कर्तुं शक्यं नित्यत्व—आ० हा० वि० । अस्मिन् पाठान्तरे 'स्वविषयज्ञानोत्पाद' इत्यंशोऽधिको भाति स च यदि 'तत्' इत्यस्य टिप्पणात्मकत्वेन अन्तःप्रविष्टो न स्यात् तर्हि पाठान्तरत्वेन समर्थनीयः । वस्तुतः 'तद्रूपम्' इत्यस्य स्थाने 'यद्रूपम्' इति सम्यग् भाति परामर्शकस्य 'तत्'-पदस्याग्रे सत्त्वेन तत्संबन्धितया 'यत्' पदस्यैवापेक्षणात् । अत्रार्थे संवादो यथा—

"तस्य योग्यमयोग्यं वा रूपं यत् प्रकृतिस्थितम् । तद् ध्रौव्यादप्रकम्प्यं हि को नाम चलयिष्यति" ॥

—तत्त्वसं० का० ७९५ पृ० २५६ ।

अस्याः कारिकायाः पञ्जिका तु इत्थं वर्तते—"न हि तस्य तद्रूपं समर्थमसमर्थं वा तत् कश्चिद् अन्यथाकर्तुमीशते नित्यत्वहानिप्रसङ्गात्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २५७ पं० ४ ।

७ पृ० ४८२ पं० २२ टि० ६ ।

८ "अपि चानेकवृत्तित्वं सामान्यस्य यदुच्यते । तत्र केयं मता वृत्तिः स्थितिः किं व्यक्तिरेव वा ॥
स्वरूपाप्रच्युतिस्तावत् स्थितिरस्य स्वभावतः । नाधारस्तत्कृतौ शक्तो येन स्थापकता भवेत् ॥
गमनप्रतिबन्धोऽपि न तस्य बदरादिवत् । विद्यते निष्क्रियत्वेन नाधारोऽतः प्रकल्प्यते ॥
स्थितिश्चास्समवायश्चेत् तथैव विचार्यते । सोऽप्यभीष्टोऽयुतसिद्धानामाश्रयाश्रयितात्मकः" ॥

—तत्त्वसं० का० ७९८-८०१ पृ० २५९ ।

अभिव्यक्तिलक्षणा वा? स्थितिरपि निःस्वभावताप्रच्युतिरभ्युपगम्यते, आहोस्विद् अधोगतिप्रतिबन्धस्वरूपा? तत्र न तावद् आद्यः पक्षः, सामान्यस्य नित्यतया स्वभावाऽप्रच्युतेः स्वतःसिद्धत्वात्। नापि अधोगतिप्रतिबन्धस्वरूपा स्थितिस्तत्र संभविनी, अमूर्त-सर्वगतत्वाभ्या निष्क्रियत्वात् स्वत एव अधोगमनासंभवात् प्रतिबन्धकानां वैयर्थ्यात्। न च सामान्यस्य स्वव्यक्तिषु समवायः स्थितिरभ्युपगन्तव्या, तस्यैव विचार्यमाणत्वात्। तथाहि-अयुतसिद्धानामाश्रयाश्रयिभावो यः संबन्धः 'इह' इति प्रत्ययहेतुः स समवायः परैरभ्युपगतः। 'आश्रितत्वं च सामान्यस्य व्यक्तिप्रतिबद्धस्थितित्वेन वा, तदभिव्यङ्ग्यतया वा' इत्येतदेव पर्यालोचयितुं प्रक्रान्तम् परस्परासंकीर्णरूपाणां भावानामकिञ्चित्करार्थान्तरसमवायायोगात् योगे वा सर्वः सर्वस्य समवायः प्रसज्येत। तथाहि-व्यावृत्तस्वरूपान् भावान् संश्लेषयन् पदार्थः समवायः प्रकल्पितः। न च अर्थान्तरभावेऽपि स्वात्मव्यवस्थिता भावाः परस्परस्य स्वभावमात्मसात्कुर्वन्ति। न च अर्थान्तराश्लेषकारिणो भावान्तरस्य 'समवाय' इति नामकरणेऽपि काचित् क्षतिः। न च श्लेषकरणात् समवायरूपत्वं संश्लेषस्य, संश्लिष्यमाणपदार्थेभ्यो भिन्नस्य करणे तैस्तस्य संबन्धासिद्धेः; अभिन्नस्य करणे सामान्यादेः कार्यत्वेन अनित्यत्वप्रसक्तेः। तन्न सामान्यस्य व्यक्तिषु स्थितिर्वृत्तिः। नापि तदभिव्यक्तिलक्षणाऽसौ युक्ता। तथाहि-तद्विषयविज्ञानोत्पादनलक्षणा वा तदभिव्यक्तिः, स्वरूपपरिपोषलक्षणा वा? न तावत् स्वभावपरिपोषलक्षणा, नित्यस्य स्वभावान्यथाकरणासंभवात्। नापि तद्विषयविज्ञानोत्पादनस्वरूपा असौ युक्ता, सामान्यस्य स्वत एव विज्ञानोत्पादनसामर्थ्ये अभिव्यक्तिकारणापेक्षाऽयोगात् असामर्थ्येऽपि परैरनाधेयविशेषत्वात् सामान्यस्य तदपेक्षत्वानुपपत्तेः परैराधेयविशेषत्वाभ्युपगमेऽपि अनित्यत्वप्रसक्तितो व्यक्तिवद् असाधारणत्वात् सामान्यरूपताऽनुपपत्तेः तेन सामान्यस्य व्यक्तिषु वृत्तिनिबन्धनाभावाद् अवृत्तिः। तथा च प्रयोगः-यस्मिन् यस्य वृत्तिनिबन्धनं नास्ति न तत्र तद् वर्तते, विन्ध्ये इव हिमवान्, नास्ति च भेदेषु वृत्तिनिबन्धनं सामान्यस्य इति व्यापकानुपलब्धिः। सर्वेऽपि च परप्रकल्पिताः सामान्यसाधनाय हेतवः अनया दिशा प्रतिपेद्धव्याः।

कुमारिलप्रकल्पितास्तु-गोपिण्डभेदेषु गोबुद्धिः एकगोत्वनिबन्धना, गवाभासत्वात् एकाकारत्वाच्च, एकगोपिण्डविषयबुद्धिवत्। अथवा येयं गोबुद्धिः सा शाबलेयान्न भवति तद्व्यतिरिक्तार्थान्तरालम्बना वा, तदभावेऽपि भावात्, घटे पार्थिवबुद्धिवत्। सर्वगतत्वं च सामान्यस्य प्रमाणान्तरात् सिद्धम्। तथाहि-येयं गोमतिः सा प्रत्येकसमवेतार्थविषया, प्रतिपिण्डं कृत्स्नस्वरूपपदार्थाकारत्वात्, प्रत्येकव्यक्तिविषयबुद्धिवत्। एकत्वमपि सामान्यस्य प्रमाणोपपन्नमेव। तथाहि-यद्यपि सामान्य सर्वात्मना प्रतिव्यक्ति परिसमाप्तं तथापि एकमेव तत्, एकाकारबुद्धिग्राह्यत्वात्, यथा 'नञ्'-युक्तेषु वाक्येषु ब्राह्मणादिनिवर्तनम्। न चैतत् शक्यं वक्तुम्—'भिन्नेषु अभिन्नाकारः प्रत्ययो भ्रान्त इति न तद्बलाद् वस्तुतत्त्वव्यवस्था' इति, यतो नास्य दुष्टकारणप्रभवत्वमस्ति, नापि बाधकप्रत्ययसद्भावः ततो मिथ्यात्वनिबन्धनाभावात् कथं भ्रान्तता? तदुक्तम्—

"पिण्डभेदेषु गोबुद्धिरेकगोत्वनिबन्धना।
गवाभासैकरूपाभ्यामेकगोपिण्डबुद्धिवत्॥
न शाबलेयाद् गोबुद्धिः ततोऽन्यालम्बनाऽपि वा।
तदभावेऽपि सद्भावाद् घटे पार्थिवबुद्धिवत्॥
प्रत्येकसमवेतार्थविषयैवाथ गोमतिः।
प्रत्येकं कृत्स्नरूपत्वात् प्रत्येकव्यक्तिबुद्धिवत्॥

१ "स्वादाधारो जलादीनां गमनप्रतिबन्धकः। अगतीनां किमाधारैः सामान्यानां प्रकल्पितैः॥
स्वज्ञानोत्पत्तियोग्यत्वे किमभिव्यक्तिकारणैः। स्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्यत्वे किमभिव्यक्तिकारणैः॥
हि समर्थः समर्थात्मा व्यञ्जकैः क्रियते यदि। भावोऽस्थिरो भवेदेव दीपव्यङ्ग्यघटादिवत्"॥
—तत्त्वसं॰ का॰ ८०२-८०४ पृ॰ २६०।

२ "अनया च दिशाऽन्येऽपि सर्वे दूष्याः कुहेतवः"।
"अन्येऽपि कुहेतव इति कुमारिलपादिता तन्नामी तेन कुहेतव उक्ता"—तत्त्वसं॰ का॰ ७९७ तथा पं॰ पृ॰ २५७ प॰ १६—।

३ "तस्मात् पिण्डेषु गोबुद्धि"—श्लो॰ वा॰। ४ "गवाभासैकरूपाभ्या"—श्लो॰ वा॰। ५ "प्रत्येकं ... त्वात्"—श्लो॰ वा॰।

ब्राह्मणत्वं न स्यात्। न च अदृश्ये वस्तुनि निर्णयो विधातुं शक्यः 'शूद्राद्युत्पाद्यत्वमस्य नास्ति' इति, अनादिगोत्रपद्धतौ च कामार्तत्वात् सर्वदा प्रमदानां कस्याश्चिद् व्यभिचारसंभवात् कुतो योनिनिबन्धनब्राह्मण्यनिश्चयात् संस्कारस्य अध्ययनादेश्च अविपर्ययस्तत्त्वनिश्चयः? आगमस्य च तन्निश्चयनिबन्धनत्वेन कल्पितस्य रागादियुक्तपुरुषप्रणीतत्वेन अप्रामाण्यात् न निश्चयहेतुता अपौरुषेयस्य च प्रतिव्यक्ति एवंभूतार्थप्रतिपादनपरस्य अनुपलम्भान्न ततोऽपि तन्निश्चयः। न च अविगानतस्त्रैवर्णिकप्रवादोऽत्र वस्तुनि प्रमाणम् तस्यापि व्यभिचारित्वोपलब्धेः–दृश्यन्ते च बहवस्त्रैवर्णिकैरविगानेन ब्राह्मणत्वेन व्यवह्रियमाणा विपर्ययभाजः इत्यलमतिनिर्बन्धेन वचनमात्रगम्येऽर्थे। इति व्यवस्थितमेतत्–असत् सामान्यम्, तत्साधकप्रमाणाभावात् बाधकोपपत्तेश्च।

[निरूपणपुरस्सरं विशेषपदार्थस्य खण्डनम्]

नित्यद्रव्यवृत्तयः परमाण्वाकाश-काल-दिगात्ममनस्सु वृत्तेः अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धिहेतवो विशेषाः ते च–परमाणूनां जगद्विनाशारम्भकोटिभूतत्वात् मुक्तात्मनाम् मुक्तमनसां च संसारपर्यन्तरूपत्वाद् अन्तत्वं तेषु भवा–अन्त्या इत्युच्यन्ते तेषु स्फुटतरमालक्ष्यमाणत्वात्, वृत्तिस्त्वेषां सर्वस्मिन्नेव परमाण्वादौ नित्ये द्रव्ये विद्यत एव अत एव 'नित्यद्रव्यवृत्तयः' 'अन्त्याः' इत्युभयपदोपादानम्। अपरे तु उत्पाद-विनाशलक्षणान्तरहितेषु द्रव्येषु भवा अन्त्या इत्यस्य व्याख्यानं 'नित्यद्रव्यवृत्तयः' इति पदं वर्णयन्ति। व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्वं च विशेषाणां सद्भावप्रतिपादकं प्रमाणम्। यथा हि अस्मदादीनां गवादिषु आकृति-गुण-क्रियाऽवयव-संयोगनिमित्तोऽश्वादिभ्यो व्यावृत्तः प्रत्ययो दृष्टः–तद्यथा–'गौः' 'शुक्लः' 'शीघ्रगतिः' 'पीनककुदः' 'महाघण्टः' इति यथाक्रमम्–तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याऽऽकृति-गुण-क्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्म-मनस्सु च अन्यनिमित्ताभावे प्रत्याधारं यद्बलाद् 'विलक्षणोऽयम्' 'विलक्षणोऽयम्' इति प्रत्ययवृत्तिः देश-कालविप्रकर्षोपलब्धे च 'स एवायम्' इति प्रत्यभिज्ञानं च यतो भवति ते योगिनां विशेषप्रत्ययोन्नीतसत्त्वा अन्त्या विशेषाः सिद्धाः। योगिनां तु एते प्रत्यक्षत एव सिद्धाः।

एते च लक्षणासंभवादेव असन्तः। तथाहि–यद् एषां नित्यद्रव्यवृत्तित्वादिकं लक्षणमभिहितम्, तत् असंभवदोषदुष्टत्वाद् अलक्षणमेव। यतः न किञ्चिन्नित्यं द्रव्यमस्ति, तस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात्। तदभावे च तद्वृत्तित्वं लक्षणमेषां दूरोत्सारितमेव। यच्च योगिप्रभवविशेषप्रत्ययबलाद् एषां सत्त्वं साध्यते, तद् असंगतमेव; हेतोरनैकान्तिकत्वात्। तथाहि–परमाण्वादीनां स्वस्वभावव्यवस्थितेः स्वरूपं परस्परासंकीर्णरूपं वा भवेत्, संकीर्णस्वभावं वेति कल्पनाद्वयम्। आद्यकल्पनायां स्वत एव असंकीर्णपरमाण्वादिरूपोपलम्भात् योगिनां तेषु वैलक्षण्यप्रत्ययोत्पत्तिर्भविष्यतीति व्यर्थमपरविशेषपदार्थकल्पनम्। द्वितीयायामपि विशेषाख्यपदार्थान्तरसन्निधानेऽपि परस्परव्यतिमिश्रेषु परमाण्वादिषु तद्बलाद् व्यावृत्तप्रत्ययो योगिनां प्रवर्तमानः कथमभ्रान्तो भवेत् स्वरूपतोऽव्यावृत्तस्वरूपेषु

---

१ "नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः। ते खल्वत्यन्तव्यावृत्तिहेतुत्वाद् विशेषा एव"–प्रशस्त० कं० पृ० १३ पं० २०।
"विशेषा एव केचित्तु व्यावृत्तेरेव हेतवः। नित्यद्रव्यस्थिता येऽन्त्या विशेषा इति वर्णिताः" ॥
–तत्त्वसं० का० ७१२ पृ० २३६।

२ "अन्तेषु भवा अन्त्याः स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषाः। विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमानाः अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः"–इत्यादि–प्रशस्त० कं० पृ० ३२१ पं० १२–।

३ यद्वर्णाद् बृ० आ० हा० वि०।
"यद्बलात् परमाण्वादौ जायन्ते योगिनां धियः। विलक्षणोऽयमेतस्मादिति प्रत्येकमाश्रिताः" ॥
–तत्त्वसं० का० ७१३ पृ० २३७।

४ "ये पुनः कल्पिता एते विशेषा अन्त्यभाविनः। नित्यद्रव्यव्यपोहेन तेऽप्यसंभविताः क्षणाः ॥
अण्वाकाशदिगादीनामसंकीर्णं यदा स्थितम्। स्वरूपं च तदेतस्माद् वैलक्षण्योपलक्षणम् ॥
मिश्रीभूतापरात्मानो भवेयुर्यदि ते पुनः। नान्यभावेऽप्यविभ्रान्तं वैलक्षण्योपलक्षणम् ॥
कथं तेषु विशेषेषु वैलक्षण्योपलक्षणम्। स्वत एवेति चेन्नैवमण्वादावपि किं गतम्" ॥
–तत्त्वसं० का० ८१३–८१६ पृ० २६३।

अण्वादिषु व्यावृत्ताकारतया प्रवर्तमानस्य तस्य अतस्मिंस्तद्ग्रहणरूपतया भ्रान्तत्वाऽनतिक्रमात्? एवमेतत्प्रत्यययोगिनस्तेऽयोगिन एव स्युः। किञ्च, यदि विशेषाख्यपदार्थान्तरव्यतिरेकेण विलक्षणप्रत्ययोत्पत्तिर्न भवेत् कथं विशेषेषु तस्योत्पत्तिर्भवेत् तेषु अपरविशेषाभावात्? भावे वा अनवस्थाप्रसक्तेः 'नित्यद्रव्यवृत्तयः'[1] इति च अभ्युपगमक्षतिः स्यात् विशेषेषु अपि विशेषाणां वृत्तेः। अथ स्वत एव तेषु परस्परवैलक्षण्यमिति अपरविशेषमन्तरेणापि वैलक्षण्यबुद्धिविषयता तर्हि परमाण्वादीनामपि तत एव तद्बुद्धिप्रवृत्तिर्भविष्यतीति व्यर्थं विशेषाख्यपदार्थपरिकल्पनम्। अथ विशेषेषु अपरविशेषयोगाद् व्यावृत्तबुद्धिपरिकल्पनायामनवस्थादिबाधकोपपत्तेः उपचारात् तेषु तद्बुद्धिः, न; तथाभूतविज्ञानाधाराणां योगिनामयोगित्वप्रसक्तेः-तद्बुद्धेः 'विशेषा इव' इति स्खलद्रूपतया प्रवृत्तौ अनिर्णयबुद्ध्यधिकरणत्वात् तेषां 'विशेषा एव' इत्यस्खलद्रूपबुद्ध्यधिकरणत्वे अपरविशेषविकलानां विशेषाणां परमाण्वादीनामिव अविशेषरूपतया तद्बुद्धेर्विपर्यस्तरूपत्वेन तदाधाराणां कथं न अयोगित्वम्? यदि च बाधकोपपत्तेर्विशेषेषु व्यावृत्तबुद्धिर्न अपरविशेषनिबन्धना तर्हि परमाण्वादिष्वपि भिन्नविशेषनिबन्धना नासावभ्युपगन्तव्या, तेषां तत्र भिन्नाभिन्नव्यावृत्तरूपकरणानुपपत्तेर्बाधकस्य सद्भावात्। यदप्यत्र अध्ययनाद्युक्तं प्रतिसमाधानम्—"यथा श्वमांसा[3]शुच्यादीनां स्वत एव अशुचित्वम् अन्येषां च भावानां तद्योगात् तत् तथेहापि तादात्म्यात् विशेषेषु स्वत एव व्यावृत्तप्रत्ययहेतुत्वम् परमाण्वादिषु तु तद्योगात्। किञ्च, अतदात्मकेष्वपि अन्यनिमित्तः प्रत्ययो भवत्येव यथा प्रदीपात् घटादिषु न पुनः घटादिभ्यः प्रदीपे एवं विशेषेभ्य एव अण्वादौ विशिष्टप्रत्ययः न अण्वादिभ्य इत्यादिकम्"[2] [ ], तदपि असंगतम्; यतोऽशुचित्वं भावानां कल्पनासमारोपितम् न पारमार्थिकम् अव्यवस्थितेस्तस्य। तथाहि—यदेव कस्यचित् श्रोत्रियादेर्द्रव्यमशुचित्वेन प्रतिभाति तदेव कापालिकादेः शुचित्वेन। न च एकस्य परस्परविरुद्धानेकरूपसमावेशो युक्तः एकत्वहानिप्रसक्तेः।[4] भवतु वा पारमार्थिकं पदार्थानामशुचित्वं तथापि न दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः साम्यम् यतः स्वे(श्व)मांसाद्यशुचिद्रव्यसंसर्गाद् मोदकादयो भावाः प्रच्युतप्राक्तनशुचिस्वभावा अपर एव अशुचिरूपा उत्पद्यन्ते इति युक्तमेषामन्यसंसर्गजमशुचित्वम्[5] न तु परमाण्वादिषु एतत् संभवति तेषां नित्यत्वादेव प्राक्तनाऽविविक्तस्वरूपपरित्यागेन अपरविविक्तस्वरूपतयाऽनुपपत्तेः अत एव प्रदीपघटदृष्टान्तोऽपि असंगतः घटादीनां प्रदीपादिपदार्थान्तरोपाधिकस्य रूपान्तरस्य उत्पत्तेः प्रकृते च तदसंभवात् इति। अनुमानबाधितश्च विशेषसद्भावाभ्युपगमः। तथाहि-विवादाधिकरणेषु भावेषु विलक्षणप्रत्ययः तद्व्यतिरिक्तविशेषनिबन्धनो न भवति, व्यावृत्तप्रत्ययत्वात्, विशेषेषु व्यावृत्तप्रत्ययवत् इति। पूर्ववद् अस्य हेतोः प्रतिबन्धादिकं वाच्यम्। तन्न विशेषपदार्थसद्भावः तत्साधकप्रमाणाभावात् बाधकोपपत्तेश्चेति स्थितम्।

---

१ "नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या इति चाभ्युपगमहानिप्रसङ्गाच्च"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २६३ पं० २२।

२ "यथा गवाश्वमांसादीनां स्वत एवाशुचित्वं तद्योगादन्येषां तथेहापि तादात्म्यादन्त्यविशेषेषु स्वत एव प्रत्ययव्यावृत्तिः तद्योगात् परमाण्वादिष्विति"—प्रशस्त० कं० पृ० ३२२ पं० १३।

"'स्वत एव' इत्यादिना प्रशस्तमतेरत्रोत्तरमाशङ्कते—

स्वत एवाशुचित्वं हि श्वमांसादेर्यथा स्थितम्। तद्योगादपरेषां तु तथेहापि यदीष्यते ॥
यथा प्रकाशको दीपो घटादेश्च स्वतः स्थितः। तत्प्रकाशात्मतायां च नियतोऽयमिदं तथा ॥"

—तत्त्वसं० का० ८१५–८१८ पृ० २६४।

३ यथा स्वमांसा-मा० बा० भां० मां०। "स स्याद् यथा श्वमांसा"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २६४ पं० ६।

४ "ननु चाशुचिभावोऽयं सांवृतो न तु तात्त्विकः। तत् स्वयं परतो वाऽयं कथं नाम भविष्यति ॥
अथवा भाविकत्वेऽपि श्वमांसादिवशादिमे। जायन्तेऽशुचयो भावा नैव नित्या अजन्मतः ॥
प्रदीपादिप्रभावाच्च ज्ञानोत्पादस्वरूपताम्। लभन्ते क्षणिका ह्यर्थाः कलशाभरणादयः ॥
न विवादास्पदीभूतविशेषबलभाविनी। वैलक्षण्यमतिस्तेषु क्रमोत्पत्तेः सुखादिवत्" ॥

—तत्त्वसं० का० ८१९–८२२ पृ० २६४।

५ "तथाहि—श्वमांसादिकाशुचिद्रव्यसंपर्कादशादयो भावाः"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २६४ पं० २५।

[निरूपणपुरस्सरं समवायपदार्थस्य खण्डनम्]

समवायस्तु 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादीहबुद्धिविशेषाद् द्रव्यादिभ्यो अर्थान्तरत्वेन अभ्युपगम्यते "अयुतसिद्ध"—[प्रशस्त० कं० पृ० १४ तथा ३२४] इत्यादिलक्षणोपेतः । यथा हि सत्ता-द्रव्यत्वादीनामात्मानुरूपप्रत्ययकर्तृत्वात् स्वाधारेषु तेभ्यः परस्परतश्च अर्थान्तरभावस्तथा समवायस्यापि पञ्चसु पदार्थेषु 'इह तन्तुषु पटः' 'इह पटद्रव्ये गुण-कर्मणी' 'इह द्रव्य-गुण-कर्मसु सत्ता' 'इह द्रव्ये द्रव्यत्वम्' 'इह गुणे गुणत्वम्' 'इह कर्मणि कर्मत्वम्' 'इह द्रव्येषु अन्त्या विशेषाः' इत्यादिविशेषप्रत्ययदर्शनात् पञ्चभ्यः पदार्थेभ्य अर्थान्तरता तस्य अवसीयते । तथा च प्रयोगः-येषु यदाकारविलक्षणो यः प्रत्ययः तद्व्यतिरिक्तार्थान्तरनिबन्धनः सोऽभ्युपगन्तव्यः, यथा 'पुरुषे दण्डी' इति प्रत्ययः, तथा चायं पञ्चसु पदार्थेषु 'इह' प्रत्यय इति स्वभावहेतुप्रतिरूपकः प्रयोगः । निबन्धनमन्तरेण अस्य सद्भावे नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यादिति विपर्यये बाधकं प्रमाणम् । एवम् 'इह' बुद्धिलिङ्गावसेयः समवायः । अध्यक्षबुद्ध्यवसेयत्वमपि तस्य केचन मन्यन्ते । तथाहि-अक्षव्यापारे सति 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिप्रत्ययोत्पत्तेर्विशेषणभूतस्य तस्य 'इह' बुद्ध्यध्यक्षावसेयता । समवायश्च न संयोगवद् भिन्नः किन्तु तल्लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च सत्तावत् सर्वत्र एक एव, अकारणत्वाच्च तद्वदेव नित्यः । अकारणत्वं च तत्कारणानुपलब्धेः सिद्धम् ।

अत्र प्रतिविधीयते—'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिका बुद्धिः स्वसमयाहितवासनाप्रकल्पितैव न तु लोके तथोत्पद्यमानत्वेन सिद्धेति धर्म्यसिद्धेराश्रयासिद्धो हेतुः । तथाहि—यत्र नानात्वमुपलक्षितं भवेत् तत्र आधाराधेयभावे सति 'इह' बुद्धिरुत्पद्यमाना लोके संवेद्यते, यथा 'इह कुण्डे दधि' इति । न च नानात्वं तन्तु-पटयोरुपलब्धिगोचरः इति कथं तत्र 'इह' बुद्ध्युत्पादः ? न च स्वमतिप्रकल्पितस्य कार्यस्य कारणपर्यनुयोगः परं प्रति विधेयः । न चेच्छायाः पदार्थरूपानुरोधः तस्याः स्वातन्त्र्यवृत्तित्वात् ततोऽपि वस्तुव्यवस्थापने तेषामव्यवस्थाप्रसक्तेः भवत्परिकल्पितस्यापि वस्तुनोऽन्यथाऽन्यस्य प्रकल्पयितुं शक्यत्वात् न केवलम् 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिका बुद्धिर्लोके न संवेद्यते किन्तु विपर्ययेणैव तस्या उत्पादानुभवः । तथाहि—'वृक्षे शाखा' 'पर्वते शिला' इत्यादिका बुद्धिर्लोके उत्प-

---

१ "तन्तुष्वेव पटोऽमीषु वीरणेषु कटः पुनः । इत्यादीहमतेर्भावात् समवायोऽवगम्यते" ॥—तत्त्वसं० का० ८२३ पृ० २६५ ।

२ "अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः संबन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः"—प्रशस्त० कं० ।

३ "तस्याभावे स चेत् किं हि मतेरस्या निबन्धनम् । न विशेषमतिर्दृष्टा निमित्तान्तरवर्जिता ॥
इहबुद्ध्यविशेषाच्च योगभेदो विभिद्यते । सर्वस्मिन् भाववत्त्वेष एक एव प्रतीयते ॥
कारणानुपलब्धेश्च नित्यो भाववदेव सः । न ह्यस्य कारणं किंचित् प्रमाणेनोपलभ्यते" ॥
—तत्त्वसं० का० ८२४–८२६ पृ० २६५ ।

४ "एवं तावद् वैशेषिकाणां मतेन इहबुद्धिलिङ्गानुमेयः समवायः । नैयायिकमतेन तु इहबुद्धिप्रत्यक्षगम्य एव"
—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २६५ पं० २४— ।

५ "तदेतदिहविज्ञानं परेषामेव वर्तते । स्वसिद्धान्तानुरागेण न दृष्टं लौकिकं तु तत्" ॥
—तत्त्वसं० का० ८२७ पृ० २६६ ।

६ "नानात्वलक्षणे हि स्यादाधाराधेयभूतयोः । इदमत्रेति विज्ञानं कुण्डादौ श्रीफलादिवत् ॥
नैव तन्तुपटादीनां नानात्वेनोपलक्षणम् । विद्यते येन तेषु स्युरिदमत्रेति बुद्धयः" ॥
—तत्त्वसं० का० ८२८–२९ पृ० २६६ ।

७ "स्वेच्छया रचिते धाऽस्मिन् कल्पितेष्विव वस्तुषु । न कारणनियोगोऽयं परे प्रत्युपपद्यते" ॥
—तत्त्वसं० का० ८३० पृ० २६६ ।

८ "वृक्षे शाखाः शिलाश्चात्र इत्येषा लौकिकी मतिः । अगाख्यपरिशिष्टाङ्गनैरन्तर्योपलम्भनात् ॥
तौ पुनस्तास्विति ज्ञानं लोकातिक्रान्तमुच्यते । घटे रूपं क्रियादीति तादात्म्यं स्ववगच्छति ॥
रूपकुम्भादिशब्दा हि सर्वावस्थाभिधायकाः । तद्विशेषाभिधानाय तथा ते विनिवेशिताः ॥
तानाश्रितेषु विज्ञानं तेनाकारेण वर्तते । समवायाश्च भेदस्य सर्वेषामप्यनीक्षणात्" ॥
—तत्त्वसं० का० ८३१–८३४ पृ० २६७ ।

१ उत्पाद्य-वा० बा० मो० मा० ।

प्रमानत्वेन संवेद्यते। न च 'वृक्षे शाखा' इत्यादिकाऽपि मतिः समवायनिबन्धना किन्तु विवक्षितशाखाव्यतिरिक्तस्कन्धादिविशिष्टसमुदायनिबन्धनैव। एवम् 'इह घटे रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः' इत्यादेर्बुद्धेरपि घटस्वभावत्वं रूपादीनां निबन्धनत्वेन प्रतिपद्यते लोकः। तथाहि—घटे रूपादिकं घटस्वभावमेव एतद्रूपादिकं न पटादिस्वभावम् बहुषु रूपादिषु साधारणशक्तिविशेषप्रतिपादनाभिप्रायेण तदन्यरूपादिव्यवच्छेदेन घटादिश्रुतेः संकेतः रूपादिश्रुतेस्तु प्रत्येकमसाधारणचक्षुर्ज्ञानादिकार्योत्पादनशक्तिप्रकाशनाय समयकरणम् अत एव घटादिश्रुतिर्न रूपादीन् भेदान् आक्षिपति तत्सामानाधिकरण्याभावात्[1] रूपादिशब्दाश्च घट-पटादिसर्वावस्थरूपादिवाचका[2] इति रूपादिशब्देभ्यः केवलेभ्यो न तद्विशेषप्रतीतिस्तेन विशिष्टावस्थरूपादिप्रतिपादनाय 'घटे रूपादयः' इत्येवमुभयपदप्रयोगः क्रियते ततोऽपि घटात्मका रूपादयः पटात्मकरूपादिव्यवच्छेदेन प्रतीयन्ते घटशब्दस्तु सर्वावस्थं बलनादिस्वभावान्वितं घटं मूत इति केवलान्न विशेषप्रतीतिः 'रूपम्' इत्यादिशब्दप्रयोगे तु तदन्यव्यवच्छेदेन विशेषप्रतिपत्तिरुपजायते इति तत्प्रयोगः। तस्मात् संकेतवशात् 'इह घटे रूपादयः' इत्यादि ज्ञानं तथाभूतपदार्थनिबन्धनम् न समवायनिबन्धनम् यतो न घटरूपादिसमवायानां भेदः परस्परतः क्वचिदपि उपलब्धिगोचरः तत् कथमेतद् ज्ञानं समवायनिबन्धनं भवेत्? तेन परोपन्यस्तहेतोरनैकान्तिकत्वात् उक्तन्यायेन[3] प्रतिज्ञायाश्च अनुमानबाधितत्वान्न समवायसिद्धिः। यदपि 'इह बुद्ध्यविशेषात्' इत्याद्यभिधानम् तदपि असंगतम्, यतो यदि एकः समवायः स्यात् तदा 'तन्तुषु घटः' इत्यादिबुद्धेरपि उत्पत्तिः स्यात्। तथाहि—यत एव समवायात् 'कपालेषु घटः' इति प्रत्ययोत्पत्तिरभ्युपगता स एव समवायः तन्तुषु घटस्य इति किमिति तथाप्रत्ययोत्पत्तिर्न भवेत्?[4] अथ न तन्तुषु घट आश्रितः इति तत्र तथाप्रत्ययो नोत्पद्यते, असदेतत्; यतः 'कपालेषु घट आश्रितः' इति समवायबलाद् भवद्भिरभिधीयते; स च समवायः किं तन्तुषु नास्ति येन 'इह तन्तुषु घटोऽस्ति' इति प्रत्ययो न भवेत्[5] समवायस्य एकत्वेन सर्वत्र अविशेषात्? एवं च द्रव्य-गुण-कर्मणां द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादिविशेषणैः संबन्धस्य एकत्वात् पदार्थपञ्चकस्य विभागो न भवेत्। अथ समवायस्य एकत्वेऽपि न पदार्थसंकरः, आधाराधेयनियमात्। तथाहि—'द्रव्येष्वेव द्रव्यत्वम्' 'गुणेष्वेव गुणत्वम्' 'कर्मस्वेव कर्मत्वम्' इत्येवं द्रव्यत्वादीनां प्रतिनियताधारावच्छेदेन प्रतिपत्तेः सद्भावः,[6] न; एवं समवायस्य प्रतिपदार्थं भिन्नत्वोपपत्तेः। अथ 'इह' इति समवायनिमित्ताया बुद्धेरभिन्नाकारतया सर्वत्र अनुगमाद् एकः समवायः सर्वत्रावसीयते,[7] तदेकत्वेऽपि द्रव्यत्वादिनिमित्तानां प्रत्ययानां प्रतिनियताधारावच्छेदेना-[8]

१ "अतो घटादिश्रुती रूपादिभेदानाक्षिपतीति सामानाधिकरण्याभावाद् वैयधिकरण्येनैव तादात्म्यं प्रतिपाद्यते" —तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २६७ पं० १९।

२-सर्वावस्तुरू-बृ० भा० हा० वि०। "रूपादिशब्दा हि सर्वावस्थस्य रूपादेर्वाचकाः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २६७ पं० २१।

३ पृ० ७०० पं० १० टि० ३।

४ "यद्येकः समवायः स्यात् सर्वेष्वेव च वस्तुषु। कपालादिष्वपि ज्ञानं पटादीति प्रसज्यते॥
गजादिष्वपि गोत्वादि समस्तीत्युपपज्यते। ततो गवादिरूपत्वममीषां शाबलेयवत्॥
पटस्तन्तुषु योऽस्तीति समवायात् प्रतीयते। अस्ति चासौ कपालेषु तस्येति न तथेति किम्॥
नाश्रितः स कपाले चेन्ननु तन्तुष्वपीष्यते। आश्रितः समवायेन स कपालेऽपि नास्ति किम्?॥
तन्तोर्यः समवायो हि पटस्येत्यभिधीयते। स घटस्य कपालेषु तद्वीरस्त्ववधिर्भवेत्॥
एवं यश्च गजत्वादिसमवायो गजादिषु। गोत्वादिजातिभेदानां स एव स्वाश्रयेष्वपि"॥
—तत्त्वसं० का० ८३५-८४० पृ० २६८-२६९।

५ भवतु श्र-वा० बा० भां० मां०। "किमिति तथाप्रतीतिर्न भवेत्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २६८ पं० २०।

६ " 'आधार' इत्यादिनाऽत्र प्रशस्तमतेरुत्तरमाशङ्कते—
आधाराधेयनियमः स चैकत्वेऽपि विद्यते। द्रव्येष्विव हि तज्जातिकर्मस्वेव च कर्मता"॥
—तत्त्वसं० का० ८४१ पृ० २६९।

७ "इहेति समवायोत्थविज्ञानान्वयदर्शनात्। सर्वत्र समवायोऽयमेक एवेति गम्यते॥
द्रव्यत्वादिनिमित्तानां व्यतिरेकस्य दर्शनात्। धियां द्रव्यादिजातीनां नियमस्त्ववसीयते"॥
—तत्त्वसं० का० ८४२-८४३ पृ० २६९।

८-वच्छेदेनानुया-वा० बा०। "प्रतिनियताधारावच्छेदेनोत्पत्तेर्व्यतिरेकस्यानन्वयलक्षणस्य दर्शनात्" —तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २६९ पं० १६।

नतुयायितयोत्पत्तेर्द्रव्यत्वादीनां भेद इति न पदार्थपञ्चकस्य संकीर्णताप्रसक्तिः, यथा हि दधि-कुण्डयोः संयोगैकत्वेऽपि आधाराधारप्रतिनियम उपपत्तिमान् तथा समवायैकत्वेऽपि द्रव्यत्वादीनां व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदाधा(दाधा)राधेयप्रतिनियमोपपत्तेः असंकीर्णपदार्थव्यवस्था संगतैव प्रमाणनिबन्धनत्वात् प्रमेयव्यवस्थायाः इति, असदेतत्; यतो नास्माकं रूपत्वादीनां रूपादिषु आधेयनियमः सिद्धः भवतां पुनः समवायमेकं सर्वत्राऽभ्युपगच्छतां प्रतिनियमो दुर्घटः प्रसज्येत। तथाहि—'द्रव्ये एव द्रव्यत्वम्' इत्येवं नियमः समवायनिबन्धनो भवद्भिरभ्युपगम्यते, द्रव्यत्वादेः समवायस्य च गुणादिष्वपि एकस्यैव सद्भावात् कथं न पदार्थसंकरप्रसङ्गः द्रव्यत्वाद्याधेयत्वस्य अभिन्ननिमित्तत्वात्? अथ द्रव्ये द्रव्यत्वस्य यः समवायः न स एव गुणादिषु गुणत्वादेस्तर्हि संयोगवत् समवायस्य प्रत्याधारं भेदः स्यात्। अथ स्वरूपेण अभिन्नस्यापि समवायस्य द्रव्यत्वादिविशेषणभेदाद् भेद इति न पदार्थसंकरः; ननु द्रव्यत्वादेर्विशेषणस्य समवायाभेदे कुतो भेदः? यदि स्वत एव आधेयतानियमोऽपि तेषां स्वत एव भविष्यतीति समवायप्रकल्पना व्यर्था। अथ प्रतिनियताधारसंबन्धवशात् तेषां प्रतिनियतरूपता तर्हि 'समवायस्य विशेषणभेदाद् भिन्नता विशेषणानां च समवायात् सा' इत्यन्योन्यसंश्रयः। यदपि 'द्रव्यत्वादिनिमित्तानाम्' इत्याद्यभिहितम् तदपि असंबद्धम्; न हि अविकले निमित्ते सति कार्यस्य अनन्वयित्वं युक्तम् तस्य अतत्कार्यत्वप्रसक्तेः। एवं च बुद्धिव्यतिरेकासंभवात् तद्वशाद् आधाराधेयभावनियमव्यवस्था न युक्तिसंगता। न च 'द्रव्य एव द्रव्यत्वमाश्रितम्' इति व्यपदेशात् तन्नियमः समवायवशादेव आश्रितत्वादिव्यवस्थोपवर्णनात्, तस्य च सर्वत्राऽविशिष्टत्वात् तथाव्यपदेशस्यापि भवदभ्युपगमेनायोगात्। न च व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिप्रतिनियमाद् आधाराधेयप्रतिनियमः, व्यङ्ग्याद्यादिप्रतिनियमस्यापि समवायनिमित्तत्वात्। तथाहि—द्रव्यादीनां द्रव्यत्वादिसामान्यव्यञ्जकत्वं तत्समवायबलादेव परैरभ्युपगम्यते यतः द्रव्य एव द्रव्यत्वं समवेतम् ततस्तेनैव तद् व्यज्यते न पुनर्ज्ञानोत्पादनयोग्यस्वभावोत्पादनात् नित्ये सत्तादौ तदयोगात् स च समवायः सर्वत्राऽविशिष्ट इति न तद्बलाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिप्रतिनियम इति न ततोऽपि आधाराधेयप्रतिनियमः।

योऽपि दधि-कुण्डसंयोगो दृष्टान्तत्वेन उपात्तः सोऽपि असान् प्रत्यसिद्धः पूर्वमेव संयोगस्य

---

१ "तद्यथा कुण्ड-दध्नोश्च संयोगैक्येऽपि दृश्यते। आधाराधेयनियमस्तथेह नियमो मतः॥
व्यङ्ग्यव्यञ्जकसामर्थ्यभेदाद् द्रव्यादिजातिषु। समवायैकभावेऽपि नैव चेत् स विरुध्यते"॥
—तत्त्वसं० का० ८४४–८४५ पृ० २६९।

२ "व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदादाधाराधेयप्रतिनियम इति"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २६९ पं० २६।

३ "आधाराधेयनियमो नन्वेकत्वेऽस्य दुर्घटः। द्रव्यत्वं द्रव्य एवेष्टं कथं तत्समवायतः॥
तस्यासौ समवायश्च गुणादिष्वपि विद्यते। गुणजात्यादिसंबन्धादेक एव ह्ययं तयोः"॥
—तत्त्वसं० का० ८४६–८४७ पृ० २७०।

४ "अन्यथा गुणजात्यादिभिन्न एव भवेदयम्। योगिभेदात् प्रतिव्यक्ति यथा योगो विभिद्यते"॥
—तत्त्वसं० का० ८४८ पृ० २७०।

५ पृ० ७०१ पं० २५ टि० ७।

६ "द्रव्यत्वादिनिमित्तानां व्यतिरेको न युज्यते। धिया निमित्तसद्भावादतस्तन्नियमोऽपि न"॥
—तत्त्वसं० का० ८४९ पृ० २७०।

७ "तदाश्रितत्वस्थानादि तस्मादेवाभिधीयते। समवायादतश्चैतन्न युक्तं तन्नियामकम्"॥
—तत्त्वसं० का० ८५० पृ० २७०।

८ "व्यङ्ग्यव्यञ्जकसामर्थ्यभेदोऽपि समवायतः। नान्यतस्तु स नित्यानामुत्पादानुपपत्तितः॥
न हि दीपादिसद्भावाज्जायन्ते यादृशा इमे। विज्ञानजनने योग्या घटाद्या जातयस्तथा"॥
—तत्त्वसं० का० ८५१–८५२ पृ० २७१।

९ "कुण्ड-दध्नोश्च संयोग एकः पूर्वं निराकृतः। न चासौ नियतस्तस्माद् युज्यते (तिप्रसङ्गतः)"॥
—तत्त्वसं० का० ८५३ पृ० २७१।

प्रतिपिद्धत्वात्, तत्सद्भावेऽपि चायं पर्यनुयोगस्तत्रापि तुल्यः। तथाहि—यदि 'इह कुण्डे दधि' इति बुद्धिः संयोगनिमित्ता तस्य च एकत्वम् तदा निमित्तत्वाविशेपात् यथा 'कुण्डे दधि' इति प्रत्ययः तथा 'दध्नि कुण्डम्' इत्यपि स्यात् दधि-कुण्डसंयोगस्याविशेपे तज्जन्यप्रत्ययस्यापि अविशेपप्रसक्तेः अन्यथा तस्य तन्निमित्तत्वायोगात् अतिप्रसङ्गात्। किञ्च, यदि 'इह तन्तुपु पटः' इति प्रत्ययः तन्तु-पटव्यतिरिक्तनिमित्तमन्तरेण न स्यात् 'इह समवायिपु समवायः' इत्यपि प्रत्ययः अपरसमवाय-निमित्तमन्तरेण न स्यात्। अथापरसमवायप्रकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेस्तमन्तरेणापि अस्य प्रत्ययस्योत्पत्तिस्तर्हि अनेनैव हेतुरनैकान्तिकः स्यात् इति न 'इह' प्रत्ययात् समवायसिद्धिः। यच्च 'कारणानुपलब्धेर्नित्यः समवायः' इत्यभिधानम्, तदप्यसंगतम्, यतो[3] यद्यसौ नित्यः स्यात् तदा घटादीनामपि नित्यत्वं प्रसज्येत स्वाधारेपु तेषां सर्वदाऽवस्थानात्। तथाहि-एषां समवायवशात् स्वाधारेपु अवस्थानमिष्यते स च नित्य इति किमिति सदैते न संतिष्ठेरन्? अथ स्वारम्भकावयवविनाशाद् विभागाद् वा घटादीनां विनाशः सत्यपि समवायेऽवस्थितिहेतौ सहकारिकारणान्तराभावाद् विरोधिप्रत्ययोपनिपाताच्च ततो न घटादीनां नित्यत्वप्रसङ्ग इति, असदेतत्; यतः कपालादीनां घटाद्यारम्भकावयवानामपि स्वारम्भकावयवेपु समवायोऽभ्युपगम्यते तेषामपि स्वारम्भकावयवेपु यावत् परमाणुः तस्य च नित्यत्वाद् नान्यथात्वसद्भाव इति सर्वेषां सर्वदा स्वारम्भकावयवेपु समवायसद्भावात् कुतो विभागो विनाशो वा—येन कारणविभागादिसद्भावात् घटादेर्विनाशोत्पत्तिर्भवेत्—विरोधि-समवायसद्भावे विभागादेरनुत्पत्ते (?) यदि च स्वारम्भकावयवानां विनाशोऽभ्युपगम्येत तदा समवायस्यापि विनाशाभ्युपगमोऽवश्यंभावी संबन्धिनिवृत्तौ संबन्धनिवृत्तेरवश्यंभावित्वात् कुण्ड-बदर-संयोगिविनाशे तत्संयोगवत्, संबन्धिनां वा अविनाशप्रसङ्गः अविनष्टसंबन्धत्वात् अनुपरतसंयोग-द्रव्यद्वयवत् अन्यथा उभयेषामपि तत्संबद्धस्वभावहानिप्रसक्तिः स्यात्। अथ यदि निवृत्ताशेपसंबन्धित्वात् समवायविनाश इति प्रथमप्रयोगार्थस्तदा हेतोः पक्षैकदेशासिद्धताप्रसक्तिः न हि अशेषाणां संबन्धिनां प्रलयेऽपि विनाशः परमाण्वादीनां तत्रापि अवस्थानात्। अथ 'विनष्टकतिपयसंबन्धित्वात्' इति हेतुर्विवक्षितस्तदा अनैकान्तिकः यतः यदि नाम कश्चित् संबन्धी विनष्टस्तथापि अपरसंबन्धि-निबन्धना संबन्धस्य अवस्थितिर्युक्तैव। न च संयोगस्यापि कतिपयसंयोगिविनाशेऽपि अपरसंयोग्यवस्थानात् अनेनैव न्यायेन अवस्थानप्रसक्तिः, संयोगस्य प्रतिसंयोगि भिन्नत्वात् तद्विनाशे विनाशोपपत्तेः समवायस्य तु सर्वत्र एकत्वात् नैकसंबन्धिविनाशे विनाशः 'इह' प्रत्ययस्य अन्यत्रापि अविशेषात् तन्निबन्धनस्य समवायस्यापि अभेद इति नान्यसंबन्धिसद्भावे तद्विनाशप्रसक्तिः, असदेतत्; यतः

---

१ पृ० ६७९ पं० ९ तथा पृ० ११३ पं ४२-।

२ पृ० ७०० पं० १४।

३ "नित्यत्वेनास्य सर्वेऽपि नित्याः प्राप्ताः (घटादयः)। आधारेपु सदा तेषां समवायेन संस्थितेः" ॥
—तत्त्वसं० का० ८५४ पृ० २७१।

४ "स्वारम्भकविभागाद्वा यदि वा तद्विनाशतः। ते नश्यन्ति क्रियाद्या (दीव) योगादेरिति चेन्न तत् ॥
स्वाधारैस्समवायो हि तेषामपि सदा मतः। तेषां विनाशभावे तु नियताऽस्यापि नाश्रिता" ॥—
—तत्त्वसं० का० ८५५-८५६ पृ० २७१।

५ "संबन्धिनो निवृत्तौ हि संबन्धोऽस्तीति दुर्घटम्। न हि संयुक्तनाशेऽपि संयोगो नोपतिष्ठते ॥
यथा संयोगभावे तु संयुक्तानामवस्थितिः। समवायस्य सद्भावे तथा स्यात् समवायिनाम्" ॥
—तत्त्वसं० का० ८५६-८५८ पृ० २७२।

६ तत्संबन्धस्व-आ०। "अन्यथा तत्संबन्धस्वभावहानिरुभयेषामपि प्रसज्येत"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ०२७२ पं०१८।

७ "एकसंबन्धिनाशेऽपि समवायोऽवतिष्ठते। अन्यसंबन्धिसद्भावाद् योगो नो चेन्न भेदतः" ॥
—तत्त्वसं० का० ८५९ पृ० २७२।

८ "यद्येवं ये विनश्यन्ति घटाद्याः समवायिनः। तेषां वृत्त्यात्मको योऽसौ समवायः प्रकल्पितः ॥
स एव व्यवतिष्ठेत किं संबन्ध्यन्तरस्थितेः। अथान्य एव संयोगविभागबहुतादिवत् ॥
नाद्यस्तल्लक्षणस्यैव समवायस्य संस्थितौ। पूर्ववत् ते स्थिता एव प्राप्नुवन्ति घटादयः ॥
न तेषामनवस्थाने तेषा (वृत्त्यात्मकः क्वचित्)। सम(वायो)वतिष्ठेत संज्ञामात्रेण वा तथा।
अतः प्रागपि सद्भावान्न ते वृत्ताः स्युराश्रये। पश्चादिव तया ह्येषा वृत्तिस्तेषामवस्तुतः" ॥
—तत्त्वसं० का० ८६०-८६४ पृ० २७३।

किं य एव घटादयो विनाशमनुभवन्ति स्वकारणादिसमवायिनः तद्वृत्त्यात्मक एव समवायः अविनष्टे पटादिसंबन्ध्यन्तरेऽवतिष्ठते, आहोस्वित् अन्य एव असौ इति कल्पनाद्वयम् । यदि आद्यः पक्षस्तदा प्रागवस्थावद् अप्रच्युतवृत्तित्वाद् घटादयोऽवस्थिता एव स्युः तदनवस्थाने वा अनवस्थितवृत्तित्वात् समवायस्यापि विनाशः तस्य वृत्त्यात्मकत्वात् अन्यथा तस्य तद्रूपतानुपपत्तेः। स्वतन्त्रस्य च तदनुपकारिणस्तद्वृत्तिः 'समवायः' इति नामकरणे संज्ञामात्रमेव भवेत् न वस्तुतथाभावः तथा च अविनष्टसंबन्ध्यवस्थायामपि घटादयो न स्वाश्रयवृत्ताः समवायसद्भावबलात् सिध्येयुः विनष्टसमवायिकारणावस्थायामिव परमार्थतो वृत्त्यभावात् एकरूपवृत्तिसद्भावेऽपि तेषां विनाशाभ्युपगमात् न तन्निमित्ता स्वकारणेषु तेषां स्थितिर्भवेत् तत्सद्भावेऽपि कथं तद्भावनिमित्तस्तद्भाव इति स्वयमेव चिन्त्यम् । अथ द्वितीयः पक्षस्तदा संयोगादिवत् समवायबहुत्वप्राप्तेः 'समवायोऽभेदवान्' इत्यभ्युपगमव्याहतिः नित्यत्वे च समवायस्य अभ्युपगम्यमाने स्वकारणसमवायस्य स्वसत्तासमवायस्य च जन्मशब्दवाच्यस्य सर्वदा सद्भावात् कार्यजन्मनि क्वचिदपि कारणानां साफल्यं न स्यात् तथा च अध्यक्षादिविरोधः तन्त्वादेः पटादिकार्यजनकत्वेन अध्यक्षादिना प्रतीतेः "अन्यतरकर्मज· उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः" [वैशेषिकद० ७-२-९] "विभागोऽपि अन्यतरोभयकर्म-विभागज." [ ] "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्" [न्यायद० १-१-४] इत्यादिजन्मप्रतिपादकसूत्रसमूहविरोधश्च । समवायलक्षणस्य च जन्मनो नित्यतया क्रमासंभवाद् भावानां क्रमोत्पत्तिरुपलभ्यमाना विरुद्धा च स्यात् । समवायलक्षणजन्मनित्यतया च 'जगद् अनुपकार्योपकारकभूतम्' इति शास्त्रप्रणयनमनर्थकं भवेत् । बुद्धिजन्मनोऽपि समवायस्वभावतया क्रमाभावात् "युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" [न्यायद० १-१-१६] इत्यादि सर्वमपि विरुद्धं स्यात् इति नित्यसमवायप्रकल्पनमसमञ्जसमिति स्थितम् । तदेवमुलूकप्रतिपादितशास्त्रस्य मिथ्यात्वम् तदभिहितपदार्थानामप्रमाणत्वात् प्रमाणबाधितत्वाच्च । आचार्यस्तु एतत् सर्वं हृदि कृत्वा तन्मिथ्यात्वाऽविनाभूतं प्रतिपादितसकलन्यायव्यापकम् 'जं सविसय-' इत्यादिना गाथापश्चार्धेन हेतुमाह–**यस्मात् स्वविषयप्रधानताऽव्यवस्थिताऽन्योन्यनिरपेक्षो**भयनयाश्रितं तत् अन्योन्यनिरपेक्षनयाश्रितत्वस्य मिथ्यात्वादिनाऽविनाभूतत्वात् ॥ ४९ ॥

[अन्योन्यनिरपेक्षनयाश्रितानां वादानां मिथ्यात्वराहित्याभावप्रतिपादनम्]

अन्योन्यनिरपेक्षनयाश्रितस्य मिथ्यात्वाऽविनाभूतत्वमेव दर्शयन्नाह–

जे संतवायदोसे सक्कोलूया भणंति संखाणं ।
संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥ ५० ॥

यान् एकान्तसद्वादपक्षे द्रव्यास्तिकाभ्युपगतपदार्थाभ्युपगमे **शाक्यौलूक्या दोषान् वदन्ति साङ्ख्यानां** क्रिया-गुणव्यपदेशोपलब्ध्यादिप्रसङ्गादिलक्षणान् **ते सर्वेऽपि तेषां सत्या** इत्येवं संबन्ध· कार्यः । ते च दोषाः एवं सत्याः स्युः यद्यन्यनिरपेक्षनयाभ्युपगतपदार्थप्रतिपादकं तत्

१–त् न तत्स–वा० बा० ।

२ "क्षयान्य एव सयोगविभागबहुतादिवत् । संबन्ध्यन्तरसद्भावे समवायोऽवतिष्ठते ॥
संयोगादिवदेवं हि नन्वस्य बहुता भवेत् । एवमाद्यस्य सद्भावे बहु स्यादसमञ्जसम्" ॥

—तत्त्वस० का० ८६५–८६६ पृ० २७३–२७४ ।

३–कर्मसं–बृ० भां० मां० । "अप्राप्तयो प्राप्ति· संयोग· स च त्रिविध —अन्यतरकर्मज उभयकर्मज संयोगजश्च"—प्रशस्त० कं० पृ० १३९ पं० १८ ।—तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २७४ पं० ९ ।

४ "एतेन विभागो व्याख्यात·"—वैशेषिकद० ७–२–१० ।

"प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभाग स च त्रिविध —अन्यतरकर्मज उभयकर्मज विभागजश्च"– कं० पृ० १५१ पं० ५ ।

५ पृ० ६५६ गा० ४९ ।

शास्त्रं मिथ्या स्यात् नान्यथा प्रागपि कार्यावस्थात एकान्तेन तत्सत्त्वनिबन्धनत्वात् तेषाम् अन्यथा कथंचित् सत्त्वे अनेकान्तवादापत्तेर्दोषाभाव एव स्यात्। **साङ्ख्या अपि असत्कार्यवाददोषान् असदकरणादीन् यान्** वदन्ति ते सर्वे तेषां सत्या एव एकान्ताऽसति कारणव्यापारासंभवात् अन्यथा शशशृङ्गादेरपि कारणव्यापारादुत्पत्तिः स्यात्।

[न्याय-वैशेषिकसम्मतस्यासत्कार्यरूपस्यासद्वादस्य सदोषत्वप्रदर्शनम्]

अथ शशशृङ्गस्य न कारणावस्थायामसत्त्वादनुत्पत्तिः *किन्तु कारणाभावात् घटादेस्तु मृत्पिण्डावस्थायामसतोऽपि* कारणसद्भावादुत्पत्तिः। ननु कुतः शशशृङ्गस्य कारणाभावः? अत्यन्ताभावरूपत्वात् तस्येति चेत् तदेव कुतः? कारणाभावात् इति चेत् सोऽयमितरेतराश्रयदोषः। घटादीनामपि च मृत्पिण्डावस्थायामसत्त्वे कुतः कारणसद्भावः? प्रागसत्त्वादेव तत्र कारणसद्भावः सति कारणव्यापारासंभवादिति चेत्, असदेतत्; घटस्य मृत्पिण्डावस्थायां सत्त्वे प्रागनवस्थायोगाद-सत्त्वेऽपि शशशृङ्गस्येव तदनुपपत्तेः। अथास्य उत्पत्तिदर्शनात् प्रागभावः न शशशृङ्गस्य, न, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि—यावदस्य प्रागभावित्वं न तावदुत्पत्तिसिद्धिः यावच्च नोत्पत्तिसिद्धिर्न तावत् प्रागभावित्वसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। अथ कारणस्य कार्यशून्यता प्रागभावः प्रागेव सिद्धः, असदेतत्; अकारणस्यापि कार्यशून्यतोपलम्भात् तत्संबन्धाद् घटस्य तत्कार्यताप्रसक्तेः। तथाहि—यस्य प्रागभावित्वं तस्य कार्यता तच्च कार्यशून्यं पदार्थान्तरं कारकाभिमताद् अन्यदपि च तत्प्रागभावस्वभावं प्राप्तम् तत्संबन्धेन च घटादेः शशशृङ्गादिव्यवच्छेदेन कार्यता अभ्युपगतेति सूत्रपिण्डकार्यताऽपि घटस्यैवं भवेत्। न च तदन्वय-व्यतिरेकाभावान्न तत्कार्यता, अन्वय-व्यतिरेकाभावस्य तत्राऽसत्त्वनिबन्धनत्वात्। न च प्रागभावो नाम प्रत्यक्षादिप्रमाणग्राह्यः, मृत्पिण्डस्वरूपमात्रस्यैव तत्र प्रतिभासनात्। न च कारणस्वरूपमेव प्रागभावः, निर्विशेषणस्य स्वरूपमात्रस्य कार्येऽपि सद्भावात् तस्यापि प्रागभावरूपताप्रसक्तेः। अथ कार्यान्तरापेक्षया तस्यापि प्रागभावरूपता कारणस्वभावाऽभ्युपगम्यत एव, न; कारणाभिमतापेक्षयाऽपि तद्रूपताप्रसक्तेः। तथाप्रतीत्यभावान्न तद्रूपतेति चेत्, न, प्रतीतिमात्रादनपेक्षितवस्तुस्वरूपाद् वस्तुव्यवस्थाऽयोगात्। ततो मृत्पिण्डादिरूपतया वस्तु गृह्यतेऽध्यक्षादिना न पुनस्तद्व्यतिरिक्तकारणादिरूपतया तस्यास्तत्राऽप्रतिभासनात्, प्रतिभासनेऽपि विशिष्टकार्यापेक्षया कारणत्वस्य प्रतिपत्तौ कार्यप्रतिभासमन्तरेण तत्कारणत्वस्याऽप्रतीतेरसतस्तदानीं कार्यस्याप्रतिभासनात् प्रत्यक्षस्य असदर्थग्राहकत्वेन भ्रान्तताप्रसक्तेः तदा तत्कार्यस्य सत्त्वप्रसक्तिः स्यादिति कथमसति कारणव्यापारः प्रतीयेत? तन्न असतः कार्यत्वं युक्तम्॥

[बौद्धसम्मतस्यासत्कारणरूपस्यासद्वादस्य सदोषत्वदर्शनम्]

नापि असत्कारणं कार्यम् तदानीमसति कारणे तस्य तत्कृतत्वायोगात् क्षणमात्रावस्थायिनः कारणस्य स्वभावमात्रव्यवस्थितेरन्यत्र व्यापारायोगात्। अथ तदनन्तरं कार्यस्य भावात् प्राग्भावित्वमात्रमेव कारणस्य व्यापारः, असदेतत्; समस्तभावक्षणानन्तरं विवक्षितकार्यस्य सद्भावात् सर्वेषां तत्पूर्वकालभावित्वस्य भावात् तत्कारणताप्रसक्तेः। अथ सर्वभावक्षणाभावेऽपि तद्भाव इति न तस्य तत्कार्यता, न; क्षणिकेषु भावेषु विवक्षितक्षणाभाव एव सर्वत्र विवादाध्यासितकार्यसद्भावान्न तदपेक्षयाऽपि तस्य कार्यता भवेत्। न च क्षणिकस्य कार्यस्य तदभावेऽपि पुनर्भवनसंभवः तस्य तदैव भावाद् अन्यदा कदाचिदप्यभावात्। न च विशिष्टभावक्षणधर्मानुविधानात् तस्य तत्कार्यताव्यवस्था, *सर्वथा तद्धर्मानुविधाने तस्य कारणरूपतापत्तेस्तत्प्राक्कालभावितया तत्कार्यताव्यतिक्रमात्*, कथंचित् तद्धर्मानुविधाने अनेकान्तवादापत्तेः 'असत्कारणं कार्यम्' इत्यभ्युपगमव्याघातात्। अथ

---

१ पृ० २८२ पं० १८। २ उत्पत्तिस्थितिज्ञप्तीनां मध्याद् ज्ञप्तिसापेक्षस्यैव इतरेतराश्रयस्यात्र सुघटत्वेन 'यावदस्य न प्रागभावित्वम्' इत्येव पाठो ज्यायान् भाति। ३-पि तत्प्रा-आ०।

४ *"यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत्। मोपादाननियामो भून्माऽऽश्वासः कार्यजन्मनि"* ॥—आप्तमी० का० ४२ पृ० २४। कारिकैषाऽत्र साष्टशतिका सवृत्तिका चावलोकव्या।

५ प्रागभा-वा० बा० विना।

संतानापेक्षः कार्यकारणभाव इत्ययमदोषः, न; संतानस्य पूर्वापरक्षणव्यतिरेकेणाभावात् भावे वा तस्यैव कार्यकारणरूपस्य अर्थक्रियासामर्थ्यात् सत्त्वं स्यात् न क्षणानामर्थक्रियासामर्थ्यविकलतया भवेत् । अथ तत्संबन्धिनः संतानस्य कार्यकारणत्वे तेषामपि कार्यकारणभावः, न; भिन्नयोः कार्यकारणभावादपरस्य संबन्धस्य अभावात् संतानस्य च सर्वजगत्क्षणानन्तरभावित्वेन सर्वसंतानताप्रसक्तिः स्यात् । किञ्च, तस्यापि नित्यत्वे क्षणकार्यत्वे च सत्कार्यवादप्रसक्तिः, क्षणिकत्वे च अन्वयाऽप्रसिद्धेस्तस्य तत्कार्यताऽप्रसिद्धिः, व्यतिरेकश्च कार्यतानिबन्धनं क्षणिकपक्षे न संभवतीति प्रतिपादितमेव । न च अत्रापि अपरसंतानप्रकल्पनया कार्यकारणभावप्रकल्पनं युक्तम् अनवस्थाप्रसक्तेः । तथाहि–संतानस्यापि कार्यताऽभ्युपगमे क्षणिकत्वान्न कार्यरूपता अतः संतानान्तरमत्रापि कार्यतानिबन्धनमभ्युपगन्तव्यम् तत्रापि च क्षणिकत्वे कार्यताऽप्रसिद्धेस्तन्निबन्धनमपरं संतानान्तरमभ्युपगमनीयमित्यनवस्था परिस्फुटैव । किञ्च, क्षणिकभावाभ्युपगमवादिनो यदि भिन्नकार्योदयाद्धेतोः सत्त्वमभिमतं तदा तत्कार्यस्यापि अपरकार्योदयात् सत्त्वसिद्धिरित्यनवस्थाप्रसक्तेर्न क्वचित् सत्त्वव्यवस्था स्यात् इति कुतस्तद्व्यवच्छेदेन 'असत् कार्यम्' इति व्यपदेशः । अथ ज्ञानलक्षणकार्यसद्भावाद्धेतोः सत्त्वव्यवस्थितिः, ननु ज्ञानस्यापि कथं ज्ञेयसत्ताव्यवस्थापकत्वम्? ज्ञेयकार्यत्वात् इति चेत्, ननु किं तेनैव ज्ञानेन ज्ञेयकार्यता स्वात्मनः प्रतीयते, उत ज्ञानान्तरेण? न तावत् तेनैव, तस्य प्रागसत्त्वाभ्युपगमादप्रवृत्तेः प्रवृत्तौ वा तत्कार्यतावगतिः पुनः प्राक् प्रवर्तने संगच्छते तत्रापि पुनः प्राक् प्रवृत्ताविति अनवस्थाप्रसक्तेः कुतस्तस्य तत्कार्यतावगतिः? अथ समानकालत्वेऽपि ज्ञानस्य ज्ञेयकार्यता, ननु एवमविशेषाद् ज्ञेयस्यापि ज्ञानकार्यतावगतिः स्यादिति तदपि तद्व्यवस्थापकं प्रसज्येत । न च समानकालयोः स्तम्भ-कुम्भयोः कार्यकारणतोपलब्धेति प्रकृतेऽपि सा न स्यात् । अथ केवलस्यापि कुम्भस्य दृष्टेरकार्यता, ज्ञानस्यापि केवलस्य दृष्टेरकार्यताप्रसक्तिः । तस्य ततोऽन्यत्वान्न व्यभिचार इति चेत्, ननु कुम्भोऽपि कुतोऽन्यः स न भवेत्? प्रत्यभिज्ञानान्नान्य इति चेत्, एतद् ज्ञानेऽपि समानम्, नित्यता च कुम्भस्यैवं भवेदिति कुतोऽसत्कार्यवादः? न च प्रत्यभिज्ञानं भवतः प्रमाणम् पूर्वापररूपाधिकरणस्यैकतयाऽप्रतीतेः न हि पूर्वापरप्रत्ययाभ्यामपरपूर्वरूपताग्रहः नापि एकप्रत्ययेन पूर्वापररूपद्वयस्य क्रमेण ग्रहः एकस्य अक्रमस्य क्रमवद्रूपग्राहकतयाऽप्रवृत्तेः । न च स्मरणस्य द्वयोर्वृत्तिः संभवति । न चास्य प्रमाणता । न च पूर्वापरप्रत्यययोः परस्परपरिहारेण वृत्तौ तत उत्पद्यमानं स्मरणमेकत्वस्य वेदकं युक्तम् अगृहीतग्राहितया अस्मरणरूपताप्रसक्तेः । न च आत्मापि एकत्वमवैति प्रत्यक्षादिप्रमाणवशेन अर्थावेदकत्वात् तस्य चैकत्वे अप्रवृत्तेः । न च प्रमाणनिरपेक्ष एव आत्मा एकत्वग्राहकः स्वाप-मद-मूर्च्छाद्यवस्थायामपि तस्य तद्ग्राहकत्वोपपत्तेः । न च तस्यापि एकत्वं कुतश्चित् प्रमाणात् प्रसिद्धम् तद्ग्राहकत्वेन तस्याऽप्रतीतेः । न च बौद्धस्य आत्मा अन्यद् वा वस्तु नित्यमस्ति "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः" [ ] इति वचनात् । तन्न तेनैव आत्मनः प्रमेयकार्यताऽवगतिः । नापि अन्येन तस्यापि स्वप्रमेयकार्यावगतौ प्रागवृत्तितयाऽसामर्थ्यात् । तन्न ज्ञानलक्षणमपि कार्यं हेतोः सत्तां व्यवस्थापयितुं समर्थं क्षणिकैकान्तवादे । अध्यक्षस्य यथोक्तन्यायेन

लव्यापिनः कचित् कार्यव्यापारविरहिणः सामर्थ्यमवगन्तुं शक्यम्। अथ सर्वदेशाव्यापिनस्तस्य तत्र सामर्थ्यं भविष्यति, तद् असत्; यतः सर्वदेशाव्याप्तिस्तस्य तथाप्रतीतेर्यव्यसीयते सर्वकालाव्याप्तिरपि तस्य तत एव अभ्युपगमनीया स्यात्। अभ्युपगम्यत एवेति चेत्, नन्वेवं कतिपयदेशकालव्याप्तिरप्यप्रतिपत्तेरेव अनुपपन्नेति निरंशैकक्षणरूपता भावानां समायाता। न च तदेकान्तपक्षेऽपि कार्यजनकता, प्राक् प्रतिक्षिप्तत्वात्। न चैकान्तनित्यव्यापकत्वपक्षे प्रमाणप्रवृत्तिः इत्यसकृत् प्रतिपादितम्। न चासति कार्ये निर्विषयत्वात् कारणव्यापारासंभवात् सत्येव तत्र तेषां व्यापारः, यतो न दृष्ट्वा श्रुत्वा ज्ञात्वा वा हेतूनां कार्ये व्यापारः तेषां जडत्वेन तदसंभवात्। न चादृश्यमानाऽजडेश्वरादिहेतुकमकृष्टोत्पत्तिकं भूरुहादि संभवतीति प्राक् प्रतिपादितम्। न चाऽसतः कार्यस्य विज्ञानं न ग्राहकम् असत्यप्यक्षादिबुद्धेः प्रवृत्तेः अन्यथा कथं कार्यार्थप्रतिपादिका चोदना भवेत्? किञ्च, यदि सत्येव कार्ये कारणव्यापारस्तदा उत्पन्नेऽपि घटादिकार्ये कारणव्यापारादनवरतं तदुत्पत्तिप्रसक्तिः तत्सत्त्वाविशेषात्। अथाभिव्यक्तत्वान्नोत्पन्ने पुनरुत्पत्तिः उत्पत्तेरभिव्यक्तिस्वरूपत्वात् तस्याश्च प्रथमकारणव्यापारादेव निर्वृत्तत्वात् ननु अभिव्यक्तिरपि यदि विद्यमानैव उत्पद्यते उत्पन्नाऽपि पुनः पुनरुत्पद्येत। अथ अविद्यमाना तदाऽसदुत्पत्तिप्रसक्तिः। न चाभिव्यक्तावप्यसत्यां कार्ये इव कारणव्यापारोऽभ्युपगन्तुं युक्तः स्वसिद्धान्तप्रकोपप्रसङ्गात्।

[सत्कारणककार्यरूपस्य सद्वादस्य सदोषत्वप्रकटनम्]

अथ सतः कारणाद् कार्यमिति सत्कार्यवादः असतो हेतुत्वायोगात् तथाभ्युपगमे वा शशशृङ्गादेरपि पदार्थोत्पत्तिप्रसक्तिः। अत्यन्ताभाव-प्रागभावयोः असत्त्वेनाविशेषात् न च प्राग्भावी आसीदिति हेतुर्नात्यन्ताभावीति वक्तव्यम् यतो यदा आसीत् तदा न हेतुः अन्यदा हेतुरिति प्रसक्तेः। ततश्च इदं प्रसक्तम्—असन् हेतुः संश्च अहेतुरिति। ततः सन्नेव हेतुः तस्य कार्ये व्यापारात् नासन् तत्र तदयोगात्, एतदप्यसत्; यतः सतोऽपि कारणस्य प्राक्तनरूपापरित्यागान्न कार्यं प्रति हेतुता प्राक्तनावस्थावत्। अथ तदा व्यापारयोगाद् हेतुता, असदेतत्; व्यापारेण कार्यं प्रति तस्य हेतुत्वे 'सोऽपि व्यापारः कुतस्तस्य?' इति पर्यनुयोगसंभवाद् व्यापारवत्पदार्थाच्चेत्, ननु तत्रापि व्यापारो यद्यपरव्यापारात् तदा व्यापारपरंपराव्यवहितत्वात् कारणस्य न कदाचित् कार्योत्पादने प्रवृत्तिः स्यात् अनन्तव्यापारपरंपरापर्यवसानं यावत् कस्यचिदनवस्थानादसतः कारणात् कार्योत्पत्तिश्च स्यात्। अथ कारणस्वरूपमेव व्यापारः तत्काल एव च कार्यम् तेन नानवस्था, नापि असतः कारणात् कार्योत्पत्तिः, नन्वेवं कारणसमानकालं कार्यं स्यात् तथा च सव्येतरगोविषाणवत् कुतः कार्यकारणभावः? अथ कार्यभावकाले कारणस्य न सद्भावस्तर्हि चिरतरनष्टादिव तत्कालध्वंसिनोऽपि कुतः कार्यसद्भावः? कार्योत्पत्तिकाले तदनन्तरभाविनः सत्ता चेत्, तर्हि कार्योत्पत्तिः कार्याच्च भिन्नेति कार्यकारणयोः समानकालतैव स्यात् तथा च कुतः कार्यकारणभावः? न च 'सतः कारणात् कार्योत्पत्तिः' इत्यभ्युपगमवादिनः कार्योत्पत्तिकाले कारणस्यासत्त्वं यौद्धस्येव सिद्धम्। अविचलितरूपस्य च तस्य सद्भावे तदापि न कार्यवत्ता विकलकारणत्वात् प्राग्वत्, तदा तद्वत्त्वे वा पूर्वमपि तद्वत्त्वं स्यात् अविकलकारणत्वात् तदवस्थावत्। तन्नैकान्तसत्कार्यवादः असत्कार्यवादो वा युक्तः अनेकदोषदुष्टत्वात्।

[कथंचित् सदसद्वादस्य निर्दोषत्वसमर्थनम्]

अथ एकान्तेन सदसतोरजन्यत्वात् अजनकत्वाच्च कार्यकारणभावाभावात् सर्वशून्यतैव। तदुक्तम् 'अशक्तं सर्वमिति चेत्' इत्यादि, न; कथंचित् सदसतोर्जन्यत्वात् जनकत्वाच्च। न चैकस्य सद्सद्रूपत्वं विरुद्धम्, कथंचिद् भिन्ननिमित्तापेक्षस्य सदसत्त्वस्य एकदा एकत्र अबाधिताध्यक्षतः प्रतिपत्तेः। न च अध्यक्षप्रतिपन्ने वस्तुनि विरोधः अन्यथा एकचित्रपटज्ञाने चित्ररूपतायाः चित्रपटे च वैचित्र्यैकरूपस्य विरोधः स्यात्। तथा च 'शुक्लाद्यनेकप्रकारं पृथिव्या रूपम्' इति वैशेषिकस्य विरुद्धाभिधानं भवेत्।

---

१ पृ० १०२। २-गादथा-बृ० आ० हा० वि०। ३ प्रागभा-पा० बा० मां० मां०। ४-नन्तरव्या-पा० बा० मां० मां०। 'नन्तरव्या-' इत्यत्र '२' इत्यस्य द्वित्वसंख्यासूचकाङ्कस्य रेफतया भ्रान्तेः पुस्तकलेखकैः-'नन्तरव्या'—इति लिपिकरणेन-'नन्तरव्या'-इति पाठान्तरं जातमिति प्रतिभाति। ततश्च 'अनन्तानन्तव्यापार'-इत्येव पाठः सम्यक् स्यात्। ५-णस्य स-वा० बा०।

[प्रसङ्गात् चित्ररूपचर्चा]

अथ तदवयवानां शुक्लाद्यनेकरूपयोगिता अवयविनस्तु एकमेव रूपम्, न; तदवयवानामपि अवयवित्वेनानेकप्रकारैकरूपयोगित्वविरोधात्। अथ प्रत्येकमवयवेषु शुक्लादिकमेकैकं रूपम् तर्हि तदवयवादिष्वपि एकैकमेव रूपं यावत् परमाणव इति विभिन्नघट-पटादिपदार्थेष्विव चित्रपटेऽपि 'नील पीत-शुक्लरूपा एते भावाः' इति प्रतिपत्तिः स्यात् न पुनः 'चित्ररूपः पटः' इति, अवयवाऽवयविनोरन्यत्वात् अवयवानामनेकरूपा(प)संबन्धित्वेऽपि अवयविनस्तथाभावाभावात्। अथावयविनोऽपि विभिन्नानेकरूपसंबन्धित्वमभ्युपगम्यते तथापि चित्रैकरूपप्रतिभासानुपपत्तिः अनेकरूपसंबन्धित्वस्यैव तत्र सद्भावात् सूत्रव्याघातश्चैवं स्यात् "अविभुनि द्रव्ये समानेन्द्रियग्राह्याणां विशेषगुणानामसंभवात्" [ ] इति सूत्रेणाभिधानात् अव्यापके पटादिद्रव्ये एकेन्द्रियग्राह्याणां शुक्लादीनां विशेषगुणानामसंभवोऽनेन सूत्रेण प्रतिपादितः स च व्याहन्येत। किञ्च, शुक्लादीनामेकत्र ₹ापने ₹ा। सद्भावाभ्युपगमे व्याप्यवृत्तित्वम्, अव्याप्यवृत्तित्वं वा? अव्याप्यवृत्तित्वे "रूपाणामाश्रयव्यापित्वम् [प्रशस्त० कं० पृ० १०३ पं० ८] इति विरुध्येत। आश्रयव्यापित्वेऽप्येकावयवसहितेऽपि उपलभ्यमाने अपरावयवाऽनुपलब्धावपि अनेकरूपप्रतिपत्तिः स्यात् सर्वरूपाणामाश्रयव्यापित्वात्। अथ शुक्लाद्यनेकाकारं चित्रमेकं तद्रूपं यथा शुक्लादिको रूपविशेषः कथं तर्हि अनेकाकारमेकं रूपम् विरुद्धं भवेत् चित्रैकरूपाभ्युपगमस्य चित्रतरत्वात्। अथ चित्रैकरूपस्य तस्य प्रत्यक्षेण प्रतीतेर्न ... धस्तर्हि सदसद्रूपैकरूपतया कार्यकारणरूपस्य वस्तुनः प्रतिपत्तौ विरोधः कथं भवेत्? न च चित्रपटादावपास्तशुक्लादिविशेष रूपमात्रं तदुपलम्भान्यथानुपपत्त्याऽस्तीति अभ्युपगन्तव्यम् 'चित्ररूपः पटः' इति प्रतिभासाभावप्रसक्तेः। अथ परस्परविरुद्धानां शुक्लादिरूपाणां चित्रैकरूपानारम्भकत्वात् शुक्लादीनां रूपाणां समानरूपारम्भकत्वोपलम्भाच्च तत्र चित्रैकरूपोत्पत्तिः। नन्वयमपरो

तदनेकत्वेऽपि तस्यैकत्वे कथं न अनेकाकारमेकं स्यात्? अथ तत्प्रतिपत्तौ नावयविप्रतिपत्तिस्तर्हि निराधारस्य रूपस्य प्रतिपत्तौ गुणरूपता विशीर्येत द्रव्याश्रयादिलक्षणयोगित्वात् तस्य। न च तद्रूपता(ताऽ)प्रतिपत्तौ तल्लक्षणयोगिता तस्य अवगन्तुं शक्या प्रमेयव्यवस्थायाः प्रमाणाधीनत्वात्। अणुपरिमाणयोगित्वे च अल्पतरपटादिरूपस्य परमाणोरिव द्रव्यरूपताप्रसक्तिः तस्यैव तद्योगित्वात् अत एव 'एकावयवसहितस्य पटस्योपलम्भात् एकरूपोपलम्भेऽपि आश्रयाव्यापितया शेषरूपाणामनुपलम्भाच्चित्रप्रतिभासाभावः' इति यदुक्तम् तदपि निरस्तम्, एकरूपोपाध्युपकाराङ्गशक्त्यभिन्नस्य पटद्रव्यस्य निश्चयात्मना अध्यक्षेण ग्रहणे अशेषरूपोपाध्युपकारकशक्त्यभिन्नात्मनस्तस्य एकरूपतया ग्रहणात् उपकार्यग्रहणमन्तरेण उपकारकत्वग्रहणस्यासंभवात् शक्तीनां ततो भेदे संबन्धासिद्धेरपरोपकारकशक्तिप्रकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः कथं नाशेषोपकार्यरूपप्रतिभासाच्चित्रप्रतिभासप्रसक्तिः? एतेन 'तन्तूनां नीलाद्यनेकरूपसंबन्धित्वात् पटेऽपि अनेकरूपारम्भकत्वे न किञ्चिद् बाधकं प्रमाणं कारणगुणपूर्वकक्रमेण तथाविधस्य रूपस्य उत्पादात्' इत्यपि प्रत्युक्तम् एकावयवप्रतिभासे चित्रप्रतिभासोत्पत्तिप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वात्। यदपि 'भवतु वा एकं पटे चित्रं रूपम् नीलादिरूपैरेकरूपारम्भात् यथा हि शुक्लादिर्विशेषो रूपस्य तथा चित्रमपि रूपविशेष एव चित्रशब्दवाच्यः' इति, तदपि असंगतमेव; अनेकाकारस्य एकत्वे चित्रैकशब्दवाच्यत्वे वाभ्युपगम्यमाने सदसदनेकाकारानुगतस्य एकस्य कारणादिशब्दवाच्यत्वेनाभ्युपगमाविरोधात्। यथा च बहूनां तन्त्वादिगतनीलादिरूपाणां पटगतैकचित्ररूपारम्भकत्वं दृष्टत्वादविरुद्धं तथानेकाकारस्य एकरूपत्वं वस्तुनो दृष्टत्वादेवाविरुद्धमभ्युपगन्तव्यम् अत एव एकानेकरूपत्वात् चित्ररूपस्य एकावयवसहितेऽवयविनि उपलभ्यमाने शेषावयवावरणे चित्रप्रतिभासाभाव उपपत्तिमान्। सर्वथा त्वेकरूपत्वे तत्रापि चित्रप्रतिभासः स्यात् अवयविव्याप्त्या तद्रूपस्य वृत्तेः। न चावयवनानारूपोपलम्भसहकारीन्द्रियमवयविनि चित्रप्रतिभासं जनयतीति तत्र सहकार्यभावात् चित्रप्रतिभासानुत्पत्तिरिति वाच्यम्, अवयविनोऽप्यनुपलब्धिप्रसङ्गात् न हि चाक्षुषप्रतिपत्त्याऽगृह्यमाणरूपस्यावयविनो वायोरिव ग्रहणं दृष्टम्। न च चित्ररूपव्यतिरेकेणापरं तत्र रूपमात्रमस्ति यतस्तत्प्रतिपत्त्या पटग्रहणं भवेत्। न चावयवरूपोपलम्भोऽवयविरूपप्रतिपत्तौ अक्षसहकारी, तद्भावे वा तदवयवरूपोपलम्भोऽपि स्वावयवरूपोपलम्भाक्षसहकारी इति तमन्तरेण स न स्यादिति पूर्वपूर्वावयवरूपोपलम्भापेक्षया परमाणुरूपोपलम्भाभावात् तज्जन्यद्व्यणुकाद्यवयविरूपोपलम्भासंभवान्न क्वचिदपि रूपोपलब्धिः स्यात्। तदभावे च नावयव्युपलब्धिरिति तदाश्रितपदार्थानामप्युपलम्भाभावात् सर्वप्रतिभासाभावः स्यात्। तत एकानेकस्वभावं चित्रपटरूपवद्वस्तु अभ्युपगन्तव्यं वैशेषिकेण।

बौद्धेनापि चित्रपटप्रतिभासस्य एकानेकरूपतामभ्युपगच्छता एकानेकरूपं वस्तु अभ्युपगतमेव। अथ प्रतिभासोऽपि एकानेकरूपो नाभ्युपगम्यते तर्हि सर्वथा प्रतिभासाभावः स्याद् इति असकृद् आवेदितम्। तत एकान्ततोऽसति कार्ये न कारणव्यापारस्तेनाभ्युपगन्तव्यः असति तत्र तदभावात्। नापि सति, मृत्पिण्डे तस्य तमन्तरेणापि ततः प्रागेव निष्पन्नत्वात्। न च मृत्पिण्डे कारकव्यापारः पृथुबुध्नोदराद्याकारस्तत्फलम् अन्यत्र व्यापारे अन्यत्र फलासंभवात् स एव मृत्पिण्डः कारकव्यापारात् पृथुबुध्नोदराद्याकारतां प्रतिपद्यते इति कारकव्यापार-फलयोरैक्यविषयत्वे अनेकान्तवादसिद्धिः। तस्माद् द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिकाभ्यां केवलाभ्यां सहिताभ्यामन्योन्यनिरपेक्षाभ्यां व्यवस्थापितं वस्तु असत्यमिति तत्प्रतिपादकं शास्त्रं सर्वं मिथ्येति व्यवस्थितम्॥ ५०॥

[अन्वय–व्यतिरेकाभ्यां निरपेक्षनयद्वये मिथ्याज्ञानरूपत्वस्य दृढीकरणम्]

अमुमेवार्थमन्वय-व्यतिरेकाभ्यां दृढीकर्तुमाह—

ते उ भयणोवणीया सम्मद्दंसणमणुत्तरं होंति।
जं भवदुक्खविमोक्खं दो वि न पूरेंति पाडिक्कं॥ ५१॥

तौ द्रव्य-पर्यायास्तिकनयौ भजनया परस्परस्वभावाऽविनाभूततया उपनीतौ सदसद्रूपैकान्तव्यवच्छेदेन तदात्मकैककार्यकारणादिवस्तुप्रतिपादकत्वेन उपयोजितौ यदा भवतस्तदा सम्यग्दर्शनमनुत्तरं–नास्ति अस्माद् अन्यद् उत्तरं प्रधानं यस्मिंस्तत् तथाभूतं–भवतः परस्पराविनिर्भाग–

१ अत्र कन्दलीगतं चित्ररूपसमर्थकं युक्तिकथनमवबोद्धव्यम्—प्रशस्त॰ कं॰ पृ॰ ३॰ पं॰ १—।

पर्तिद्रव्यपर्यायात्मकैकवस्तुतत्त्वविषयरुच्यात्मकाऽबाधिताऽवबोधस्वभावत्वात् । यदा तु अन्योन्यनिरपेक्षद्रव्य-पर्यायप्रतिपादनत्वेन उपनीतौ भवतो न तदा सम्यक्त्वं प्रतिपद्येते यस्मात् संसारभाविजन्मादिदुःखविमोक्षमात्यन्तिकं विश्लेषं द्वावपि तौ प्रत्येकं न विधत्तः मिथ्याज्ञानात् सम्यक्रियानङ्गतया आत्यन्तिकभवोपद्रवाभिवृत्त्यसिद्धेः तद्विपर्ययकारणत्वात् तच्चासकृत् प्राक् प्रतिपादितमिति न पुनः प्रतन्यते । ततः कारणात् कार्यं कथंचिद् अन्यत् कथंचिदनन्यत् अत एव तद्रूपतया 'सच्च असच्च' इति ॥ ५१ ॥

[कालैककारणवादमुपन्यस्य तस्यैकान्तिकत्वनिरासः]

तत्र काल एव एकान्तेन जगतः कारणमिति कालवादिनः प्राहुः । तथाहि—सर्वस्य शीतोष्ण-वर्ष-वनस्पति-पुष्पादेर्जगतः प्रभव-स्थिति-विनाशेषु ग्रहोपरागयुतियुद्धोदयास्तमयगतिगमनागमनादौ च कालः कारणम् तमन्तरेण सर्वस्यास्याऽन्यकारणत्वाभिमतभावसद्भावेऽप्यभावात् तत्सद्भावे च भावात् । तदुक्तम्—

"कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः" ॥

[महाभा० आदिप० अ० १ श्लो० २७३,२७५],

असदेतत्; तत्कालसद्भावेऽपि वृष्ट्यादेः कदाचिददर्शनात् । न च तदभवनमपि तद्विशेषकृतमेव, नित्यैकरूपतया तस्य विशेषाभावात् । विशेषे वा तज्जननाऽजननस्वभावतया तस्य नित्यत्वव्यतिक्रमात् स्वभावभेदाद् भेदसिद्धेः । न च ग्रहमण्डलादिकृतो वर्षादेर्विशेषः तस्यापि अहेतुकतयाऽभावात् । न च काल एव तस्य हेतुः इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः—सति कालभेदे वर्षादिभेदहेतोर्ग्रहमण्डलादेर्भेदः तद्भेदाच्च कालभेद इति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम् । अन्यतः कारणाद् वर्षादिभेदे न ाल एव एकः कारणं भवेत्' इत्यभ्युपगमविरोधः । कालस्य च कुतश्चिद् भेदाभ्युपगमे अनित्यत्वात्युक्तम् । तत्र च प्रभव-स्थिति-विनाशेषु यद्यपरः कालः कारणम्, तदा तत्रापि स एव पर्यनुयोग यनवस्थानान्न वर्षादिकार्योत्पत्तिः स्यात् । न चैकस्य कारणत्वं युक्तम् क्रम-यौगपद्याभ्यां तद्विरोात् । तन्न काल एव एकः कारणं जगतः ।

[स्वभावैककारणवादमुपन्यस्य तस्यैकान्तिकत्वनिरासः]

अपरे तु 'स्वभावत एव भावा जायन्ते' इति वर्णयन्ति । अत्र यदि 'स्वभावकारणा भावाः' इति पामभ्युपगमस्तदा स्वात्मनि क्रियाविरोधो दोषः न हि अनुत्पन्नानां तेषां स्वभावः समस्ति उत्पन्नानां स्वभावसंगतावपि प्राक् स्वभावाभावेऽपि उत्पत्तेर्निर्वृत्तत्वान्न स्वभावस्तत्र कारणं भवेत् । अथ ारणमन्तरेण भावा भवन्ति स्व-परकारणनिमित्तजन्मनिरपेक्षतया सर्वहेतुनिराशंसस्वभावा भावाः । था चात्र स्वभाववादिभिर्युक्तिः प्रदर्श्यते—यद् अनुपलभ्यमानसत्ताकं तत् प्रेक्षावतामसद्व्यवहारापयः, यथा शशशृङ्गम्, अनुपलभ्यमानसत्ताकं च भावानां कारणमिति स्वभावानुपलब्धिः । न च ायमसिद्धो हेतुः कण्टकादितैक्ष्ण्यादेर्निमित्तभूतस्य कस्यचिद् अध्यक्षादिना असंवेदनात् । तदुक्तम्—

---

१ अत्र ग्रहीयविविधदशायाः प्रस्तुतत्वेन उपराग-युति-युद्धादयः सर्वेऽपि शब्दा ग्रहेण योज्याः तदर्थश्च सूर्यसिद्धाादिज्योतिषग्रन्थेभ्योऽवसेयः ।

२-मयगमन-मू० आ० हा० वि० । '३-त् न तत्स-मू० आ० हा० वि० । ४ महाभारते कालमाहात्म्यत्थं वर्णितं विद्यते—

"विधातृविहितं मार्गं न कश्चिदतिवर्तते । कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे ॥
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः । संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ॥
कालो विकुरुते भावान् सर्वाल्लोके शुभाशुभान् । कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः ॥
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः । कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः ॥
अतीताऽनागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम् । तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि" ॥

—महाभा० आदिप० अ० १ श्लो० २७२-२७६ ।

५ सांख्यकारिकावृत्तौ, शास्त्रवार्तासमुच्चये षड्दर्शनसमुच्चयबृहट्टीकायां च अयमीदृश एव श्लोको वर्तते-पृ० ७६ । ० ८० श्लो० ५४ । पृ० ११ पं० १२-१३ ।

६ स्वभाववादनिरूपण-तन्निरसनपरा प्रस्तुता टीका तत्त्वसंग्रहीयस्वाभाविकवादपरीक्षयाऽक्षरशः साम्यं भजते । तथाहि-
"सर्वहेतुनिराशंसं भावानां जन्म वर्ण्यते । स्वभाववादिभिस्ते हि नाहुः स्वमपि कारणम्" ॥

—तत्त्वसं० का० ११० पृ० ६२ ।

७-दा स्यादात्म-भां० मां० । "ते स्वक्रियाया विरोधत इत्यादिना निरस्ताः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६२ पं० ९ ।

८ "राजीवकेसरादीनां वैचित्र्यं कः करोति हि । मयूरचन्द्रकादिर्वा विचित्रः केन निर्मितः" ॥

—तत्त्वसं० का० १११ पृ० ६२ ।

"कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ?" ॥ [ ]

अथापि स्यात् भवतु बाह्यानां भावानां कारणानुपलब्धेरहेतुकत्वम् आध्यात्मिकानां तु कुतो निर्हेतुकत्वसिद्धिः ? असदेतत्; यतो यदि नाम दुःखादीनामध्यक्षतो निर्हेतुकत्वमसिद्धं तथापि अनुमानतस्तत् तेषां सिद्धमेव । तथाहि—यत् कादाचित्कं तद् निर्हेतुकम्, यथा कण्टकादेस्तैक्ष्ण्यम्, कादाचित्कं च सुखादिकमिति स्वभावहेतुः । न च यस्य भावाभावयोर्नियमेन यस्य भावाभावौ तत् तस्य कारणम्, व्यभिचारात् । तथाहि—स्पर्शसद्भाव एव चक्षुर्विज्ञानम् तदभावे न तत् कदाचित्, न च स्पर्शः तत्कारणम् । तदेतत् कारणभावलक्षणम् व्यभिचारित्वात् । अतः सर्वहेतुनिराशंसं जन्म भावानामिति सिद्धम्,

असदेतत्; कण्टकादितैक्ष्ण्यादेरपि निर्हेतुकत्वासिद्धेः । तथाहि—अध्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यामन्वयव्यतिरेकतो बीजादिकं तत्कारणत्वेन निश्चितमेव । यस्य हि यस्मिन् सत्येव यस्य भावः यस्य च विकाराद् यस्य विकारः तत् तस्य कारणमुच्यते । उत्सूनादिविशिष्टावस्थाप्राप्तं च बीजं कण्टकादितैक्ष्ण्यादेरन्वय-व्यतिरेकवत् अध्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यां कारणतया निश्चितमिति 'अनुपलभ्यमानसत्ताकं च कारणम्' इति असिद्धो हेतुः । यदपि 'कार्यकारणभावलक्षणं व्यभिचारि' इत्युक्तम्, तदपि असिद्धम्; स्पर्शस्यापि रूपहेतुतया चक्षुर्विज्ञाने निमित्ततया इष्टत्वात् तमन्तरेण रूपस्यैव स्यासंभवात् । न च व्यतिरेकमात्रं कार्यकारणभावनिबन्धनत्वेन अभ्युपगम्यते तद्वादिभिः तद्विदोष एव । तथाहि—समर्थेषु सत्सु येषु कार्यं भवद् उपलब्धम् तेषां मध्ये ... अभा तद् अभवत् तत्कारणं तद् इति व्यवस्थाप्यते न तु यस्याभावे यन्न भवतीति व्यतिरेकमात्रतः; मातृविवाहोचितपारसीकदेशप्रभवस्य पिण्डखर्जूरस्य तद्विवादाभावे अभावाद् अव्यभिचारः स्यात् न चैवंभूतस्य व्यतिरेकस्य स्पर्शेन व्यभिचारः न हि रूपादिसंनिधानमुपदर्श्य स्पर्शस्य ... घात् चक्षुर्विज्ञानं न भवतीति शक्यं दर्शयितुमिति कुतो व्यभिचारः कार्यकारणभावलक्षणस्य ?

केवलं बीजादिः कारणत्वेन भावानां निश्चितः किन्तु देश-कालादिरपि । तथाहि—यदि प्रतिनियतदेश-कालहेतुता कण्टकादेस्तैक्ष्ण्यादेर्न स्यात् तदा येयमतद्देश-कालपरिहारेण प्रतिनियतदेश-कालता तेषामुपलम्भगोचरचारिणी सा न स्यात् तन्निरपेक्षत्वात् तद्वद् अन्यदेशकाला अपि ते भवेयुः न चैवम् अतः प्रतिनियतदेशादौ वर्तमानास्तदपेक्षास्त इति सिद्धम् तथा च तत्कार्या अपेक्षालक्षणत्वात् तत्कार्यत्वस्य नियतदेशतया च तेषां वृत्तिरध्यक्षत एव सिद्धेति कथं न तत्कार्यतावगतिः? यदपि 'कादाचित्कत्वात्' इति साधनम्, तदपि विरुद्धम्; साध्यविपर्ययसाधनाद् अहेतोः कादाचित्कत्वानुपपत्तेः । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः अहेतुकत्वस्य तत्राप्यभावात् । एवमनुपलभ्यमानसत्ताकं भावानां कारणमिति हेतोरसिद्धता प्रतिज्ञायाश्च प्रत्यक्षैर्विरोधो व्यवस्थितः । सिद्धत्वेऽपि चास्य हेतोर्नैकान्तिकत्वम् । तथाहि—यदि अनुपलम्भमात्रं हेतुत्वेन उपादीयते तदा प्रमाणाभावात् कारणसत्ताभावासिद्धेः कथं नानैकान्तिकता? तथाहि—कारणम् व्यापकं वा निवर्तमानं कार्यम् व्याप्यं वा आदाय निवर्तते । न च प्रमाणमर्थसत्ताया व्यापकं वृक्षत्ववत् शिंशपायाः अभिन्नस्यैव व्यापकत्वात् । न च प्रमाण-प्रमेययोरभेदः भिन्नप्रतिभासविषयत्वात् । नापि प्रमाणं कारणमर्थस्य व्यभिचारात् देश-कालादिविप्रकृष्टानां भावानां प्रमाणाविषयीकरणेऽपि सत्ताऽविरोधात् । न च यदन्तरेणापि यद् भवति तत् तस्य कारणम् अतिप्रसङ्गात् कारणत्वाभ्युपगमे स्वाभ्युपगमव्याघातात् । न च प्रमाणात् प्रमेयप्रभवः अपि तु प्रमेयात् प्रमाणस्य अन्यथा तेन तद्ग्रहणाऽयोगात् । न च प्रमाणमप्रतिबद्धमपि अर्थसत्तानिवर्तकम् अतिप्रसङ्गात्—गोनिवृत्तौ अश्वनिवृत्तिप्रसक्तेः । किञ्च, अनुपलब्धिर्हेतुत्वेन उपादीयमाना स्वोपलम्भनिवृत्तिरूपा वा उपादीयेत, सर्वपुरुषोपलम्भनिवृत्तिस्वभावा वा? तत्र न तावद् आद्यः पक्षः खल-बिलाद्यन्तर्गतस्य बीजादेः स्वोपलम्भनिवृत्तावपि सत्ताअनिवृत्तेर्हेतोरनैकान्तिकत्वात् । अथ द्वितीयः पक्षः सोऽपि न युक्तः; हेतोरसिद्धेः न हि मयूरचन्द्रकादेः सर्वपुरुषैरदृष्टं कारणं उपलभ्यते इत्यर्वाग्दृशा निश्चेतुं शक्यम् । किञ्च, 'निर्हेतुका भावाः' इत्यत्र हेतुरुपादीयते, आहो-स्वित् नेति? यदि नोपादीयते तदा न स्वपक्षसिद्धिः प्रमाणमन्तरेण तस्या अयोगात् । अथ हेतुरुपादीयते तदा स्वाभ्युपगमविरोधः प्रमाणजन्यतया स्वपक्षसिद्धेरभ्युपगमात् । तदुक्तम्—

"न हेतुरस्तीति वदन् सहेतुकं ननु प्रतिज्ञां स्वयमेव बाधते ।

---

१ "तदपेक्षा तथावृत्तिरपेक्षा कार्यतोच्यते । प्रत्यक्षा च तथा वृत्तिः सिद्धास्तेनेह हेतवः" ॥
—तत्त्वसं० का० ११७ पृ० ६४ ।

-कार्यापे-वृ० आ० हा० वि० । "तदन्यदेशादिपरिहारेण नियते देशादौ या वृत्तिरियमेवापेक्षेत्युच्यते न त्वभिप्रायात्मिका । स्यादेतद् यदि नाम तदपेक्षा तेषाम् तथापि तत्कार्यता कथमवसितेत्याह—अपेक्षा कार्यतोच्यत इति"
—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६४ पं० १७ ।

२-याभवृ—भां० मां० विना ।

३ "तत्स्वाभाविकवादोऽयं प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां हेतुरूपस्य निश्चयात्" ॥
—तत्त्वसं० का० ११८ पृ० ६४ ।

४ "मा वा प्रमाणसत्ता भूद्धेतुसद्भावसिद्धये । तथापि मानाभावेन नैवार्थासत्त्वनिश्चयः" ॥
—तत्त्वसं० का० ११९ पृ० ६५ ।

५ "यस्मादर्थस्य सत्ताया व्यापकं न च कारणम् । प्रमाणं भेदसद्भावाद्व्यभिचारात् तदुद्भवात्" ॥
—तत्त्वसं० का० १२० पृ० ६५ ।

६ यमन्त-वृ० आ० हा० वि० । ७ "कारणत्वाभ्युपगमे वा"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६५ पं० १५ ।

८ "यश्च नैवंविधो भावस्तस्य नैव निवृत्तितः । ऐकान्तिकमसम्बन्धाद् गम्यतेऽन्यनिवर्तनम्" ॥
—तत्त्वसं० का० १२१ पृ० ६५ ।

९ "सर्वा दृष्टिश्च संदिग्धा स्वा दृष्टिर्व्यभिचारिणी । विन्ध्याद्रिरन्ध्रदूर्वादेरदृष्टावपि सत्त्वतः" ॥
—तत्त्वसं० का० १२२ पृ० ६५ ।

१० धुस्तूरे तमाले च खलशब्दः बिलस्तु वेतसवृक्षे—वैद्यक० सिं० ।

११ "अहेतुकत्वसिद्ध्यर्थं न चेद्धेतुः प्रयुज्यते । न चाप्रमाणिकी सिद्धिरतः पक्षो न सिद्ध्यति ॥
तत्सिद्धये च हेतुश्चेत् प्रयुज्येत तथापि न । सिद्धेस्तद्धेतुजन्यत्वात् पक्षस्ते संप्रसिद्ध्यति" ॥
—तत्त्वसं० का० १२३-१२४ पृ० ६६ ।

१२ तत्त्वसं० पञ्जिकायाम् "तथा चोक्तमाचार्यसूरिपादैः" इति निर्दिश्य पद्यमिदमुपनिबद्धम् तत्र च "स्वयमेव बाधते" इति पाठो मुद्रितः—पृ० ६६ पं० १४ ।

"कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः?" ॥ [ ]

अथापि स्यात् भवतु बाह्यानां भावानां कारणानुपलब्धेरहेतुकत्वम् आध्यात्मिकानां तु कुतो निर्हेतुकत्वसिद्धिः? असदेतत्; यतो यदि नाम दुःखादीनामध्यक्षतो निर्हेतुकत्वमसिद्धं तथापि अनुमानतस्तत् तेषां सिद्धमेव। तथाहि—यत् कादाचित्कं तद् निर्हेतुकम्, यथा कण्टकादेस्तैक्ष्ण्यम्, कादाचित्कं च सुखादिकमिति स्वभावहेतुः। न च यस्य भावाभावयोर्नियमेन यस्य भावाभावौ तत् तस्य कारणम्, व्यभिचारात्। तथाहि—स्पर्शसद्भाव एव चक्षुर्विज्ञानम् तदभावे न तत् कदाचित्, न च स्पर्शः तत्कारणम्। तन्नैतत् कारणभावलक्षणम् व्यभिचारित्वात्। अतः सर्वहेतुनिराशंसं जन्म भावानामिति सिद्धम्,

असदेतत्; कण्टकादितैक्ष्ण्यादेरपि निर्हेतुकत्वासिद्धेः। तथाहि—अध्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यामन्वयव्यतिरेकतो बीजादिकं तत्कारणत्वेन निश्चितमेव। यस्य हि यस्मिन् सत्येव यस्य भावः यस्य च विकाराद् यस्य विकारः तत् तस्य कारणमुच्यते। उच्छूनादिविशिष्टावस्थाप्राप्तं च बीजं कण्टकादितैक्ष्ण्यादेरन्वय-व्यतिरेकवत् अध्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यां कारणतया निश्चितमिति 'अनुपलभ्यमानसत्ताकं च कारणम्' इति असिद्धो हेतुः। यदपि 'कार्यकारणभावलक्षणं व्यभिचारि' इत्युक्तम्, तदपि असिद्धम्; स्पर्शस्यापि रूपहेतुतया चक्षुर्विज्ञाने निमित्ततया इष्टत्वात्, तमन्तरेण रूपस्यैव स्यासंभवात्। न च व्यतिरेकमात्रं कार्यकारणभावनिबन्धनत्वेन अभ्युपगम्यते तद्वादिभिः तद्विशेष एव। तथाहि—समर्थेषु सत्सु येषु कार्यं भवद् उपलब्धम् तेषां मध्ये अन्यतमस्याभिमतं(?) तद् अभवत् तत्कारणं तद् इति व्यवस्थाप्यते न तु यस्याभावे यन्न भवतीति व्यतिरेकमात्रतः, मातृविवाहोचितपारसीकदेशप्रभवस्य पिण्डखर्जूरस्य तद्विवाहाभावे अभावाद् अव्यभिचारः स्यात्, न चैवंभूतस्य व्यतिरेकस्य स्पर्शेन व्यभिचारः न हि रूपादिसंनिधानमुपदर्श्य स्पर्शस्याभावात् चक्षुर्विज्ञानं न भवतीति शक्यं दर्शयितुमिति कुतो व्यभिचारः कार्यकारणभावलक्षणस्य?

१ अयं श्लोकः शास्त्रवा० स्याद्वादक० टीकायाम् षड्द० बृ० टीकायां च विद्यते-पृ० ८३ प्र० । पृ० १३।
माठरवृत्तौ तु—
"येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः। मयूराश्चित्रिता येन स नो वृत्तिं विधास्यति" ॥
इति भावार्थकः श्लोको वर्तते-पृ० ७५।

२ "यथैव कण्टकादीनां तैक्ष्ण्यादिकमहेतुकम्। कादाचित्कतया तद्वद् दुःखादीनामहेतुता" ॥
—तत्त्वसं० का० ११२ पृ० ६२।

बोधिचर्यावतारपञ्जिकायां तत्त्वसंग्रहीयकारिकाभिरेव स्वभाववादः स्थापितः निरस्तश्च प्रकारान्तरेण-परि० ९ पृ० ५४१। धर्मसंग्रहण्यां तु केवलं स्वभाववादस्थापनं तन्निरसनं चोभयमन्यया भङ्ग्या वर्णितं विद्यते। तथाहि तदाद्यान्त्यभागे
"किंच सहावो त्ति मई भावो वा होज्ज अभावो वा। जइ भावो किं चित्तो किं वा सो एगरूवो त्ति ॥ × ×
एवं नियई जइच्छा कालो दिव्वं पहाणमादी वि। सव्वे वि असव्वाया एगतेण मुणेयव्वा" ॥
—धर्मसं० गा० ५४९-५६६ पृ० २११-२१६।

३ "सरोजकेसरादीनामन्वयव्यतिरेकवत्। अवस्थातिशयाक्रान्तं बीजपङ्कजलादिकम् ॥
प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां निश्चितं कारणं यदा। किमित्यन्यस्तदा हेतुरमीषां परिपृच्छ्यते ॥
—तत्त्वसं० का० ११३-११४ पृ० ६३।

४ अत्र वाक्ये द्वयोः 'यस्य' पदयोः निष्प्रयोजनकत्वेन 'यस्य हि यस्मिन् सत्येव भावः' इत्येव पाठः समीचीनः संभाव्यते। "तथाहि—यस्मिन् सत्येव यस्य जन्म भवति यस्य च विकाराद् यस्य विकारस्तत् तस्य कारणमुच्यते। तथैव बीजादिकमुच्छूनादिविशिष्टावस्थाप्राप्तं राजीवकेसरादीनामन्वयव्यतिरेकवत्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६३ पं० १५।

५-पश्येयं वि-टू०। "स्पर्शस्यापि रूपहेतुतया चक्षुर्विज्ञानेऽपि निमित्तभावस्येष्टत्वात्। तथाहि—स्पर्श इति भूतान्युच्यन्ते। तानि चोपादायोपादाय रूपं वर्तते ततश्चक्षुर्विज्ञानं प्रति स्पर्शस्य निमित्तभावोऽस्त्येव केवलं साक्षात्पारम्पर्यकृतो विशेषः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६३ पं० ११।

६ "नियतौ देश-कालौ च भावानां भवतः कथम्। यदि तद्धेतुता नैषां स्युस्ते सर्वत्र सर्वदा ॥
क्वचित् कदाचित् कस्मिंश्चिद् भवन्तो नियताः पुनः। तत्सापेक्षा भवन्त्येते तदन्यपरिहारतः" ॥
—तत्त्वसं० का० ११५-११६ पृ० ६४।

"न व्यक्तशक्तिरीशोऽयं क्रमेणाप्युपपद्यते ।
व्यक्तशक्तिरतोऽन्यश्चेत् भावो ह्येकः कथं भवेत्" ॥ [ ]

एवं कालस्यापि पर्यायेण वसन्ताद्यभिव्यक्तिप्रवृत्तो अयमेव दोषः । भावास्तु शीतोष्णादिपरिणतिभाजः प्रतिक्षणविशरारवः कथंचित् काल इत्यभिधानाभिधेयाः प्राग् व्यवस्थापिताः । अथ न क्रीडार्था भगवतः प्रवृत्तिः किन्तु पृथिव्यादिमहाभूतानां यथा स्वकार्येषु स्वभावत एव प्रवृत्तिस्तथा ईश्वरस्यापि इति, अयुक्तमेतत्, एवं हि तद्व्यापारमात्रभाविनामशेषभावानां युगपद् भावो भवेत् अविकलकारणत्वात् सहकार्यपेक्षाऽपि न नित्यस्य संगता इत्युक्तम् । पुरुषवादिनां तु केवलस्यैव पुरुषस्य जगत्कारणत्वेन अभ्युपगमात् तदपेक्षा दूरापास्तैव । पृथिव्यादिमहाभूतानां तु स्वहेतुबलायाताऽपरापरस्वभावसद्भावान्न तदुत्पाद्यकार्यस्य युगपदुत्पत्त्यादिदोषः संभवी । न च यथा ऊर्णनाभः स्वभावतः प्रवृत्तोऽपि न स्वकार्याणि युगपद् निर्वर्तयति तथा पुरुषोऽपीति वाच्यम्, यत ऊर्णनाभस्यापि प्राणिभक्षणलाम्पट्यात् स्वकार्ये प्रवृत्तिर्न स्वभावतः अन्यथा तत्राप्यस्य दोषस्य समानत्वात् न ह्यसौ नित्यैकस्वभावः अपि तु स्वहेतुबलभाव्यपरापरकादाचित्कशक्तिमानिति तद्भाविनः कार्यस्य क्रमप्रवृत्तिरुपपन्नैव । न च यथा कथंचिद् अबुद्धिपूर्वकमेव पुरुषो जगन्निर्वर्तने प्रवर्तते, प्राकृतपुरुषादप्येवमस्य हीनतया प्रेक्षापूर्वकारिणामनवधेयवचनताप्रसक्तेः । एवं प्रजापतिप्रभृतीनामपि जगत्कारणत्वेनाभीष्टानां निरासो द्रष्टव्यः न्यायस्य समानत्वात् । तन्न कालाद्येकान्ताः प्रमाणतः संभवन्तीति तद्वादो मिथ्यावाद इति स्थितम् । त एव अन्योन्यसव्यपेक्षा नित्याद्येकान्तव्यपोहेन एकानेकस्वभावाः कार्यनिर्वर्तनपटवः प्रमाणविषयतया परमार्थसन्त इति तत्प्रतिपादकस्य शास्त्रस्यापि सम्यक्त्वमिति तद्वादः सम्यग्वादतया व्यवस्थितः ॥ ५३ ॥

[आत्मन्येकान्तरूपस्य नास्तित्वादिवादषट्कस्य मिथ्यारूपत्वकथनम्]

यथैते कालाद्येकान्ता मिथ्यात्वमनुभवन्ति स्याद्वादोपग्रहात् तु त एव सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्ते तथा आत्माऽपि एकान्तनित्याऽनित्यत्वादिधर्माध्यासितो मिथ्यात्वम् अनेकान्तरूपतया तु अभ्युपगम्यमानः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यत इत्याह—

नेश्वरादिप्रेरणात् अस्वातन्त्र्यप्रसक्तेः । न परानुग्रहार्थमनुकम्पया दुःखितसत्त्वनिर्वर्तनानुपपत्तेः । न तत्कर्मप्रक्षयार्थं दुःखितसत्त्वनिर्माणे प्रवृत्तिः तत्कर्मणोऽपि तत्कृतत्वेन तत्प्रक्षयार्थं तन्निर्माण-प्रवृत्तौ अप्रेक्षापूर्वकारितापत्तेः । न च प्राक् सृष्टेः अनुकम्पनीयसत्त्वसद्भाव इति निरालम्बनाया अनुकम्पाया अयोगात् नातोऽपि जगत्करणे प्रवृत्तिर्युक्ता । न च अनुकम्पातः प्रवृत्तौ सुखिसत्त्व-प्रक्षयार्थं प्रवृत्तिर्युक्तेति देवादीनां प्रलयानुपपत्तिर्भवेत् । न च समर्थस्य दुःखकारणमधर्मादिक-मपेक्ष्य कृपालोर्दुःखितसत्त्वनिर्वर्तनं युक्तम् कृपापरतन्त्रतया दुःखप्रदे कर्मण्यवधा(धी)रणोपपत्तेः न हि कृपालवः परदुःखहेतुत्वमेव इच्छन्ति परदुःखवियोगेच्छयैव तेषां सर्वदा प्रवृत्तेः । न

"न व्यक्तशक्तिरीशोऽयं क्रमेणाप्युपपद्यते ।
व्यक्तशक्तिरतोऽन्यश्चेत् भावो ह्येकः कथं भवेत्" ॥ [ ]

एवं कालस्यापि पर्यायेण वसन्ताद्यभिव्यक्तिप्रवृत्तौ अयमेव दोषः । भावास्तु शीतोष्णादिपरिणतिभाजः प्रतिक्षणविशरारवः कथंचित् काल इत्यभिधानाभिधेयाः प्राग् व्यवस्थापिताः । अथ न क्रीडार्था भगवतः प्रवृत्तिः किन्तु पृथिव्यादिमहाभूतानां यथा स्वकार्येषु स्वभावत एव प्रवृत्तिस्तथा ईश्वरस्यापि इति, अयुक्तमेतत्; एवं हि तद्व्यापारमात्रभाविनामशेषभावानां युगपद् भावो भवेत् अविकलकारणत्वात् सहकार्यपेक्षाऽपि न नित्यस्य संगता इत्युक्तम् । पुरुषवादिनां तु केवलस्यैव पुरुषस्य जगत्कारणत्वेन अभ्युपगमात् तदपेक्षा दूरापास्तैव । पृथिव्यादिमहाभूतानां तु स्वहेतुबलायाताऽपरापरस्वभावसद्भावान्न तदुत्पाद्यकार्यस्य युगपदुत्पत्त्यादिदोषः संभवी । न च यथा ऊर्णनाभः स्वभावतः प्रवृत्तोऽपि न स्वकार्याणि युगपद् निर्वर्तयति तथा पुरुषोऽपीति वाच्यम्, यत ऊर्णनाभस्यापि प्राणिभक्षणलाम्पट्यात् स्वकार्ये प्रवृत्तिर्न स्वभावतः अन्यथा तत्राप्यस्य दोषस्य समानत्वात् न ह्यसौ नित्यैकस्वभावः अपि तु स्वहेतुबलभाव्यपरापरकादाचित्कशक्तिमानिति तद्भाविनः कार्यस्य क्रमप्रवृत्तिरुपपन्नैव । न च यथा कथंचिद् अबुद्धिपूर्वकमेव पुरुषो जगन्निर्वर्तने प्रवर्तते, प्राकृतपुरुषादप्येवमस्य हीनतया प्रेक्षापूर्वकारिणामनवधेयवचनताप्रसक्तेः । एवं प्रजापतिप्रभृतीनामपि जगत्कारणत्वेनाभीष्टानां निरासो द्रष्टव्यः न्यायस्य समानत्वात् । तन्न कालाद्येकान्ताः प्रमाणतः संभवन्तीति तद्वादो मिथ्यावाद इति स्थितम् । त एव अन्योन्यसव्यपेक्षा नित्याद्येकान्तव्यपोहेन एकानेकस्वभावाः कार्यनिर्वर्तनपटवः प्रमाणविषयतया परमार्थसन्त इति तत्प्रतिपादकस्य शास्त्रस्यापि सम्यक्त्वमिति तद्वादः सम्यग्वादतया व्यवस्थितः ॥ ५३ ॥

[आत्मन्येकान्तरूपस्य नास्तित्वादिवादषट्कस्य मिथ्यारूपत्वकथनम्]

यथैते कालाद्येकान्ता मिथ्यात्वमनुभवन्ति स्याद्वादोपग्रहात् तु त एव सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्ते तथा आत्माऽपि एकान्तनित्याऽनित्यत्वादिधर्माध्यासितो मिथ्यात्वम् अनेकान्तरूपतया तु अभ्युपगम्यमानः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यत इत्याह—

णत्थि ण णिचो ण कुणइ कयं ण वेएइ णत्थि णिव्वाणं ।
णत्थि य मोक्खोवाओ छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥ ५४ ॥

---

१ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७८ पं० १०-।

२ "अथ स्वभावतो वृत्तिरित्यादिना उद्द्योतकरमतमाशङ्कते—
अथ स्वभावतो वृत्ति सर्गादावस्य वर्ण्यते । पावकादे प्रकृत्यैव यथा दाहादिकर्मणि ॥
यद्येवमखिला भावा भवेयुर्युगपत् तत । तदुत्पादनसामर्थ्ययोगिकारणसन्निधे " ॥
—तत्त्वसं० का० १६४-१६५-पृ० ७८ ।

एतदेवोद्द्योतकरीयं मतं न्यायवार्तिके इत्थमुपन्यस्तमस्ति—
"किमर्थं तर्हि करोति ? तत्स्वाभाव्यात् प्रवर्तते इत्यदुष्टम्—यथा भूम्यादीनि धारणादिक्रिया तत्स्वाभाव्यात् कुर्वन्ति तथेश्वरोऽपि तत्स्वाभाव्यात् प्रवर्तत इति प्रवृत्तिस्वभावकं तत् तत्त्वमिति" इत्यादि—४-१-२१ पृ० ४६३ पं० ४—।

३ "स्वहेतुबलसभूता नियता एव शक्तय । असर्वकालभाविन्यो ज्वलनादिषु वस्तुषु ॥
अन्यथा यौगपद्येन सर्वं कार्यं समुद्भवेत् । तेषामपि न चेदेष नियमोऽभ्युपगम्यते" ॥
—तत्त्वसं० का० १६६-१६७ पृ० ७८-७९ ।

४ "प्रकृत्यैवाशुहेतुत्वमूर्णनाभेऽपि नेष्यते । प्राणिभक्षणलाम्पट्याल्लालाजालं करोति यत्" ॥
—तत्त्वसं० का० १६८ पृ० ७९ ।

५ "यथाकथंचिद्वृत्तिश्चेद् बुद्धिमत्ताऽस्य कीदृशी । नासमीक्ष्य यत कार्यं शनकोऽपि प्रवर्तते" ॥
—तत्त्वसं० का० १६९ पृ० ७९ ।

६ "शौर्यात्मजादयो येऽपि धातार परिकल्पिता । एतेनैव प्रकारेण निरस्तास्तेऽपि वस्तुत " ॥
—तत्त्वसं० का० १७० पृ० ७९ ।

नेश्वरादिप्रेरणात् अस्वातन्त्र्यप्रसक्तेः। न परानुग्रहार्थमनुकम्पया दुःखितसत्त्वनिर्वर्तनानुपपत्तेः। न तत्कर्मप्रक्षयार्थं दुःखितसत्त्वनिर्माणे प्रवृत्तिः तत्कर्मणोऽपि तत्कृतत्वेन तत्प्रक्षयार्थं तन्निर्माणप्रवृत्तौ अप्रेक्षापूर्वकारितापत्तेः। न च प्राक् सृष्टेः अनुकम्पनीयसत्त्वसद्भाव इति निरालम्बनाया अनुकम्पाया अयोगात् नातोऽपि जगत्करणे प्रवृत्तिर्युक्ता। न च अनुकम्पातः प्रवृत्तौ सुखिसत्त्वप्रक्षयार्थं प्रवृत्तिर्युक्तेति देवादीनां प्रलयानुपपत्तिर्भवेत्। न च समर्थस्य दुःखकारणमधर्मादिकमपेक्ष्य कृपालोर्दुःखितसत्त्वनिर्वर्तनं युक्तम् कृपापरतन्त्रतया दुःखप्रदे कर्मण्यवधा(धी)रणोपपत्तेः न हि कृपालवः परदुःखहेतुत्वमेव इच्छन्ति परदुःखवियोगेच्छयैव तेषां सर्वदा प्रवृत्तेः। न च क्रीडया अपि तत्र तस्य प्रवृत्तिर्युक्ता क्रीडोत्पादेऽपि जगदुत्पादापेक्षया तस्यास्वातन्त्र्योपपत्तेः जगदुत्पत्ति-स्थिति-प्रलयात्मकस्य विचित्रक्रीडोपायस्य तदुत्पत्तौ अपेक्षणात्। यदि विचित्रक्रीडोपायोत्पादने तस्य प्रागेव शक्तिः तदा युगपद् अशेषजगदुत्पत्ति-स्थिति-प्रलयान् विदध्यात्। अथ आदौ न तत्र शक्तिस्तदा अशक्तावस्थाया अविशिष्टत्वात् क्रमेणापि न तान् विदध्यात् एकत्र एकस्य शक्ताऽशक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मद्वयायोगात्। अयं च दोष ईश्वरवादिनामपि समान इति। "परानुग्रहार्थमीश्वरः प्रवर्तते यथा कश्चित् कृतार्थो मुनिरात्महिताऽहितप्राप्ति-परिहारार्थासंभवेऽपि परहितार्थमुपदेशादिकं करोति तथा ईश्वरोऽपि आत्मीयामैश्वर्यविभूतिं विख्याप्य प्राणिनोऽनुग्रहीष्यन् प्रवर्तत इति अथवा शक्तिस्वाभाव्यात् यथा कालस्य वसन्तादीनां पर्यायेण अभिव्यक्तौ स्थावर-जङ्गमविकारोत्पत्तिः स्वभावतः तथैव ईश्वरस्यापि आविर्भावाऽनुग्रह-संहारशक्तीनां पर्यायेण अभिव्यक्तौ प्राणिनामुत्पत्ति-स्थिति-प्रलयहेतुत्वम्"-[ ] इति यदुक्तं प्रशस्तमतिना तदपि प्रतिक्षिप्तं द्रष्टव्यम्। तथाहि—यदि असौ अनुग्रहप्रवृत्तस्तदा सर्वमेकान्तसुखिनं प्राणिगणं विदध्यात् इत्युक्तम्। शक्तिस्वाभाव्यात् करणे उत्पत्ति-स्थित्युपसंहारान् जगतो युगपत् कुर्यात् इत्यादिकमपि उक्तमेव दूषणम्। तथा चाह—

"सर्ग-स्थित्युपसंहारान् युगपद् व्यक्तशक्तितः।
युगपच्च जगत् कुर्यात् नो चेत् सोऽव्यक्तशक्तिकः" ॥

---

१ "सृष्टेः प्रागनुकम्पा(म्प्या)नामसत्त्वे नोपपद्यते। अनुकम्पाऽपि यद्योगाद्धाताऽयं परिकल्प्यते" ॥
—तत्त्वसं० का० १५८ पृ० ७६।

२ "न चायं प्रलयं कुर्यात् सदाऽभ्युदययोगिनाम्। तददृष्टव्यपेक्षायां स्वातन्त्र्यमवहीयते" ॥
—तत्त्वसं० का० १५९ पृ० ७७।

३ "पीडाहेतुमदृष्टं च किमर्थं स व्यपेक्षते। उपेक्षैव पुनस्तत्र दयायोगेऽस्य युज्यते" ॥
—तत्त्वसं० का० १६० पृ० ७७।

४ "किन्त्ववधीरणमेव तत्र तस्य कृपापरतन्त्रतया युक्तं कर्तुम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७७ पं० १४।

५ "क्रीडार्थं तस्य वृत्तिश्चेत् क्रीडायां न प्रभुर्भवेत्। विचित्रक्रीडनोपायव्यपेक्षातः शिशुर्यथा" ॥
—तत्त्वसं० का० १६१ पृ० ७७।

६ "क्रीडासाध्या च या प्रीतिस्तस्या यदपि साधनम्। तत्सर्वं युगपत् कुर्याद् यदि तत्कृतिशक्तिमान् ॥
क्रमेणाऽपि न शक्तः स्यात्तो चेदादौ स शक्तिमान्। नाऽविभक्तस्य युज्येते शक्त्यशक्ती हि वस्तुनः" ॥
—तत्त्वसं० का० १६२–१६३ पृ० ७७।

७ "यदाह प्रशस्तमतिः" इत्यादि—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७८ पं० २–।

८ न्यायवार्तिके ईश्वरोपादानताप्रकरणे उद्द्योतकरः "अथायमीश्वरः कुर्वाणः किमर्थं करोति" इति ईश्वरविषयं प्रश्नमुत्थाप्य तद्विषये इमानि मतान्तराणि समुपन्यस्यति—

"क्रीडार्थमित्येके" × × × "विभूतिख्यापनार्थमित्यपरे—जगतो वैश्वरूप्यं ख्यापनीयमित्यपरे मन्यन्ते"—४-१-२१ पृ० ४६२ पं० १७–४६३ पं० १।

९–"शक्तिक."—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ०७८ पं० ९। १०–शक्तितः शा०।

"न व्यक्तशक्तिरीशोऽयं क्रमेणाप्युपपद्यते ।
व्यक्तशक्तिरतोऽन्यश्चेत् भावो ह्येकः कथं भवेत्" ॥ [ ]

एवं कालस्यापि पर्यायेण वसन्ताद्यभिव्यक्तिप्रवृत्तौ अयमेव दोषः । भावास्तु शीतोष्णादिपरिणतिभाजः प्रतिक्षणविशरारवः कथंचित् काल इत्यभिधानाभिधेयाः प्राग् व्यवस्थापिताः । अथ न क्रीडार्था भगवतः प्रवृत्तिः किन्तु पृथिव्यादिमहाभूतानां यथा स्वकार्येषु स्वभावत एव प्रवृत्तिस्तथा ईश्वरस्यापि इति, अयुक्तमेतत्; एवं हि तद्व्यापारमात्रभाविनामशेषभावानां युगपद् भावो भवेत् अविकलकारणत्वात् सहकार्यपेक्षाऽपि न नित्यस्य संगता इत्युक्तम् । पुरुषवादिनां तु केवलस्यैव पुरुषस्य जगत्कारणत्वेन अभ्युपगमात् तदपेक्षा दूरापास्तैव । पृथिव्यादिमहाभूतानां तु स्वहेतुबलायाताऽपरापरस्वभावसद्भावान्न तदुत्पाद्यकार्यस्य युगपदुत्पत्त्यादिदोषः संभवी । न च यथा ऊर्णनाभः स्वभावतः प्रवृत्तोऽपि न स्वकार्याणि युगपद् निर्वर्तयति तथा पुरुषोऽपीति वाच्यम्, यत ऊर्णनाभस्यापि प्राणिभक्षणलाम्पट्यात् स्वकार्ये प्रवृत्तिर्न स्वभावतः अन्यथा तत्राप्यस्य दोषस्य समानत्वात् न ह्यसौ नित्यैकस्वभावः अपि तु स्वहेतुबलभाव्यपरापरकादाचित्कशक्तिमानिति तद्भाविनः कार्यस्य क्रमप्रवृत्तिरुपपन्नैव । न च यथा कथंचिद् अबुद्धिपूर्वकमेव पुरुषो जगन्निर्वर्तने प्रवर्तते, प्राकृतपुरुषादप्येवमस्य हीनतया प्रेक्षापूर्वकारिणामनवधेयवचनताप्रसक्तेः । एवं प्रजापतिप्रभृतीनामपि जगत्कारणत्वेनाभीष्टानां निरासो द्रष्टव्यः न्यायस्य समानत्वात् । तन्न कालाद्येकान्ताः प्रमाणतः संभवन्तीति तद्वादो मिथ्यावाद इति स्थितम् । त एव अन्योन्यसव्यपेक्षा नित्याद्येकान्तव्यपोहेन एकानेकस्वभावाः कार्यनिर्वर्तनपटवः प्रमाणविषयतया परमार्थसन्त इति तत्प्रतिपादकस्य शास्त्रस्यापि सम्यक्त्वमिति तद्वादः सम्यग्वादतया व्यवस्थितः ॥ ५३ ॥

[आत्मन्येकान्तरूपस्य नास्तित्वादिवादषट्कस्य मिथ्यारूपत्वकथनम्]

यथैते कालाद्येकान्ता मिथ्यात्वमनुभवन्ति स्याद्वादोपग्रहात् तु त एव सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्ते तथा आत्माऽपि एकान्तनित्याऽनित्यत्वादिधर्माध्यासितो मिथ्यात्वम् अनेकान्तरूपतया तु अभ्युपगम्यमानः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यत इत्याह—

णत्थि ण णिच्चो ण कुणइ कयं ण वेएइ णत्थि णिव्वाणं ।
णत्थि य मोक्खोवाओ छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥ ५४ ॥

---

१ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७८ पं० १०-।

२ "अथ स्वभावतो वृत्तिरित्यादिना उद्द्योतकरमतमाशङ्कते—
अथ स्वभावतो वृत्तिः सर्गादावस्य वर्ण्यते । पावकादेः प्रकृत्यैव यथा दाहादिकर्मणि ॥
यद्येवमखिला भावा भवेयुर्युगपत् ततः । तदुत्पादनसामर्थ्ययोगिकारणसन्निधेः" ॥
—तत्त्वसं० का० १६४-१६५-पृ० ७८ ।

एतदेवोद्द्योतकरीयं मतं न्यायवार्तिके इत्थमुपन्यस्तमस्ति—
"किमर्थं तर्हि करोति ? तत्स्वाभाव्यात् प्रवर्तते इत्यदुष्टम्—यथा भूम्यादीनि धारणादिक्रियां तत्स्वाभाव्यात् कुर्वन्ति तथेश्वरोऽपि तत्स्वाभाव्यात् प्रवर्तत इति प्रवृत्तिस्वभावकं तत् तत्त्वमिति" इत्यादि—४-१-२१ पृ० ४६२ पं० ४—।

३ "स्वहेतुबलसम्भूता नियता एव शक्तयः । असर्वकालभाविन्यो ज्वलनादिषु वस्तुषु ॥
अन्यथा यौगपद्येन सर्वं कार्यं समुद्भवेत् । तेषामपि न चेदेष नियमोऽभ्युपगम्यते" ॥
—तत्त्वसं० का० १६६-१६७ पृ० ७८-७९ ।

४ "प्रकृत्यैवांशुहेतुत्वमूर्णनाभेऽपि नेष्यते । प्राणिभक्षणलाम्पट्याल्लालाजालं करोति यत्" ॥
—तत्त्वसं० का० १६८ पृ० ७९ ।

५ "यथाकथंचिद्वृत्तिश्चेद् बुद्धिमत्ताऽस्य कीदृशी । नासमीक्ष्य यतः कार्यं शनकोऽपि प्रवर्तते" ॥
—तत्त्वसं० का० १६९ पृ० ७९ ।

६ "शौर्यात्मजादयो येऽपि धातारः परिकल्पिताः । एतेनैव प्रकारेण निरस्तास्तेऽपि वस्तुतः" ॥
—तत्त्वसं० का० १७० पृ० ७९ ।

नास्ति आत्मा एकान्तत इति बृहस्पतिमतानुसारी। अस्ति आत्मा किन्तु प्रतिक्षणविशरारुतया चित्तसंततेर्न **नित्य** इति बौद्धाः। अस्ति आत्मा नित्यो भोक्ता **न तु करोति** इति सांख्या- त एव प्राहुः कर्ता असौ न भोक्ता प्रकृतिवत् कर्तृभोक्तृत्वानुपपत्तेः। यद्वा येन कृतं कर्म नासौ तद् भुङ्क्ते क्षणिकत्वाद् चित्तसंततेः इति बौद्धाः क्षणिकत्वात् चित्तसंततेः **कृतं न वेदयते** इति बौद्ध एव आह। कर्ता भोक्ता च आत्मा किन्तु न मुच्यतेऽसौ चेतनत्वात् अभव्यवत्—रागादीनामात्मस्वरूपाऽव्यतिरेकात् तदक्षये तेषामपि अक्षयात् इति याज्ञिकाः। निर्हेतुक एवासौ मुच्यते तत्स्वभावताव्यतिरेकेण अपरस्य तत्र उपायस्य अभावात् इति मण्डली[1] माह। एतानि षड् मिथ्यात्वस्य स्थानानि षण्णामप्येषां पक्षाणां मिथ्यात्वाधारतया व्यवस्थितेः।

तथाहि—एतानि नास्तित्वादिविशेषणानि साध्यधर्मिविशेषणतया उपादीयमानानि किं प्रतिपक्षव्युदासेन उपादीयन्ते, आहोस्वित् कथंचित् तत्संग्रहेण इति कल्पनाद्वयम्। प्रथमपक्षे अध्यक्षविरोधः स्वसंवेदनाध्यक्षतश्चैतन्यस्य आत्मरूपस्य प्रतीतेः कथंचित् तस्य परिणामनित्यताप्रतीतेश्च शरीरादिव्यापारतः कर्तृत्वोपलब्धेश्च स्वव्यापारनिर्वर्तितभक्त-सूपादिभोक्तृत्वसंवेदनाच्च[2] पुद्गललक्षणविलक्षणतया रागादिविविक्ततया च शमसुखरसावस्थायां कथंचित् तस्य उपलब्धेश्च स्वोत्कर्षतरतमादिभावतो रागाद्यपचयतरतमभावविधायिसम्यग्ज्ञान-दर्शनादेरुपलम्भाच्च। अनुमानतोऽपि विरोधः तथाभूतज्ञानकार्यान्यथानुपपत्तितः चैतन्यलक्षणस्य आत्मनः सिद्धिः घटादिवद् रूपादिगुणतः ज्ञानस्वरूपगुणोपलम्भात् कथंचित् तदभिन्नस्य आत्मलक्षणस्य गुणिनः सिद्धिरिति कथं नानुमानविरोधः? इतरधर्मनिरपेक्षधर्मलक्षणस्य विशेषणस्य तदाधारभूतस्य च विशेष्यस्य अप्रसिद्धेः अप्रसिद्धविशेषणविशेष्योभयदोषैर्दुष्टश्च पक्षः। 'आत्मा' इति वचनेन तत्सत्ताभिधानम् 'नास्ति' इत्यनेन च तत्प्रतिषेधाभिधानमिति पदयोः प्रतिज्ञावाक्ये व्याघातः लोकविरोधश्च तथाभूतविशेषणनिर्दिष्टतया धर्मिणो लोकेन व्यवह्रियमाणत्वात् स्ववचनविरोधश्च तत्प्रतिपादकवचनस्य इतरधर्मसापेक्षतया प्रवृत्तेः। हेतुरपि इतरनिरपेक्षैकधर्मरूपोऽसिद्धः तथाभूतस्य तस्य क्वचिद् अनुपलब्धेः सर्वत्र तद्विपरीत एव भावाद् विरुद्धश्च। दृष्टान्तश्च साध्यसाधनधर्मविकलः तथाभूतसाध्यसाधनधर्माधिकरणतया कस्यचिद् धर्मिणः अप्रसिद्धेः। तत्र प्रथमः पक्षः। नापि द्वितीयः स्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात् साधनवैफल्यापत्तेश्च[3] तथाभूतस्य अनेकान्तरूपतया अस्माभिरप्यभ्युपगमात्। तस्माद् व्यवस्थितमेतद् एकान्तरूपतया षडपि एतानि मिथ्यात्वस्य स्थानानि ॥ ५४ ॥

[आत्मन्येकान्तरूपस्यास्तित्वादिवादषट्कस्य मिथ्यारूपत्वकथनम्]

न केवलं 'नास्ति' इत्यादिषण्मिथ्यात्वस्थानानि तद्विपर्ययेणापि एकान्तवादे तथैव तानीति दर्शयन्नाह—

अत्थि अविणासधम्मी करेइ वेएइ अत्थि णिव्वाणं।
अत्थि य मोक्खोवाओ छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥ ५५ ॥

'अस्ति आत्मा' इति पक्षः पूरणादेर्वादिनः। 'स च अविनाशधर्मी' इत्येषा प्रतिज्ञा कपिलमतानुसारिणः। 'कर्तृ-भोक्तृस्वभावोऽसौ' इति मतं जैमिनेः। 'तथाभूत एवासौ जडस्वरूपः' इति अक्षपाद-कणभुग्मतानुसारिणः। 'अस्ति निर्वाणम्' 'अस्ति च मोक्षोपायः' इत्यामनन्ति नास्तिक-याज्ञिकव्यतिरिक्ताः पापण्डिनः। एते च अभ्युपगमा एकान्ताभ्युपगमत्वाद् मिथ्यास्थानानि, एष्वपि पूर्ववद् विकल्पद्वयेऽपि तद्दोषानतिक्रान्तेः एकान्तेन तदस्तित्वादेरध्यक्षाऽनुमानाभ्यामप्रतीतेः तथाभ्युपगमे च स्वास्तित्वेनेवान्यभावास्तित्वेनापि[5] तस्य भावात् सर्वभावसंकीर्णताप्रसक्तेः स्वस्वरूपाऽव्यवस्थितेः खपुष्पवत् असत्त्वमेव स्यात् इत्यादिदूषणमसकृत् प्रतिपादितम्। हेतु-दृष्टान्तदोषाश्च पूर्ववद् अत्रापि वाच्याः।

चतुर्थपादं तु गाथायाः केचिद् अन्यथा पठन्ति—"छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं"ति। अत्र तु

१-ण्डलीक मा—आ०। २-भक्तरूपादि—बृ० विना। ३-पणविशि— आ० हा० वि०। पृ० प० ९। ५-स्तिकत्वेनैवा—बृ० आ० हा० वि०।

पाठे इतरधर्माऽजहद्वृत्त्या प्रवर्तमाना एते षट् पक्षाः सम्यक्त्वस्य आधारतां प्रतिपद्यन्ते इति व्याख्येयम्। न च 'स्यादस्ति आत्मा' 'स्यान्नित्यः' इत्यादिप्रतिज्ञावाक्यम् अध्यक्षादिना प्रमाणेन बाध्यते स्व-परभावाभावोभयात्मकभावावभासकाध्यक्षादिप्रमाणव्यतिरेकेण अन्यथाभूतस्य अध्यक्षादेरप्रतीतेः तेन अनुमानाऽभ्युपगम-स्ववचन-लोकव्यवहारविरोधोऽपि न प्रतिज्ञायाः अध्यक्षादिप्रमाणावसेये सदसत्त्वात्मके वस्तुनि कस्यचिद् विरोधस्यासंभवात्। न चाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः लौकिक-परीक्षकैस्तथाभूतविशेषणस्याविप्रतिपत्त्या सर्वत्र प्रतीतेः अन्यथा विशेषणव्यवहारस्य उच्छेदप्रसङ्गात् अन्यथाभूतस्य तस्य क्वचिदपि असंभवात् तथाभूतविशेषणात्मकस्य धर्मिणः सर्वत्र प्रतीतेर्नाप्रसिद्धविशेष्यतादोषः। नापि अप्रसिद्धोभयता दूषणम् तथाभूतद्वयव्यतिरेकेणान्यस्यासत्त्वतः प्रमाणाविषयत्वात्। हेतुरपि नाऽप्रसिद्धः तत्र तस्य सत्त्वप्रतीतेः, विपक्षे सत्त्वासंभवाद् नापि विरुद्धः अनैकान्तिकताऽपि अत एवायुक्ता। दृष्टान्तदोषा अपि साध्यादिविकलत्वादयो नात्र संभविनः असिद्धत्वादिदोषवत्त्वेव साधने तेषां भावात्। न च अनुमानतः अनेकान्तात्मकं वस्तु तद्वादिभिः प्रतीयते अध्यक्षसिद्धत्वात् यस्तु प्रतिपन्नेऽपि ततस्तस्मिन् विप्रतिपद्यते तं प्रति तत्प्रसिद्धेनैव न्यायेन अनुमानोपन्यासेन विप्रतिपत्तिनिराकरणमात्रमेव विधीयते इति न अप्रसिद्धविशेषणत्वादिदोषस्यावकाशः। प्रतिक्षणपरिणाम-परभागादीनां तु उत्तरविकाराऽर्वाग्भागदर्शनान्यथानुपपत्त्या अनुमाने न अध्यक्षादिबाधा अस्मदाद्यध्यक्षस्य सर्वात्मना वस्तुग्रहणाऽसामर्थ्यात् स्फटिकादौ च अर्वाग्भाग-परभागयोरध्यक्षत एवैकदा प्रतिपत्तेः। न च स्थैर्यग्राह्यध्यक्षं प्रतिक्षणपरिणामानुमानेन विरुध्यते अस्य तदनुग्राहकत्वात् कथंचित् प्रतिक्षणपरिणामस्य तत्प्रतीतस्यैव अनुमानतोऽपि निश्चयात्॥ ५५॥

[एकान्तवादिनः साधर्म्येण वा वैधर्म्येण वैकान्तधर्मयुक्तधर्मिसाधनाशक्तताभिधानम्]

अनेकान्तव्यवच्छेदेन एकान्तावधारितधर्माधिकरणत्वेन धर्मिणं साधयन्नेकान्तवादी न साधर्म्यतः साधयितुं प्रभुः नापि वैधर्म्यतः इति प्रतिपादयन्नाह—

साहम्मउ व्व अत्थं साहेज्ज परो विहम्मओ वा वि।
अण्णोण्णं पडिकुट्ठा दोण्णवि एए असव्वाया॥ ५६॥

समानस्तुल्यः साध्यसामान्यान्वितः साधनधर्मो यस्य असौ सधर्मा साधर्म्यदृष्टान्तापेक्षया साध्यधर्मी तस्य भावः **साधर्म्यम् ततो वा अर्थं** साध्यधर्माधिकरणतया धर्मिणं **साधयेत् परः** अन्वयिहेतुप्रदर्शनात् साध्यधर्मिणि विवक्षितं साध्यं यदि वैशेषिकादिः साधयेत् तदा तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्वं स्यात् अन्वयमात्रस्य तत्रापि भावात्। अथ **वैधर्म्याद्** विगतस्तथाभूतः साधनधर्मो यस्माद् असौ विधर्मा तस्य भावो वैधर्म्यम् ततो वा व्यतिरेकिणो हेतोः प्रकृतं साध्यं साधयेत् उभाभ्यां वा-'वा' शब्दस्य समुच्चयार्थत्वात्—तथापि तत्पुत्रत्वादेरेव गमकत्वप्रसक्तिः श्यामत्वाभावे तत्पुत्रत्वादेरन्यत्र गौरपुरुषेऽभावाद् उभाभ्यामपि तत्साधने अत एव साध्यसिद्धिप्रसक्तिः स्यात्।

[प्रसङ्गाद् हेत्वाभाससंख्याविषया चर्चा]

अथात्र कालात्ययापदिष्टत्वादिदोषसद्भावाद् न साध्यसाधकताप्रसक्तिः, न; असिद्ध-विरुद्धाऽनैकान्तिकहेत्वाभासमन्तरेणापरहेत्वाभासासंभवात्। न च त्रैरूप्यलक्षणयोगिनोऽसिद्धत्वादिहेत्वाभासता कृतकत्वादेरिव अनित्यत्वसाधने संभवति, अस्ति च भवदभिप्रायेण त्रैरूप्यं प्रकृतहेताविति कुतोऽस्य हेत्वाभासता?

अथ भवतु अयं दोषः येषां त्रैरूप्येऽविनाभावपरिसमाप्तिः नास्माकं पञ्चलक्षणहेतुवादिनाम् प्रकरणसमादेरपि हेत्वाभासत्वोपपत्तेः त्रैलक्षण्यसद्भावेऽपि अपरस्यासत्प्रतिपक्षत्वादेर्हेतुलक्षणस्यासंभवेन तदाभासत्वसंभवात्। "यस्मात् प्रकरणचिन्ता स प्रकरणसमः" [न्यायद० १-२-७] इति प्रकरणसमस्य लक्षणाभिधानात्—प्रक्रियेते साध्यत्वेनाधिक्रियेते निश्चितौ पक्ष-प्रतिपक्षौ यौ तौ प्रकरणम् तस्य चिन्ता संशयात् प्रभृत्यानिश्चयाद् आलोचनस्वभावा यतो भवति स एव तन्निश्चयार्थं

---

१ "यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः" इति पाठो न्यायदर्शने।

प्रयुक्तः प्रकरणसमः पक्षद्वयेऽपि तस्य समानत्वात् उभयत्रापि अन्वयादिसद्भावात्। तथाहि—तस्योदाहरणम्—अनित्यः शब्दः नित्यधर्मानुपलब्धेः अनुपलभ्यमाननित्यधर्मकं घटादि अनित्यं दृष्टम् यत् पुनर्नित्यं न तद् अनुपलभ्यमाननित्यधर्मकम् यथा आत्मादि। एवं चिन्तासंबन्धिपुरुषेण तत्त्वानुपलब्धेरेकदेशभूताया अन्यतरानुपलब्धेः अनित्यत्वसिद्धौ साधनत्वेन उपन्यासे सति द्वितीयश्चिन्तासंबन्धी पुरुष आह—यदि अनेन प्रकारेण अनित्यत्वं साध्यते तर्हि नित्यतासिद्धिरपि अन्यतरानुपलब्धेस्तत्रापि सद्भावात्। तथाहि—नित्यः शब्दः अनित्यधर्मानुपलब्धेः अनुपलभ्यमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टम् आत्मादि यत् पुनर्न नित्यं तत् नानुपलभ्यमानाऽनित्यधर्मकम् यथा घटादि। एवमन्यतरानुपलब्धेरुभयपक्षसाधारणत्वात् प्रकरणानतिवृत्तेर्हेत्वाभासत्वम् न च निश्चितयोः पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रहेऽधिकारात् कथं चिन्तायुक्त एवं साधनोपन्यासं विदध्यात् इति वक्तव्यम् यतोऽन्यदा संदेहेऽपि चिन्तासंबन्धी पुरुषः अन्यतरानुपलब्धेः पक्षधर्मान्वय-व्यतिरेकान् अवगच्छन् तद्बलात् स्वसाध्यं यदा निश्चिनोति तदा द्वितीयस्तामेव स्वसाध्यसाधनाय हेतुत्वेन अभिधत्ते। यदि अतः त्वत्पक्षसिद्धिः अत एव मत्पक्षसिद्धिः किं न भवेत् त्रैरूप्यस्य पक्षद्वयेऽपि अत्र तुल्यत्वात्। अथ नित्यत्वाऽनित्यत्वैकान्तविपर्ययेणापि अस्याः प्रवृत्तेः अनैकान्तिकता उभयवृत्तिर्हि अनैकान्तिकः न प्रकरणसमः, न; यत्र पक्ष-सपक्ष-विपक्षाणां तुल्यो धर्मो हेतुत्वेन उपादीयते तत्र संशयहेतुता साधारणत्वेन तस्य विरुद्धविशेषानुसारकत्वात् न तु प्रकृत एवंविधः यतः नित्यधर्मानुपलब्धेरनित्य एव भावः न नित्ये एवम् अनित्यधर्मानुपलब्धेर्नित्य एव भावः नाऽनित्ये एवं च एकत्र साध्ये विपक्षव्यावृत्तेः प्रकरणसमता न अनैकान्तिकता पक्षद्वयवृत्तितया तस्याभावात्। ननु यदि अयं पक्षद्वये वर्तते तदा साधारणानैकान्तिकः अथ न प्रवर्तते कथमयं पक्षद्वयसाधकः स्यात् अतद्वृत्तेः अतत्साधकत्वात्, न; पक्षद्वये प्रकृतस्य वृत्त्यभ्युपगमात्। तथाहि—साधनकाले अनित्यपक्ष एव नित्यधर्मानुपलब्धिर्वर्तते न नित्ये, यदाऽपि नित्यत्वं साध्यं तदापि नित्यपक्ष एव अनित्यधर्मानुपलब्धिर्वर्तते नाऽनित्ये, ततश्च सपक्षे एव प्रकरणसमस्य वृत्तिः सपक्ष-विपक्षयोश्च अनैकान्तिकस्य; साध्यापेक्षया च पक्ष-सपक्ष-विपक्षव्यवहारः नान्यथा तेन साध्यद्वयवृत्तिः उभयसाध्यसपक्ष-वृत्तिश्च प्रकरणसमः नतु कदाचित् साध्यापेक्षया विपक्षवृत्तिः अनैकान्तिकस्तु विपक्षवृत्तिरपि इत्यस्मात् अस्य भेदः। न च रूपत्रययोगेऽपि अस्य हेतुत्वम् सप्रतिपक्षत्वात् यस्य तु प्रतिबन्धपरिसमाप्ती रूपत्रययोगे तेन प्रकरणसमस्य नाहेतुत्वमुपदर्शयितुं शक्यम्। न चास्य कालात्ययापदिष्टत्वम् अबाधितविषयत्वात् ययोर्हि प्रकरणचिन्ता तयोरयं हेतुः न च तौ संदिग्धत्वात् बाधामस्योपदर्शयितुं क्षमौ। न च हेतुद्वयसंनिपातात् एकत्र धर्मिणि संशयोत्पत्तेस्तज्जनकत्वेनास्य अनैकान्तिकता यतो न संशयहेतुत्वेन अनैकान्तिकत्वम् इन्द्रियसंनिकर्षादेरपि तथात्वप्रसक्तेः। न च तत्त्वानुपलब्धिर्विशेषस्मृत्यादिशून्या संशयकारणम् न च तत्सहिताया अस्या हेतुत्वम् केवलाया एव तत्त्वेन उपन्यासात्। न च

अन्यतरशब्दवाच्यस्तदा हेतोरसिद्धता सपक्षयोर्घटाऽऽकाशयोः शब्दाख्ये धर्मिणि अप्रवृत्तेः असिद्धे अन्तर्भूतस्य अस्य न प्रकरणसमता। न च पक्ष-सपक्षयोर्व्यतिरिक्तः कश्चिद् अन्यतरशब्दवाच्यः यस्य पक्षधर्मता अन्वयश्च भवेत्। तन्नायं हेतुः।

अत्र प्रतिविदधति—भवेदेष दोषः यदि पक्ष-सपक्षयोर्विशेषशब्दवाच्ययोर्हेतुत्वं विवक्षितं भवेत्; तच्च न, अन्यतरशब्दाभिधेयस्यैव हेतुत्वेन विवक्षितत्वात्; स च पक्ष-सपक्षयोः साधारणः तस्यैव साधारणशब्दाभिधेयत्वात्। यदि च अनुगतो द्वयोर्धर्मः कश्चित् शब्दवाच्यो न भवेत् तदा 'विशेष'-शब्दवत् 'अन्यतर'शब्दोऽपि न तत्र प्रवर्तेत। नापि तच्छब्दात् उभयत्र प्रतीतिर्भवेत् दृश्यते च तस्मात् पक्षताम् सपक्षतां चासाधारणरूपत्वेन कल्पितां परित्यज्य अन्यतरशब्दो द्वयोरपि वाचकत्वेन योग्यः ततो या विशेषप्रतीतिः सा पुरुषविवक्षानिबन्धना यदा हि साधनप्रयोक्ता पक्षधर्मत्वमस्य विवक्षति तदा 'अन्यतर'शब्दवाच्यः पक्षः सपक्षे अनुगमविवक्षायां तु सपक्षस्तच्छब्दवाच्यः एतदभिप्रायवांश्च 'अन्यतर'शब्दवाच्यं हेतुत्वेन प्रतिपादयति न 'विशेष'शब्दवाच्यम्। न च विवक्षानिबन्धनशब्दप्रवृत्तौ पक्षादिशब्दवत्'अन्यतर'शब्दोऽपि विशेषाभिधायी स्यात् यतो लोकव्यवहाराच्छब्दार्थसंबन्धव्युत्पत्तिः तत्र च 'पक्ष'शब्दस्य न सपक्षे प्रवृत्तिः नापि 'सपक्ष'शब्दस्य पक्षे यथा च अनयोः संकेतादपि नान्यत्र वृत्तिः एवम् 'अन्यतर'शब्दस्य सामान्ये संकेतितस्य न विशेष एव वृत्तिः उभयाभिधायकत्वे तु विवक्षावशेन अन्यतरत्र नियमः। न चैवमपि विशेषे तस्य वृत्तौ दूषणं तदवस्थमेव, एवंदोषोद्भावने कस्यचित् सम्यग्घेतुत्वानुपपत्तेः कृतकत्वादेरपि पक्षधर्मत्वविवक्षायां विशेषरूपत्वात् अनुगमाभावात् सपक्षविशेषितस्य पक्षधर्मत्वायोगात्। अथ कृतकत्वमात्रस्य हेतुत्वेन विवक्षातो न दोषस्तर्हि तत् प्रकृतेऽपि तुल्यम् 'अन्यतर'शब्दस्यापि अनङ्गीकृतविशेषस्य द्वयाभिधाने सामर्थ्योपपत्तेः। एतेन यदुक्तं न्यायविदा—"अनर्थः खल्वपि कल्पनासमारोपितो न लिङ्गम् तथा पक्ष एवायं पक्ष-सपक्षयोरन्यतरः" [ ] इत्यादि तदपि निरस्तम् त्रैरूप्यसद्भावेऽपि प्रकरणसमत्वेनास्यागमकत्वात्। प्रत्यक्षाऽऽगमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तः कालात्ययापदिष्टोऽपि हेत्वाभासोऽपरोऽभ्युपगतः यथा 'पक्वानि एतानि आम्रफलानि, एकशाखाप्रभवत्वात्, उपयुक्तफलवत्' अस्य हि रूपत्रययोगिनोऽपि प्रत्यक्षबाधितकर्मानन्तरप्रयोगात् कालात्ययापदिष्टता अगमकत्वे निबन्धनम्-हेतोः कालः अदुष्टकर्मानन्तरं प्रयोगः प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य तु दुष्टकर्मानन्तरं प्रयोगात् हेतुकालव्यतिक्रमेण प्रयोगः तस्माच्च कालात्ययापदिष्टशब्दाभिधेयता हेत्वाभासता च। तदुक्तं न्यायभाष्यकृता—"यत् पुनरनुमानं प्रत्यक्षाऽऽगमविरुद्धं न्यायाभासः स इति" [वात्स्यायनभा० पृ० ४ पं० ५] तदेवं पञ्चलक्षणयोगिनि हेतौ अविनाभावपरिसमाप्तेः तत्पुत्रत्वादौ तु त्रैलक्षण्येऽपि कालात्ययापदिष्टत्वान्न गमकत्वम् इति नैयायिकाः।

असदेतत्, असिद्धादिव्यतिरेकेण अपरस्य प्रकरणसमादेः हेत्वाभासस्यायोगात्। यच्च प्रकरणसमस्य 'अनित्यः शब्दः अनुपलभ्यमाननित्यधर्मकत्वात्' इति उदाहरणं प्रदर्शितम् तद् असंगतमेव, यतः अनुपलभ्यमाननित्यधर्मकत्वं यदि शब्दे न तत्त्वतः सिद्धं तदा पक्षवृत्तितयास्यासिद्धेः कथं नासिद्धः? अथ तत् तत्र सिद्धम् तदा किं साध्यधर्मान्विते धर्मिणि तत् सिद्धम्, उत तद्विकल इति वक्तव्यम्। यदि तदन्विते तदा साध्यवत्येव धर्मिणि तस्य सद्भावसिद्धेः कथमगमकता न हि साध्यधर्ममन्तरेण धर्मिण्यभवनं विहाय अपरं हेतोः अविनाभावित्वम् तच्चेत् समस्ति कथं न गमकता अविनाभावनिबन्धनत्वात् तस्याः? अथ तद्विकले तत् तत्र सिद्धं तदा तत्र वर्तमानो हेतुः कथं न विरुद्धः विपक्ष एव वर्तमानस्य विरुद्धत्वात्? भवति च साध्यधर्मविकल एव धर्मिणि वर्तमानो विपक्षवृत्तिः। अथ संदिग्धसाध्यधर्मवति तत् तत्र वर्तते तदा संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वाद् अनैकान्तिकः। अथ साध्यधर्मव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे यस्य साध्याभाव एव दर्शनं स विरुद्धः यस्य च तदभावेऽपि असौ अनैकान्तिकः न हि धर्मिण एव विपक्षता तस्य हि विपक्षत्वे सर्वस्य हेतोः अहेतुत्वप्रसक्तेः यतः साध्यधर्मी साध्यधर्मसदसत्त्वाश्रयत्वेन सर्वदा संदिग्ध एव साध्यसिद्धेः प्राग् अन्यथा साध्याभावे निश्चिते साध्याभावनिश्चायकेन प्रमाणेन बाधितत्वात् हेतोरप्रवृत्तिरेव स्यात्। प्रत्यक्षादिप्रमाणेन च साध्यधर्मयुक्ततया धर्मिणो निश्चये हेतोर्वैयर्थ्यप्रसक्तिः प्रत्यक्षादित एव हेतुसाध्यस्य

१-तां घा सा—भां०। २ पृ० ७२० पं० ३।

सिद्धेः तस्मात् संदिग्धसाध्यधर्मा धर्मी हेतोराश्रयत्वेन एष्टव्य इति यदि अनैकान्तिकस्तत्र वर्तमानो हेतुर्धूमादिरपि तर्हि तथाविध एव स्यात् तस्यापि एवं संदिग्धव्यतिरेकित्वात् यदि हि विपक्षवृत्तित्वेन निश्चितो यथाऽगमकस्तथा संदिग्धव्यतिरेक्यपि अनुमानप्रामाण्यं परित्यक्तमेव भवेत् ततोऽनुमेयव्यतिरिक्ते साध्यधर्मवति वर्तमानः साध्याभावे चानैकान्तिको हेतुः साध्याभाववत्येव तु वर्तमानः पक्षधर्मत्वे सति विरुद्ध इत्यभ्युपगन्तव्यम्। यश्च विपक्षाद् व्यावृत्तः सपक्षे च अनुगतः पक्षधर्मो निश्चितः स स्वसाध्यं गमयति प्रकृतस्तु यद्यपि विपक्षाद् व्यावृत्तस्तथापि न स्वसाध्यसाधकः प्रतिबन्धस्य स्वसाध्येनानिश्चयात् तदनिश्चयश्च न विपक्षवृत्तित्वेन किन्तु प्रकरणसमत्वेन एकशाखाप्रभवत्वादेस्तु कालात्ययापदिष्टत्वेन इति, असदेतत्; यतो यदि धर्मिव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे हेतोः स्वसाध्येन प्रतिबन्धोऽभ्युपगम्यते तदा धर्मिण्युपादीयमानोऽपि हेतुः साध्यस्योपस्थापको न स्यात् साध्यधर्मिणि साध्यमन्तरेणापि हेतोः सद्भावाभ्युपगमात् तद्व्यतिरिक्त एव धर्म्यन्तरे तस्य साध्येन प्रतिबन्धग्रहणात्। न चान्यत्र स्वसाध्याविनाभावित्वेन निश्चितः अन्यत्र साध्यं गमयेत् अतिप्रसङ्गात्। अथ यदि साध्यधर्मान्वितत्वेन साध्यधर्मिण्यपि हेतुरन्वयप्रदर्शनकाल एव निश्चितस्तदा पूर्वमेव साध्यधर्मस्य साध्यधर्मिणि निश्चयात् पक्षधर्मताग्रहणस्य वैयर्थ्यम्, असदेतत्; यतः प्रतिबन्धप्रसाधकेन प्रमाणेन सर्वोपसंहारेण साधनधर्मः साध्यधर्माभावे क्वचिदपि न भवतीति सामान्येन प्रतिबन्धनिश्चये पक्षधर्मताग्रहणकाले यत्रैव धर्मिण्युपलभ्यते हेतुस्तत्रैव स्वसाध्यं निश्चाययतीति पक्षधर्मताग्रहणस्य विशेषविषयप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वाच्चानुमानस्य वैयर्थ्यम् न हि विशिष्टधर्मिण्युपलभ्यमानो हेतुस्तद्गतसाध्यमन्तरेण उपपत्तिमान् अन्यथा तस्य स्वसाध्यव्याप्तत्वायोगात्। न चैवं तत्र हेतूपलम्भेऽपि साध्यविषयसदसत्त्वानिश्चयः येन संदिग्धव्यतिरेकिता हेतोः सर्वत्र भवेत् निश्चितस्वसाध्याविनाभूतहेतूपलम्भस्यैव साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्तिरूपत्वात् न हि तत्र तथाभूतहेतुनिश्चयात् अपरस्तस्य स्वसाध्यप्रतिपादनव्यापारः अत एव निश्चितप्रतिबन्धैकहेतुसद्भावे धर्मिणि न विपरीतसाध्योपस्थापकस्य तल्लक्षणयोगिनो हेत्वन्तरस्य सद्भावः तयोर्द्वयोरपि स्वसाध्याविनाभूतत्वात् नित्याऽनित्यत्वयोश्च एकत्र एकदा एकान्तवादिमतेन विरोधात् असंभवात् तद्व्यवस्थापकहेत्वोरपि असंभवस्य न्यायप्राप्तत्वात् संभवे वा तयोः स्वसाध्याविनाभूतत्वात् नित्याऽनित्यत्वधर्मयुक्तत्वं धर्मिणः स्यादिति कुतः प्रकरणसमस्यागमकता? अथान्यतरस्यात्र स्वसाध्याविनाभावविकलता तर्हि तत एव तस्यागमकता इति किमसत्प्रतिपक्षतारूपप्रतिपादनप्रयासेन? किञ्च, नित्यधर्मानुपलब्धिः प्रसज्यप्रतिषेधरूपा, पर्युदासरूपा वा शब्दानित्यत्वे हेतुः? न तावत् आद्यः पक्षः अनुपलब्धिमात्रस्य तुच्छस्य साध्यासाधकत्वात्। अथ द्वितीयः तदा अनित्यधर्मोपलब्धिरेव हेतुरिति यद्यसौ शब्दे सिद्धा कथं नानित्यतासिद्धिः? अथ चिन्तासंबन्धिना पुरुषेणासौ प्रयुज्यत इति न तत्र निश्चिता तर्हि कथं न संदिग्धासिद्धो हेतुर्वादिनं प्रति प्रतिवादिनस्तु असौ स्वरूपासिद्ध एव नित्यधर्मोपलब्धेस्तत्र तस्य सिद्धेः। यदपि 'उभयानुपलब्धिनिबन्धना यदा द्वयोरपि चिन्ता तदैकदेशोपलब्धेरन्यतरेण हेतुत्वेन उपादाने कथं चिन्तासंबन्ध्येव द्वितीयः तस्याऽसिद्धतां वक्तुं पारयति' इत्याद्यभिधानम्, तदपि असंगतम्; यतो यदि द्वितीयः संशयापन्नत्वात् तत्रासिद्धतां नोद्भावयितुं समर्थः प्रथमोऽपि तर्हि कथं संशयितत्वादेव तस्य हेतुतामभिधातुं शक्तो भवेत्। अथ संशयितोऽपि तत्र हेतुतामभिदध्यात् तर्हि असिद्धतामप्यभिदध्यात् भ्रान्तेरुभयत्राविशेषात्। यदपि 'साधनकाले नित्यधर्मानुपलब्धिः अनित्यपक्ष एव वर्तते न विपक्षे' इत्याद्यभिधानम् तदपि असंगतम्; विपक्षाद् एकान्ततोऽस्य व्यावृत्तौ पक्षधर्मत्वे च स्वसाध्यसाधकत्वमेव अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकव्यवच्छेदेन अपरत्र वृत्तिनिश्चये गत्यन्तराभावात् न हि योऽनित्यपक्ष एव वर्तमानो निश्चितो वस्तुधर्मः स तत्र साधयतीति वक्तुं युक्तम्। अथ द्वितीयोऽपि वस्तुधर्मस्तत्र तथैव निश्चितः, न; परस्परविरुद्धधर्मयोस्तदविनाभूतयोर्वा एकत्र धर्मिण्ययोगात् योगे वा नित्यानित्यत्वयोः शब्दाख्ये धर्मिणि एकदा सद्भावाद् अनेकान्तरूपवस्तुसद्भावोऽभ्युपगतः स्यात् तमन्तरेण तद्धेत्वोः स्वसाध्याविनाभूतयोस्तत्रायोगात्। अथ द्वयोस्तुल्यबलयोरेकत्र प्रवृत्तौ परस्परविषयप्रतिबन्धान्न स्वसाध्यसाधकत्वम्, असदेतत्, स्वसाध्याविनाभूतयोर्धर्मिणि तयोरुपलब्धिरेव स्वसाध्यसाधकत्वमिति कुतस्तत्सद्भावे परस्परविषयप्रतिबन्धः? तत्प्रतिबन्धो हि तयोस्तथाभूतयो-

---

१ साध्यधर्ममन्तरे—वा० बा०। २ पृ० ७२० पं० १६। ३-च्छेदरू—वा० बा०।

स्तत्राप्रवृत्तिः सा च त्रैरूप्याभ्युपगमे विरोधाद् अयुक्ता भावाऽभावयोः परस्परपरिहार-स्थितलक्षणतया एकत्रायोगात्। अथ द्वयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपयोः एकत्रायोगाद् अनित्यधर्मानुपलब्धेर्नित्यधर्मानुपलब्धेर्वा बाधा, न; अनुमानस्यानुमानान्तरेण बाधाऽयोगात्। तथाहि—तुल्यबलयोर्वा तयोर्बाध्यबाधकभावः अतुल्यबलयोर्वा? न तावत् आद्यः पक्षः द्वयोस्तुल्यत्वे एकस्य बाधकत्वम् अपरस्य च बाध्यत्वमिति विशेषानुपपत्तेः। न च पक्षधर्मत्वाद्यभावादिरेकस्य विशेषः तस्यानभ्युपगमात् अभ्युपगमे वा तत एव एकस्य दुष्टत्वान्न किञ्चिद् अनुमानबाधया। तन्न पूर्वः पक्षः। नापि द्वितीयः यतः अतुल्यबलत्वं तयोः पक्षधर्मत्वादिभावाभावकृतम्, अनुमानबाधाजनितं वा? न तावत् आद्यः पक्षः तस्यानभ्युपगमात् अभ्युपगमे वाऽनुमानबाधावैयर्थ्यप्रसक्तेः। नापि द्वितीयः तस्याद्यापि विचारास्पदत्वात् न हि द्वयोस्त्रैरूप्यात् तुल्यत्वे एकस्य बाध्यत्वम् अपरस्य च बाधकत्वम् इति व्यवस्थापयितुं शक्यम्। तन्न अनुमानबाधाकृतमपि अतुल्यबलत्वम् इतरेतराश्रयदोषापत्तेः परिस्फुटत्वात्। एतेन पक्ष-सपक्षान्यतरत्वादेरपि प्रकरणसमस्य व्युदासः कृतो द्रष्टव्यः न्यायस्य समानत्वात्। यदपि 'अत्र असाधारणत्वाऽसिद्धत्वदोषद्वयनिरासार्थमन्यतरशब्दाभिधेयत्वं पक्ष-सपक्षयोः साधारणं हेतुत्वेन विवक्षितम् अन्यतरशब्दात् तथाविधार्थप्रतिपत्तेः तस्य तत्र योग्यत्वात्' इत्यभिधानम्, तदपि असंगतम्; यतः यत्रानियमेन फलसंबन्धो विवक्षितो भवति तत्रैव लोके 'अन्यतर'शब्दप्रयोगो दृष्टः यथा 'देवदत्त-यज्ञदत्तयोरन्यतरं भोजय' इत्यत्र अनियमेन देवदत्तः यज्ञदत्तो वा भोजनक्रियया संबध्यते इति 'अन्यतर'शब्दप्रयोगः न चैवं शब्दः पक्ष-सपक्षयोरन्यतरः तस्य पक्षत्वेन 'अन्यतर'शब्दवाच्यत्वाऽयोगात्। यदपि 'यदा पक्षधर्मत्वं प्रयोक्ता विवक्षति तदा 'अन्यतर'शब्दवाच्यः पक्षः' इत्याद्यभिधानम्, तदपि असंगतम्; एवंविवक्षायामस्य कल्पनासमारोपितत्वे अनर्थरूपतया लिङ्गत्वानुपपत्तेः न हि कल्पनाविरचितस्यार्थत्वम् त्रैरूप्यं वा उपपत्तिमत् अतिप्रसङ्गात् तत्त्वे वा अन्यस्य गमकतानिबन्धनस्याभावात् सम्यग्घेतुत्वं स्यात् इति उक्तं प्राक्। कालात्ययापदिष्टस्य तु लक्षणमसंगतमेव न हि प्रमाणप्रसिद्धत्रैरूप्यसद्भावे हेतोर्विषयबाधा संभविनी तयोर्विरोधात् साध्यसद्भाव एव हेतोर्धर्मिणि सद्भावस्त्रैरूप्यम् तदभाव एव च तत्र तत्सद्भावो बाधा भावाभावयोश्च एकत्र एकस्य विरोधः। किञ्च, अध्यक्षाऽऽगमयोः कुतो हेतुविषयबाधकत्वमिति वक्तव्यम्, स्वार्थासंभवे तयोरभावात् इति चेत् हेतावपि सति त्रैरूप्ये तत् समानमित्यसावपि तयोर्विषये बाधकः स्यात् दृश्यते हि चन्द्रार्कादिस्थैर्यग्राहि अध्यक्षं देशान्तरप्राप्तिलिङ्गप्रभवतद्गत्यनुमानेन बाध्यमानम्। अथ तत्स्थैर्यग्राह्यध्यक्षस्य तदाऽऽभासत्वाद् बाध्यत्वं तर्हि एकशाखाप्रभवत्वानुमानस्यापि तदाभासत्वाद् बाध्यत्वमित्यभ्युपगन्तव्यम्। न चैवमस्त्विति वक्तव्यम् यतस्तस्य तदाभासत्वं किमध्यक्षबाध्यत्वात्, उत त्रैरूप्यवैकल्यात्? न तावत् आद्यः पक्षः इतरेतराश्रयदोषसद्भावात्—तदाभासत्वे अध्यक्षबाध्यत्वम् ततश्च तदाभासत्वमिति एकाऽसिद्धौ अन्यतराऽप्रसिद्धेः। नापि द्वितीयः त्रैरूप्यसद्भावस्य तत्र परेणाभ्युपगमात् अनभ्युपगमे वा तत एव तस्यागमकतोपपत्तेरध्यक्षबाधाभ्युपगमवैयर्थ्यात्। न चाबाधितविषयत्वं हेतुलक्षणमुपपन्नम् त्रैरूप्यवन्निश्चितस्यैव तस्य गमकाङ्गतोपपत्तेः। न च तस्य निश्चयः संभवति, स्वसंबन्धिनोऽबाधितत्वनिश्चयस्य तत्कालभाविनः असम्यगनुमानेऽपि सद्भावात् उत्तरकालभाविनः असिद्धत्वात्, सर्वसंबन्धिनस्तादात्विकस्य उत्तरकालभाविनश्चासिद्धत्वात्। न हि अर्वाग्दृशा 'सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामत्र बाधकस्याभावः' इति निश्चेतुं शक्यम्, तन्निश्चयनिबन्धनस्याभावात् नानुपलम्भस्तन्निबन्धनः सर्वसंबन्धिनस्तस्यासिद्धत्वात्, आत्मसंबन्धिनः अनैकान्तिकत्वान्न संवादस्तन्निबन्धनः प्राग् अनुमानप्रवृत्तेस्तस्यासिद्धेः अनुमानोत्तरकालं तत्सिद्ध्यभ्युपगमे इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि—अनुमानात् प्रवृत्तौ संवादनिश्चयः ततश्चाबाधितत्वावगमे अनुमानप्रवृत्तिरिति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम्। न चाविनाभावनिश्चयादपि अबाधितविषयत्वनिश्चयः, पञ्चलक्षणयोग्यविनाभावपरिसमाप्तिवादिनामबाधितविषयत्वानिश्चये अविनाभावनिश्चयस्यैव असंभवात्। यदि च प्रत्यक्षाऽऽगमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तस्यैव कालात्ययापदिष्टत्वम् तर्हि 'मूर्खोऽयं देवदत्तः, त्वत्पुत्रत्वात्, उभयाभिमतत्वत्पुत्रवत्' इत्यस्यापि गमकता स्यात्। न हि सकलशास्त्रव्याख्यातृत्वलिङ्गजनितानुमानबाधितविषयत्वमन्तरेण अन्यद् अध्यक्षबाधितविषयत्वम् आगमबाधितविषयत्वं वा अगम-

---

१-प्यातु-भां० मां० विना।

कतानिबन्धनमस्यास्ति। न चानुमानस्य तुल्यबलत्वान्नानुमानं प्रति बाधकता संभविनी इति वक्तव्यम्, निश्चितप्रतिबन्धलिङ्गसमुत्थस्यानुमानस्यानिश्चितप्रतिबन्धलिङ्गसमुत्थेन अतुल्यबलत्वात् अत एव न साधर्म्यमात्राद् हेतुर्गमकः अपि तु आक्षिप्तव्यतिरेकात् साधर्म्यविशेषात्। नापि व्यतिरेकमात्रात् किन्तु आक्षिप्तान्वयात् तद्विशेषात्। न च परस्परानुविद्धोभयमात्रादपि अपि तु परस्परस्वरूपाजहद्वृत्तिसाधर्म्य-वैधर्म्यरूपवत्त्वात्। न च प्रकृतहेतौ प्रतिबन्धनिश्चायकप्रमाणनिबन्धनं त्रैरूप्यं निश्चितमिति, तदभावादेव अस्य हेत्वाभासत्वम् न पुनरसत्प्रतिपक्षत्वाऽबाधितविषयत्वापररूपनिरहात्। यदा च पक्षधर्मत्वाद्यनेकायास्तत्वरूपात्मकमेकं लिङ्गमभ्युपगमविषयस्तदा तत् तथाभूतमेव वस्तु प्रसाधयतीति कथं न विपर्ययसिद्धिः? न च साध्यसाधनयोः परस्परतो धर्मिणश्च एकान्तभेदे पक्षधर्मत्वादिधर्मयोगो लिङ्गस्य उपपत्तिमान्, संबन्धासिद्धेः। न च समवायादेः संबन्धस्य निषेधे एकार्थसमवायादिः साध्य-साधनयोः धर्मिणश्च सम्बन्धः संभवी, एकान्तपक्षे तादात्म्य-तदुत्पत्तिलक्षणोऽप्यसौ अयुक्त एव इति 'पक्षधर्मत्वम्' इत्यादि हेतुलक्षणमसंगतमेव स्यात्। यदि च पक्षधर्मत्वादिकं हेतोस्त्रैरूप्यमभ्युपगम्यते कथं न परवादाश्रयणम् एकस्य हेतोरनेकधर्मात्मकस्य अभ्युपगमात्। न च यदेव पक्षधर्मस्य सपक्ष एव सत्त्वम् तदेव विपक्षात् सर्वतो व्यावृत्तत्वमिति वाच्यम्, अन्वय-व्यतिरेकयोर्भावाभावरूपयोः सर्वथा तादात्म्यायोगात् तत्त्वे वा केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी वा सर्वो हेतुः स्यात् न त्रिरूपवान् व्यतिरेकस्य च अभावरूपत्वात् हेतोस्तद्रूपत्वे अभावरूपो हेतुः स्यात्। न चाभावस्य तुच्छरूपत्वात् स्वसाध्येन, धर्मिणा वा संबन्ध उपपत्तिमान्। न च विपक्षे सर्वत्रासत्त्वमेव हेतोः स्वकीयं रूपं व्यतिरेकः न तुच्छाभावमात्रमिति वक्तव्यम्, यतो यदि सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तत्वम् न ततो भिन्नमस्ति तदा तस्य तदेव सावधारणं नोपपत्तिमत् वस्तुभूतान्याभावमन्तरेण प्रतिनियतस्य तस्य तत्राऽसंभवात्। अथ ततः तद् अन्यद् धर्मान्तरम् तर्हि एकरूपस्य अनेकधर्मात्मकस्य हेतोस्तथाभूतस्य साध्याविनाभूतत्वेन निश्चितस्य अनेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादनात् कथं न परोपन्यस्तहेतूनां सर्वेषां विरुद्धता एकान्तविरुद्धेनानेकान्तेन व्याप्तत्वात्?

किञ्च, हेतुः सामान्यरूपो वा उपादीयेत परैः, विशेषरूपो वा? यदि सामान्यरूपस्तदा तद् व्यक्तिभ्यो भिन्नम्, अभिन्नं वा? न तावद् भिन्नम् 'इदं सामान्यम् अयं विशेषः, अयं तद्वान्' इति वस्तुत्रयोपलम्भानुपलक्षणात् तथा च सामान्यस्य भेदेन अभ्युपगन्तुमशक्यत्वात्। न च समवायवशात् परस्परं तेषां भेदेन अनुपलक्षणम् यतः समवायस्य 'इह' बुद्धिहेतुत्वमुपगीयते, न च भेदग्रहणमन्तरेण 'इह इदमवस्थितम्' इति बुद्ध्युत्पत्तिसंभवः। किञ्च, "नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" [ ] इति काणादानां सिद्धान्तः न च सामान्यनिश्चयः संस्थानभेदावसायमन्तरेण उपपद्यते यतः दूरात् पदार्थस्वरूपमुपलभमानो नागृहीतसंस्थानभेदः अश्वत्वादिसामान्यमुपलब्धुं शक्नोति, न च संस्थानभेदावगमस्तदाधारोपलम्भमन्तरेण संभवतीति कथं नेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः। तथाहि—पदार्थग्रहणे सति संस्थानभेदावगमः तत्र च सामान्य-विशेषावबोधः तस्मिंश्च सति पदार्थस्वरूपावगतिः इति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् चक्रकप्रसङ्गो वा। किञ्च, अश्वत्वादेः सामान्यभेदस्य स्वाश्रयसर्वगतत्वे कर्कादिव्यक्तिशून्ये देशे प्रथमतरमुपजायमानाया व्यक्तेः अश्वत्वादिसामान्येन योगो न भवेत् व्यक्तिशून्ये देशे सामान्यस्य अनवस्थानात् व्यक्त्यन्तरादनागमनाच्च ततः सर्वसर्वगतं तद् अभ्युपगन्तव्यम् एवं च कर्कादिभिरिव शावलेयादिभिरपि तद् अभिव्यज्येत। न च कर्काद्यानामेव तदभिव्यक्तौ सामर्थ्यम् न शावलेयादीनामिति वाच्यम्, यतः यया प्रत्यासत्त्या ता एव तद् आत्मनि व्यवस्थापयन्ति तयैव ता एव 'अश्वः अश्वः' इति एकाकारपरामर्शप्रत्ययमुपजनयिष्यन्तीति किमपरतद्भिन्नसामान्यप्रकल्पनया? न च स्वाश्रयेन्द्रियसंयोगात् प्राक् स्वज्ञानजनने असमर्थं सामान्यं तदा परैरनाधेयातिशयम् तमपेक्ष्य स्वावभासि ज्ञानं जनयति, प्राक्तनाऽसमर्थस्वभावाऽपरित्यागे स्वभावान्तरानुत्पादे च तदयोगात् तथाभ्युपगमे च क्षणिकताप्रसक्तेः। न च स्वभावान्तरस्योपजायमानस्य ततो भेदः संबन्धासिद्धितः तत्सद्भावेऽपि प्राग्वत् तस्य स्वावभासिज्ञानजननायोगाच्च प्रतिभासः स्यात्। तथा च सामान्यस्य व्यक्तिभ्यो भेदेन अप्रतिभासमानस्य असिद्धत्वात् कथं हेतुत्वम्? किञ्च, प्रतिव्यक्ति सामान्यस्य सर्वात्मना परिसमाप्तत्वाभ्युपगमात् एकस्यां व्यक्तौ विनिवेशितस्वरूपस्य तदेव

१ साधारणं वा० बा० भा० मां० विना। २-यतस्य तत्रा—वा० बा० मां० मां०।

व्यक्त्यन्तरे वृत्त्यनुपपत्तेस्तदनुरूपप्रत्ययस्य तत्रासंभवात् असाधारणता च हेतोः स्यात् । यदि च असाधारणरूपा व्यक्तयः स्वरूपतः तदा परसामान्ययोगादपि न साधारणतां प्रतिपद्यन्त इति व्यर्था सामान्यप्रकल्पना स्वतः असाधारणस्य अन्ययोगादपि साधारणरूपत्वानुपपत्तेः स्वतस्तद्रूपत्वेऽपि निष्फला सामान्यकल्पना इति व्यक्तिव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्य अभावात् असिद्धस्तल्लक्षणो हेतुः इति कथं ततः साध्यसिद्धिः? अथ व्यक्त्यव्यतिरिक्तं सामान्यं हेतुः तदपि असंगतमेव व्यक्त्यव्यतिरिक्तस्य व्यक्तिस्वरूपवद् व्यक्त्य-न्तराननुगमात् सामान्यरूपतानुपपत्तेः व्यक्त्यन्तरसाधारणस्यैव वस्तुनः'सामान्यम्' इत्यभिधानात् तत्साधारणत्वे वा न तस्य व्यक्तिस्वरूपाऽव्यतिरिच्यमानमूर्तिता सामान्यरूपतया भेदाव्यतिरिच्यमानस्वरूपस्य विरोधात् । तन्न व्यक्त्यव्यतिरिक्तमपि सामान्यं हेतुः व्यक्तिस्वरूपवत् असाधारणत्वेन गमकत्वायोगात् अत एव न व्यक्तिरूपमपि हेतुः । न चोभयं परस्परानुविद्धं हेतुः उभयदोषप्रसङ्गात् । न अनुभयम् अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकाभावे द्वितीयविधानात् अनुभयस्य असत्त्वेन हेतुत्वायोगात् बुद्धिप्रकल्पितं च सामान्यम् अवस्तुरूपत्वात् साध्येन अप्रतिबद्धत्वात् असिद्धत्वाच्च न हेतुः । तस्मात् पदार्थान्तरानुवृत्तव्यावृत्तरूपमात्मानं बिभ्रद् एकमेव पदार्थस्वरूपं प्रतिपत्तुर्भेदाभेदप्रत्ययप्रसूतिनिबन्धनं हेतुत्वेन उपादीयमानं तथाभूतसाध्यसिद्धिनिबन्धनमभ्युपगन्तव्यम् । न च यदेव रूपं रूपान्तराद् व्यावर्तते तदेव कथमनुवृत्तिमासादयति, यच्च अनुवर्तते तत् कथं व्यावृत्तिरूपतामात्मसात्करोति इति वक्तव्यम् भेदाभेदरूपतया अध्यक्षतः प्रतीयमाने वस्तुस्वरूपे विरोधासिद्धेरिति असकृद् आवेदितत्वात् ।

किञ्च, एकान्तवाद्युपन्यस्तहेतोः किं सामान्यं साध्यम्, आहोस्विद् विशेषः, उत उभयं परस्परविविक्तम्, उतस्विद् अनुभयमिति विकल्पाः । तत्र न तावत् सामान्यम् केवलस्य तस्य असंभवात् अर्थक्रियाकारित्वविकलत्वाच्च । नापि विशेषः तस्य अननुयायित्वेन साधयितुमशक्यत्वात् । नापि उभयम् उभयदोषानतिवृत्तेः । नापि अनुभयम् तस्य असतो हेत्वव्यापकत्वेन साध्यत्वायोगात् । एतदेव आह गाथापश्चार्धेन **अन्योन्यप्रतिक्रुष्टौ** प्रतिक्षिप्तौ **द्वावपि एतौ** सामान्य-विशेषैकान्तौ **असद्वादौ** *इति । इतरविनिर्मुक्तस्य एकस्य शशशृङ्गादेरिव साधयितुमशक्यत्वात् ॥ ५६ ॥*

[परस्परभिन्नं सामान्य-विशेषयोः स्वरूपमनूद्य तस्य निराकरणम्]

सामान्य-विशेषयोः स्वरूपं परस्परविविक्तमनूद्य निराकुर्वन् आह—

दव्वट्ठियवत्तव्वं सामण्णं पज्जवस्स य विसेसो ।
एए समोवणीआ विभज्जवायं विसेसंति[1] ॥ ५७ ॥

द्रव्यास्तिकस्य वक्तव्यं वाच्यम् विशेषनिरपेक्षं **सामान्य**मात्रम्, **पर्यायास्तिकस्य** पुनः अनुस्यूताकारविविक्तो **विशेष** एव वाच्यः **एतौ** च सामान्यविशेषौ अन्योन्यनिरपेक्षौ एकैकरूपतया परस्परप्राधान्येन वा एकत्र **उपनीतौ** प्रदर्शितौ **विभज्यवादम्** अनेकान्तवादं सत्यवादस्वरूपम् **अतिशयाते** असत्यरूपतया ततः तौ अतिशयं लभेते इति यावत्—विशेषे साध्ये अनुगमाभावतः, सामान्ये साध्ये सिद्धसाधनतया साधनवैफल्यतः, प्रधानोभयरूपे साध्ये उभयदोषापत्तितः, अनुभयरूपे साध्ये उभयाभावतः साध्यत्वायोगात् । तस्माद् विवादास्पदीभूतसामान्यविशेषोभयात्मकसाध्यधर्माधारसाध्यधर्मिणि अन्योन्यानुविद्धसाधर्म्यवैधर्म्यस्वभावद्वयात्मकैकहेतुप्रदर्शनतो नैकान्तवादपक्षोक्तदोषावकाशः संभवी, अत एव गाथापश्चार्धेन—एतौ सामान्य-विशेषौ समुपनीतौ परस्परसव्यपेक्षतया 'स्यात्'पदप्रयोगतो धर्मिणि अवस्थापितौ विभज्यवादम् एकान्तवादम् **विशेषयतः** निराकुरुतः एवमेव तयोरात्मलाभात् अन्यथा अनुमानविषयस्य उक्तन्यायतः असत्त्वात् इत्यपि दर्शयति ॥ ५७ ॥

[अनेकान्तरूपतया वस्तु साधयतो वादिनोऽजेयत्वाभिधानम्]

यत्र अनुमानविषयतया अभ्युपगम्यमाने साध्ये दूषणवादिनः अवकाश एव न भवति तदेव साध्यं हेतुविषयतया अभ्युपगन्तव्यमिति दर्शयन्नाह—

1-सेसंति भां० मां० आ० हा० वि० ।

हेउविसओवणीयं जह वयणिज्जं परो नियत्तेइ ।
जइ तं तहा पुरिल्लो दाइंतो केण जिंव्वंतो ॥ ५८ ॥

हेतुविषयतया उपनीतम् उपदर्शितं साध्यधर्मिलक्षणं वस्तु पूर्वपक्षवादिना 'अनित्यः शब्दः' इत्येवं यथा वचनीयं परो दूषणवादी निवर्तयति सिद्धसाध्यताऽननुगमदोषाद्युपन्यासेन एकान्तवचनीयस्य तदितरधर्माननुपक्तस्य अनेकदोषदुष्टतया निवर्तयितुं शक्यत्वात्। यदि तत् तथा द्वितीयधर्माक्रान्तं 'स्यात्'शब्दयोजनेन पुरिल्लः पूर्वपक्षवादी अदर्शयिष्यत ततोऽसौ नैव केनचिद् अजेष्यत। जितश्चासौ तथाभूतस्य साध्यधर्मिणोऽप्रदर्शनात् प्रदर्शितस्य च एकान्तरूपस्य असत्त्वात् तत्प्रदर्शकोऽसत्यवादितया निग्रहार्ह इति ॥ ५८ ॥

[एकान्तानिश्चितरूपाभ्यां वस्तु वदतो लौकिकपरीक्षकाग्राह्यवचनत्वकथनम्]

एतदेव दर्शयन्नाह–

एयन्ताऽसब्भूयं सब्भूयमणिच्छियं च वयमाणो ।
लोइय-परिच्छियाणं वयणिज्जपहे पडइ वादी ॥ ५९ ॥

आस्तां तावत् एकान्तेन असद्भूतम् असत्यम्, सद्भूतमपि अनिश्चितं वदन् वादी लौकिकानाम् परीक्षकाणां च वचनीयमार्गं पतति। ततः अनेकान्तात्मकाद् हेतोः तथाभूतमेव साध्यधर्मिणं साधयन् वादी सद्वादी स्यादिति तथैव साध्याऽविनाभूतो हेतुर्धर्मिणि तेन प्रदर्शनीयः तत्प्रदर्शने च 'हेतोः सपक्ष-विपक्षयोः सदसत्त्वमवश्यं प्रदर्शनीयम्' इति यदुच्यते परैः तद् अपास्तं भवति तावन्मात्रादेव साध्यप्रतिपत्तेः। न च ततस्तत्प्रतिपत्तावपि विद्यमानत्वाद् रूपान्तरमपि तत्रावश्यं प्रदर्शनीयम्, ज्ञातत्वादेरपि तत्र प्रदर्शनप्रसक्तेः। अथ सामर्थ्यात् तत् प्रतीयत इति न वचनेन प्रदर्श्यते तर्हि अन्वय-व्यतिरेकावपि तत एव नावश्यं प्रदर्शनीयौ। अत एव दृष्टान्तोऽपि नावश्यं वाच्यः साधर्म्य-वैधर्म्यप्रदर्शनपरत्वात् तस्य। उपनय-निगमनवचनयोस्तु दूरापास्तता तदन्तरेणापि साध्याविनाभूतहेतुप्रदर्शनमात्रात् साध्यप्रतिपत्त्युत्पत्तेः अन्यथा तदयोगात्। त्रिलक्षणहेतुप्रदर्शनवादिनस्तु निरंशवस्त्वभ्युपगमविरोधः निरंशे त्रैलक्षण्यविरोधात् परिकल्पितस्वरूपत्रैरूप्याभ्युपगमोऽप्यसंगतः परिकल्पितस्य परमार्थसत्त्वे तद्दोषानतिक्रमात् अपरमार्थसत्त्वे तल्लक्षणत्वायोगात् असतः सल्लक्षणत्वविरोधात्। न च कल्पनाव्यवस्थापितलक्षणभेदाल्लक्ष्यभेद उपपत्तिमान् इति लिङ्गस्य निरंशस्वभावस्य किञ्चिद् रूपं वाच्यम्। न च साधर्म्यादिव्यतिरेकेण तस्य स्वरूपं प्रदर्शयितुं शक्यत इति तस्य निस्स्वभावताप्रसक्तिः। न चैकलक्षणहेतुवादिनोऽपि अनेकान्तात्मकवस्त्वभ्युपगमाद् दर्शनव्याघात इति वाच्यम् "प्रयोगनियम एव एकलक्षणो हेतुः" [ ] इति अभिधानात्। न च स्वभावनियमे तथाभूतस्य शशशृङ्गादेरिव निःस्वभावत्वात्। 'गमकाङ्गनिरूपणया एकलक्षणो हेतुः' इति व्यवस्थापितत्वात्। न च एकान्तवादिनां प्रतिबन्धग्रहणमपि युक्तिसंगतम् अविचलितरूपे आत्मनि ज्ञानपौर्वापर्याऽभावात् प्रतिक्षणध्वंसिन्यपि उभयग्रहणानुवृत्तैकचैतन्याभावात् 'कारणस्वरूपग्राहिणा ज्ञानेन कार्यस्य तत्स्वरूपग्राहिणा च कारणस्य ग्रहणासंभवात् एकेन च द्वयोरग्रहणे कार्यकारणभावादेः प्रतिबन्धस्य ग्रहणायोगात् कारणादिस्वरूपाव्यतिरेकेऽपि कारणत्वादेर्न तत्स्वरूपग्राहिणा कार्यकारणभावादेर्ग्रहः एकसंबन्धिस्वरूपग्रहणेऽपि तद्ग्रहणप्रसक्तेः। न च तद्ग्रहेऽपि निश्चयानुत्पत्तेर्न दोषः सविकल्पकत्वेन प्रथमाक्षसन्निपातजस्य अध्यक्षस्य व्यवस्थापनात्। न च कार्यानुभवानन्तरभाविना स्मरणेन कार्यकारणभावोऽनुसंधीयत इति वक्तव्यम् अनुभूत एव स्मरणप्रादुर्भावात् न च प्रतिबन्धः केनचिदनुभूतः तस्य उभयनिष्ठत्वात् उभयस्य च पूर्वापरकालभाविनः एकेन अग्रहणात्। न च कार्यानुभवानन्तरभाविनः स्मरणस्य

---

१ जिप्पंतो गु० गू० मु० मू०। २-त्येव य—वा० बा०। ३-परिच्छया—गु० गू० मु० मू०। स—बृ०। ५-त्पत्तेरदो—वा० बा० भां० मां०।

कार्यानुभवो जनकः तदनन्तरं स्मरणस्य अभावात्। न च क्षणिकैकान्तवादे कार्यकारणभाव उपपत्तिमान् इत्युक्तम्। न च संतानादिकल्पनाप्यत्रोपयोगिनी। न च स्मरणकाले अतीततद्विषयस्मरणमात्रं प्रतीयते अपि तु तदनुभविताऽपि 'अहमेवमिदमनुभूतवान्' इति अनुभवित्राधारानुभूतविषयस्मृत्यध्यवसायात् एकाधारे अनुभव-स्मरणे अभ्युपगन्तव्ये तदभावे तथाऽध्यवसायानुपपत्तेः। न चानुभव-स्मरणयोः अनुगतचैतन्याभावे तद्धर्मतया प्रतिपत्तिर्युक्ता, न हि यत्प्रतिपत्तिकाले यद् नास्ति तत् तद्धर्मतया प्रतिपत्तुं युक्तम्, बोधाभावे ग्राह्य-ग्राहक-संवित्तित्रितयप्रतिपत्तिवत्, अस्ति च तद्धर्मतया अनुभव-स्मरणयोस्तदा प्रतिपत्तिरिति कथं क्षणिकैकान्तवादः तत्र वा प्रतिबन्धनिश्चय इति ? न चैकान्तवादिनः सामान्यादिकं साध्यं संभवतीति प्रतिपादितम्। तस्मात् अनेकान्तात्मकं वस्तु अभ्युपगन्तव्यम् अध्यक्षादेः प्रमाणस्य तत्प्रतिपादकत्वेन प्रवृत्तेः॥ ५९॥

[निर्दोषभावप्ररूपणाया मार्गप्रकाशनम्]

स एव च सन्मार्गः इति उपसंहरन्नाह—

दव्वं खित्तं कालं भावं पज्जाय-देस-संजोगे।
भेदं च पडुच्च समा भावाणं पण्णवणपज्जा॥ ६०॥

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-पर्याय-देश-संयोगान् भेदं चेत्यष्टौ भावान् आश्रित्य वस्तुनो भेदे सति **समा** सर्ववस्तुविषयायाः **प्रज्ञापना**याः स्याद्वादरूपायाः **पर्या**[1] पन्था मार्ग इति यावत्।

तत्र द्रव्यं पृथिव्यादि, क्षेत्रं स्वारम्भकावयवस्वरूपम् तदाश्रयं वा आकाशम्, कालं युगपदयुगपच्चिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गलक्षणम् वर्तनात्मकं[2] वा नव-पुराणादिलक्षणम्, भावं मूलाङ्कुरादिलक्षणम्,[3] पर्यायं रूपादिस्वभावम्, देशं मूलाङ्कुरपत्रकाण्डादिक्रमभाविविभागम्, संयोगं भूम्यादिप्रत्येकसमुदायं द्रव्य-पर्यायलक्षणम्, भेदं प्रतिक्षणविवर्तात्मकं वा जीवाजीवादि**भावानां प्रतीत्य** समानतया तदतदात्मकत्वेन प्रज्ञापना निरूपणा या सा सत्पथ इति न हि तदतदात्मकैकद्रव्यत्वादिभेदाभावे खरविषाणादेर्जीवादिद्रव्यस्य विशेषः यतो न द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-पर्याय-देश-संयोग-भेदरहितं वस्तु केनचित् प्रत्यक्षाद्यन्यतमप्रमाणेन अवगन्तुं शक्यम्। न च प्रमाणागोचरस्य सद्व्यवहारगोचरता संभविनीति तदतदात्मकं तद् अभ्युपगन्तव्यम्। न हि एकान्ततः अतदात्मकं द्रव्यादिभेदभिन्नम् व्यतिरिक्तरूपं च प्रमाणतस्तद् निरूपयितुं शक्यम् द्रव्यादिव्यतिरिक्तस्य शशशृङ्गवत् कुतश्चित् प्रमाणाद् अप्रतीतेः न हि ततो द्रव्यादीनां भेदेऽपि समवायसंबन्धवशात् तत्संबद्धताप्रसङ्गः संबन्धिभेदेन तद्भेदाभेदकल्पनाद्वयानतिवृत्तेः। प्रथमविकल्पे समवायानेकत्वप्रसक्तिः संबन्धिभेदतो भेदात् संयोगवद् अनित्यत्वप्रसक्तिश्च। द्वितीयकल्पनायामपि संबन्धिसंकरप्रसक्तिः। न चैवं छत्र-दण्ड-कुण्डलादिसंबन्धविशेषविशिष्टदेवदत्तादेरिव समवायिनो जाति-गुणत्वादेर्भेदेन उपलब्धेर्न(ब्धिर्न)हि य एव दण्ड-देवदत्तयोः संबन्धः स एव छत्रादिभिरपि तत्संबन्धाविशेषे तद्विशेषणविशेष्यवैफल्यप्रसक्तेः न हि विशेषणं विशेष्यं धर्मान्तराद् व्यवच्छिद्य आत्मन्यव्यवस्थापयद्[4] विशेषणरूपतां प्रतिपद्यते एवं समवायसंबन्धस्याविशेषे द्रव्यत्वादीनामपि विशेषणानामविशेषान्न जीवाजीवादिद्रव्यव्यवच्छेदकता स्यात् इति समवायिसंकरप्रसक्तिः कथं नासज्येत ? न च समवायतद्ग्राहकप्रमाणाभावात् संभवति तदभावे न वस्तुनो वस्तुत्वयोगो भवेदिति तद् अनेकान्तात्मकैकरूपमभ्युपगन्तव्यम्। न चैकानेकात्मकत्वं वस्तुनो विरुद्धम् प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुनि विरोधायोगात्। तथाहि—एकानेकात्मकम् आत्मादि वस्तु, प्रमेयत्वात्, चित्रपटरूपवत् ग्राह्यग्राहकाकारसंवित्तिरूपैकविज्ञानवद् वा। न च वैशेषिकं प्रति चित्रपटरूपस्य एकानेकत्वमसिद्धम् प्राक् प्रसाधितत्वात्। नापि ग्राह्यग्राहकसंवित्तिलक्षणरूपत्रयात्मकमेकं विज्ञानं बौद्धं प्रत्यसिद्धम् तथाभूतविज्ञानस्य प्रत्यात्मसंवेदनीयस्य प्रतिक्षेपे सर्वप्रमाण-प्रमेयप्रतिक्षेपप्रसक्तेः। स्वार्थाकारयो[5]र्विज्ञानमभिन्नस्वरूपम्, विज्ञा-

---

१ "पचेलर्थ." बृ० टि०। २ वर्तमानात्म—भां० मां० आ०। ३-त्येकं स—वा० बा०। ४-त्मनि अनवस्था—वा० बा० भां० मां०। ५-वायसं—बृ० आ० हा० वि०।

नस्य च वेद्य-वेदकाकारौ भिद्यमानौ कथञ्चिद् अनुभवगोचरापन्नौ, एतच्च प्रतिक्षणं स्वभावभेद-मनुभवदपि न सर्वथा भेदवत् संवेद्यते इति संविदात्मनः स्वयमेकस्य सामस्त्येनैकात्मकत्वं न विरोध-मनुभवतीति कथमध्यक्षादिविरुद्धं निरन्वयविनाशित्वमभ्युपगन्तुं युक्तम्? न हि कदाचित् क्वचित् क्षणिकत्वमन्तर्बहिर् वा अध्यक्षतोऽनुभूयते 'तथैव' इति निर्णयानुत्पत्तेः भेदात्मन एव अन्तर्विज्ञानस्य बहिर्घटादेश्च अभिन्नस्य निश्चयात्। तथाभूतस्यापि अनुभवस्य भ्रान्तिकल्पनायां न किञ्चिद् अध्यक्ष-मभ्रान्तलक्षणभाग् भवेत् न हि ज्ञानं वेद्य-वेदकाकारशून्यं स्थूलाकारविविक्तम् परमाणुरूपं वा घटादिकमेकं निरीक्षामहे यतः बाह्याध्यात्मिकं भेदाभेदरूपतया अनुभूयमानं भ्रान्तविज्ञानविषयतया व्यवस्थाप्येत। अतः "यथादर्शनमेव इयं मानमेयव्यवस्थितिः न पुनर्यथातत्त्वम्" [ ] इत्येतद् अनिश्चितार्थाभिधानम्। न हि क्वचित् केनचित् प्रमाणेन एकान्तरूपं वस्तुतत्त्वमयं प्रतिपन्नवान् यत एवं वदन् शोभेत। यदा च अध्यक्षविरुद्धः निरंशक्षणिकैकान्तः ततो नानुमानमपि अत्र प्रवर्तितुमुत्सहते अध्यक्षबाधितविषयत्वात् तस्य। तेन "निरन्वयविनश्वरं वस्तु प्रतिक्षणमवेक्षमाणोऽपि नावधारयति" [ ] इत्येतदपि असदभिधानम्, प्रतिक्षणविशरारुतायाः कुतश्चिदपि अनीक्षणात्।

[एकान्तक्षणिकाक्षणिकत्वे निरस्य तदुभयात्मकत्वसाधनम्]

अत एव क्षणिकत्वैकान्ते सत्त्वादिहेतुरुपादीयमानः सर्व एव विरुद्धः अनेकान्त एव तस्य संभवात्। तथाहि—अर्थक्रियालक्षणं सत्त्वम् न चासौ तदेकान्ते क्रम-यौगपद्याभ्यां संभवति, यतः 'यस्मिन् सत्येव यद् भवति तत् तस्य कारणम् इतरच्च कार्यम्' इति कार्यकारणलक्षणम् क्षणिके च कारणे सति यदि कार्योत्पत्तिर्भवेत् तदा कार्य-कारणयोः सहोत्पत्तेः किं कस्य कारणम् किं वा कार्यं व्यवस्थाप्येत त्रैलोक्यस्य च एकक्षणवर्तिता प्रसज्येत। 'यदनन्तरं यद् भवति तत् तस्य कार्यम् इतरत् कारणम्' इति व्यवस्थायां कारणाभिमते वस्तुनि असत्येव भवतस्तदनन्तरभावित्वस्य दुर्घटत्वात् चिरतरविनष्टादपि च तस्य भावो भवेत् तदभावाविशेषात्। न च अनन्तरस्यापि कार्योत्पत्तिकालमप्राप्य विनाशमनुभवतश्चिरातीतस्येव कारणता यतः अर्थक्रिया क्षणक्षयेण विरुध्येत प्राक्कालभावित्वेन कारणत्वे सर्वं प्रति सर्वस्य कारणता प्रसज्येत सर्ववस्तुक्षणानां विवक्षितकार्यं प्रति प्राग्भावित्वाविशेषात् तथा च स्वपरसंतानव्यवस्थाऽपि अनुपपन्नैव स्यात्। न च सादृश्यात् तद्व्यवस्था सर्वथा सादृश्ये कार्यस्य कारणरूपताप्रसक्तेरेकक्षणमात्रं संतानः प्रसज्येत, कथंचित्सादृश्येऽनेकान्तवादप्रसक्तिः न च सादृश्यं भवदभिप्रायेण अस्ति सर्वत्र वैलक्षण्याविशेषात् अन्यथा स्वकृतान्तप्रकोपात्। न च क्षणिकैकान्तवादिनः अन्वय-व्यतिरेकप्रतिपत्तिः संभवतीति साध्य-साधनयोस्त्रिकालविषययोः साकल्येन व्याप्तेरसिद्धेः यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम् संश्च शब्द इत्याद्यनुमानप्रवृत्तिः कथं भवेत्? अकारणस्य च प्रमाणविषयत्वानभ्युपगमे साध्य-साधनयोस्त्रिकालविषयव्याप्तिग्रहणस्य दूरोत्सारितत्वात् "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम् नाकारणं विषयः" [ ] इति वचनमनुमानोच्छेदकं च प्रसक्तम् ग्राह्यग्राहकाकारज्ञानैकत्ववद् ग्राह्याकारस्यापि युगपदनेकार्थावभासिनश्चित्रैकरूपता एकान्तवादं प्रतिक्षिपत्येव भ्रान्त्यात्मनश्च दर्शनस्य अन्तर् बहिश्च अभ्रान्तात्मकत्वं कथंचिद् अभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा कथं स्वसंवेदनाध्यक्षता तस्य भवेत् तदभावे च कथं तत्स्वभावसिद्धिर्युक्ता? कथं च भ्रान्तज्ञानं भ्रान्तिरूपतया आत्मानमसंविदद् ज्ञानरूपतया वा अवगच्छद् बहिस्तथा नावगच्छेत् यतो भ्रान्तैकान्तरूपता तिमिराद्युपप्लुतदृशां भवेत्? कथं च भ्रान्तविकल्पज्ञानयोः स्वसंवेदनमभ्रान्तमविकल्पं वा अभ्युपगच्छन् अनेकान्तं नाभ्युपगच्छेत्? ग्राह्यग्राहकसंवित्याकारविवेकं संविदः स्वसंवेदनेनासंवेदयन् संविद्रूपतां च अनुभवन् कथं क्रमभाविनो-विकल्पेतरात्मनोरनुगतसंवेदनात्मानमनुभवप्रसिद्धं प्रतिक्षिपेत्? ततः क्रम-सहभाविनः परस्पर-

---

१ तथैव नि—वृ० बा० बा०। तथेति नि–आ० वि०। तथैति नि–हा०।

२ "अयं सौगतः 'यथादर्शनमेव मानमेयफलस्थितिः क्रियते न पुनर्यथातत्त्वं सा क्रियते' इत्येवं ब्रूयात्"—सिद्धिवि० टि० लि० पृ० १२२ पं० २२।

३-इये नैका—वृ० विना। ४ कथं न भ—बा० बा० भां० मां०। ५-या चाव-बा० बा० भां० मां०। [illegible]-भां० मां०। ७-वेकसं-बा० बा० भां० मां० विना।

विलक्षणान् स्वभावान् यथावस्थितरूपतया व्याप्नुवत् सकललोकप्रतीतं स्वसंवेदनम् अनेकान्ततत्त्वव्यवस्थापकमेकान्तवादप्रतिक्षेपि प्रतिष्ठितमिति 'निरंशक्षणिकस्वलक्षणमन्तर्बहिश्चानिश्चिनमपि संवित्तिर्विषयीकरोति' इति कल्पना अयुक्तिसंगतैव अप्रमाणप्रसिद्धकल्पनायाः सर्वत्र निरङ्कुशत्वात् सकलसर्वज्ञताकल्पनप्रसक्तेः न हि एकस्य संवित्तिः अपरस्य असंवित्तिः सर्वत्र संबन्धाभावाविशेषात् न हि वास्तवसंबन्धाभावे परिकल्पितस्य तस्य नियामकत्वं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् । न च वास्तवः संबन्धः परस्य सिद्धः इति तादात्म्य-तदुत्पत्त्योरभावात् साध्य-साधनयोः प्रतिबन्धनियमाभावे अनुमानप्रवृत्तिर्दूरोत्सारितैव ।

अथ क्षणिकान्निवर्तमानमपि अर्थक्रियालक्षणं सत्त्वमक्षणिके अवस्थास्यतीति न ततोऽनेकान्तात्मकवस्तुसिद्धिः, न; अक्षणिकेऽपि क्रमयौगपद्याभ्यां तस्य विरोधात् । तथाहि—न तावद् अक्षणिकस्य क्रमवत् कार्यकरणम् प्राक् तत्करणसमर्थस्य अभिमतक्षणवत् तदकरणविरोधात् । प्राक् तदसामर्थ्ये पश्चादपि न तत्सामर्थ्यम् अपरिणामिनोऽनाधेयाऽप्रहेयातिशयत्वात् स्वभावोत्पत्तिविनाशाभ्युपगमेऽपि नित्यैकान्तवादविरोधात् । ततो व्यतिरिक्तस्य अतिशयस्य करणे अनतिशयस्य तस्य प्रागिव पश्चादपि तत्करणासंभवात् । सहकारिकारणापेक्षाऽपि तस्य अयुक्तैव यतोऽसहायस्य प्रागकरणस्वभावस्य पुनः ससहायस्य कार्यकरणं भवेत् न हि सहकारिकृतमतिशयमनङ्गीकुर्वतस्तदपेक्षा उपपत्तिमती । तत्र क्रमेण अपरिणामी भावः कार्यं निर्वर्तयति । नापि यौगपद्येन, कालान्तरे तस्याकिञ्चित्करत्वेनावस्तुत्वापपत्तेः क्षणमात्रावस्थायित्वप्रसक्तेः । न च क्रम-यौगपद्यव्यतिरिक्तं प्रकारान्तरं संभवतीति अर्थक्रिया व्यापिका निवर्तमाना व्याप्यां सत्तां नित्यादपि आदाय निवर्तते इति यत् सत् तत् सर्वमनेकान्तात्मकं सिद्धम् अन्यथा प्रत्यक्षादिविरोधप्रसक्तेः न हि भेदमन्तरेण कदाचित् कस्यचिद् अभेदोपलब्धिः हर्ष-विषादाद्यनेकाकारविवर्तात्मकस्य अन्तश्चैतन्यस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः वर्ण-संस्थानसदाद्यनेकाकारस्य स्थूलस्य पूर्वापरस्वभावपरित्यागोपादानात्मकस्य घटादेर्बहिरेकस्य इन्द्रियजाध्यक्षतः संवेदनात् सुखादि-रूपादिभेदविकलतया चैतन्य-घटादेः कदाचिदपि उपलम्भागोचरत्वात् महासामान्यस्य अवान्तरसामान्यस्य वा सर्वगताऽसर्वगतधर्मात्मकस्य व्यक्तिव्यतिरिक्तस्वभावतया कदाचित् क्वचिद् अनुपलब्धेः द्रव्य-गुण-कर्मणां कथं तद्विशिष्टतया प्रतिपत्तिर्भवेत्? समवायस्य च अनवस्थादोषतः संबन्धान्तराभावाद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेषाणामन्योन्यं तादात्म्यानिष्टौ तेषु अवृत्तेः सर्वपदार्थस्वरूपाऽप्रसिद्धिः स्यात् । स्वत एव समवायस्य द्रव्यादिषु वृत्तौ समवायमन्तरेणापि द्रव्यादयोऽपि स्वाधारेषु वृत्तिं स्वत एव आत्मसात्करिष्यन्तीति समवायकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तिः । अवयविनोऽपि स्वारम्भकावयवेषु तादात्म्यानभ्युपगमे सामान्यस्येव तद्वत्सु वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषप्रसङ्गान्न वृत्तिर्भवेत् वृत्तौ वा साकल्येन प्रत्याधारं ग्रहणासंभवात् व्यक्तिवद् भेदप्रसक्तिः खण्डशः प्रतिपत्तेः अगृहीतस्वभावाद् गृहीतस्वभावस्य भेदात् तथा च सामान्यादिरूपताहानिप्रसक्तिः ।

किञ्च, सर्वस्वाधारव्यापिनः सामान्यस्य द्रव्यस्य वा तद्वतां सामस्त्येन ग्रहणासंभवात् कथं तदग्रहे तद्ग्रहणं भवेत् आधाराप्रतिपत्तौ तदाधेयस्य तत्त्वेनाप्रतिपत्तेः सामान्याद्यंशेषु गृहीतेष्वपि सामान्यादेर्वृत्तिविकल्पादिदोषस्तेष्वपि पूर्ववत् समानः तदंशग्रहणेऽपि च सामान्यस्य व्यापिनः कदाचिद् अपि अप्रतिपत्तेः 'सद् द्रव्यम्' इत्यादिप्रतिपत्तिस्तद्वत्सु न कदाचिद् भवेत् तदंशानां सामान्यादेरत्यन्तभेदात् अत एव द्रव्यादिषट्पदार्थव्यवस्थाऽपि अनुपपन्ना भवेत् प्रतिभासगोचरचारिणां सामान्याद्यंशानां पदार्थान्तरताप्रसक्तेः । अथ निरंशं सामान्यमभ्युपगम्यते इति नायं दोषस्तर्हि सकलस्वाश्रयप्रतिपत्त्यभावतो मनागपि न सामान्यप्रतिपत्तिरिति 'सद् द्रव्यं पृथिवी' इत्यादिप्रतिपत्तेर्नितरामभावः स्यात् । तदंशानां सामान्याद् भेदाभेदकल्पनायां द्रव्यादय एव भेदाभेदात्मकाः किं नाभ्युपगम्यन्ते इति सामान्यादिप्रकल्पना दूरोत्सारितैव इति कुतस्तत्रैकान्तकल्पना? ततः सामान्यविशेषात्मकं सर्वं वस्तु सत्त्वात् न हि विशेषरहितं सामान्यमात्रम् सामान्यरहितं वा विशेषमात्रं संभवति । तादृशः क्वचिदपि वृत्तिविरोधात् वृत्त्या हि सत्त्वं व्याप्तं स्वलक्षणात् सामान्यलक्षणाद् वा तादृशाद् वृत्तिनिवृत्तौ निवर्तत एव यतः क्वचिद् वृत्तिमतोऽपि स्वलक्षणस्य न देशान्तरवर्तिना

१-यातन्यथा-पा० भा० भां० मां० । २ अत्र णिचश्चेत्यनेन आत्मनेपदमनित्यमिति न्यायेन वा समर्थनीयम् । ३ तत्प्रकार-भां० मां० । ४ वृत्तिः सतोऽपि मु० श्रा० ।

इति, "धर्माधर्मक्षयकरी दीक्षा" [ ] इत्यादिकमधीत्य 'सूत्रधरा वयम्' इति शब्दमात्रसंतुष्टा गर्वयन्तः **अविकोविदसामर्थ्याः** अविकोविदम् अज्ञं सामर्थ्यं येषां ते तथाऽविदितसूत्रव्यापारविषया इति यावत् । किमित्येवं ते ? इत्याह—**यथाश्रुतमेव अविभक्ता** अविवेकेन **प्रतिपत्ति**रेषामिति कृत्वा सूत्राभिप्रायव्यतिरिक्तविषयविप्रतिपत्तित्वात् इतरजनवद् अज्ञा इत्यभिप्रायः । अथवा स्वयूथ्या एव एकनयदर्शनेन कतिचित् सूत्राणि अधीत्य केचित् 'सूत्रधरा वयम्' इति गर्विता यथावस्थितान्यनयसव्यपेक्षसूत्रार्थापरिज्ञानाद् अविदितात्मविद्वत्स्वरूपा इति गाथाभिप्रायः ॥ ६१ ॥

[निरपेक्षैकनयप्रवृत्तानां दोषोद्भावनम्]

अथ एषामेकनयदर्शनेन प्रवृत्तानां यो दोषस्तमुद्भावयितुमाह—

सम्मद्दंसणमिणमो सयलसमत्तवयणिज्जणिद्दोसं ।
अत्तुक्कोसविणट्ठा सलाहमाणा विणासेंति ॥ ६२ ॥

सम्यग्दर्शनमेतत् परस्परविषयाऽपरित्यागप्रवृत्तानेकनयात्मकम् तच्च 'स्यान्नित्यः' इत्यादि **सकलधर्मपरिसमाप्तवचनीयतया निर्दोषम्,** एकनयवादिनस्त्वविषये सूत्रव्यवस्थापनेन **आत्मोत्कर्षेण विनष्टाः** स्याद्वादाभिगमं प्रति अनाद्रियमाणा 'वयं सूत्रधराः' इत्यात्मानं **श्लाघमानाः** सम्यग्दर्शनं **विनाशयन्ति**—तदात्मनि न व्यवस्थापयन्तीति यावत् ॥ ६२ ॥

[न शासनभक्तिमात्रेण नाप्यांशिकज्ञानमात्रेणानेकान्तप्ररूपणाकुशल इति कथनम्]

अथ न ते आगमप्रत्यनीकाः तद्भक्तत्वात् तद्देशपरिज्ञानवन्तश्चेति कथं तद् विनाशयन्तीति ? अत्राह—

ण हु सासणभत्तीमेत्तएण सिद्धंतजाणओ होइ ।
ण विजाणओ वि णियमा पण्णवणाणिच्छिओ णामं ॥ ६३ ॥

न च शासनभक्तिमात्रेणैव सिद्धान्तज्ञाता भवति—न च तद्ज्ञानवान् भावसम्यक्त्ववान् भवति अज्ञातस्य अर्थस्य विशिष्टरुचिविषयत्वानुपपत्तेः तद्भक्तिमात्रेण श्रद्धानुसारितया द्रव्यसम्यक्त्वम् । मार्गानुसार्यवबोधमात्रानुपक्तरुचिस्वभावं तु सदपि न भावसम्यक्त्वसाध्यफलनिर्वर्तकम् भावसम्यक्त्वनिमित्तत्वेनैव तस्य द्रव्यसम्यक्त्वरूपत्वोपपत्तेः । **न च जीवादितत्त्वैकदेशज्ञाताऽपि नियमतो**ऽनेकान्तात्मकवस्तुस्वरूपप्रज्ञापनायां **निश्चितो** भवति एकदेशज्ञानवतः सकलधर्मात्मकवस्तुज्ञानविकलतया सम्यक् तत्प्ररूपणाऽसंभवात् । तथाहि—सर्वज्ञो यथावस्थितैकदेशज्ञः जीवादिसकलतत्त्वज्ञता तु आगमविदः सामान्यरूपतया अभिधीयते "मति-श्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" [तत्त्वार्थ० १-२७] इति वचनात् ।

[तत्त्वसप्तके निरूप्ये पूर्वं जीवाजीवौ निरूप्य तत्र कणादादिसंमततत्त्वानामन्तर्भावप्रदर्शनम्]

तत्त्वं तु जीवाऽजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षाख्याः सप्त पदार्थाः । तत्र चेतनालक्षणोऽर्थो जीवः, तद्विपरीतलक्षणस्तु अजीवः, धर्माधर्माकाशकालपुद्गलभेदेन त्वसौ पञ्चधा व्यवस्थापितः । एतत्पदार्थद्वयान्तर्वर्तिनश्च सर्वेऽपि भावाः न हि रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादयः साधारणासाधारणरूपा मूर्ता-

---

१-जनपदचक्षानिन इत्य-भां० मां० ।-जनपदवद्ज्ञान इत्य-वृ० आ० हा० वि० । २ णाम मु० गू० ।

३ प्रायो बहुषु आदर्शेषु तत्र च बहुषु स्थलेषु तालव्यशकारस्योपलम्भोऽपि क्वचित् क्वचिद् दन्त्यसकारस्य दर्शनात् तस्य च प्रकृते शुद्धतरत्वात् तथैव च ग्रन्थान्तरसंवाददर्शनात् पाठान्तरवैषम्यपरिहाराय लाघवाय एकविधपाठपरिग्रहाय च दन्त्यसकारविशिष्टं सप्ततीहस्य 'आस्रव'पदमेव उपयुक्तमस्माभि न तु 'आश्रव'पदम् ।

ऽमूर्तचेतनाऽचेतनद्रव्यगुणाः, उत्क्षेपणाऽपक्षेपणादीनि च कर्माणि, सामान्य-विशेष-समवायाश्च जीवाऽजीवव्यतिरेकेण आत्मस्थितिं लभन्ते तद्भेदेन एकान्ततस्तेषामनुपलम्भात् तेषां तदात्मकत्वेन प्रतिपत्तेः अन्यथा तदसत्त्वप्रसक्तेः । ततो जीवाजीवाभ्यां पृथक् जात्यन्तरत्वेन द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाया न वाच्याः । एवम् प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव--तर्क-निर्णय वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानि च न पृथग् अभिधानीयानि । तथा,

"प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि" ॥ [सांख्यका० का० २२] इति

चतुर्विंशतिः पदार्थाः पुरुषश्चेति न वक्तव्यम् । तथा, दुःख-समुद्रा(द)य-मार्ग-निरोधाश्चत्वारि आर्यसत्यानि इति न वक्तव्यम् । तथा पृथिवी आपः तेजः वायुः इति तत्त्वानि इति न वक्तव्यम् । तत्प्रभेदरूपतया अभिधानेऽपि न दोषः जात्यन्तरकल्पनाया एव अघटमानत्वात् राशिद्वयेन सकलस्य जगतो व्याप्तत्वात् तदव्याप्तस्य शशशृङ्गतुल्यत्वात् । शब्दब्रह्माद्येकान्तस्य च प्राक् प्रतिषिद्धत्वात् अबाधितरूपोभयप्रतिभासस्य तथाभूतवस्तुव्यवस्थापकस्य प्रसाधितत्वात् विद्याऽविद्याद्वयभेदाद् द्वैतकल्पनायामपि त्रित्वप्रसक्तेः । बाह्यालम्बनभूतभावापेक्षया विद्यात्वोपपत्तेः अन्यथा निर्विषयत्वेन उभयोरविशेषात् तत्प्रतिभागस्य अघटमानत्वात् न हि द्वयोर्निरालम्बनत्वे विपर्यस्ताऽविपर्यस्तज्ञानयोरिव विद्याविद्यात्वभेदः ततो नाद्वयं वस्तु, नापि तद्व्यतिरिक्तमस्ति ।

अथ आस्रवादीनामपि अनुपपत्तिः राशिद्वयेन सकलस्य व्याप्तत्वात्, न; ततस्तेषां कथंचिद् भेदप्रतिपादनार्थत्वात् अनयोरेव तथापरिणतयोः सकारणसंसार-मुक्तिप्रतिपादनपरत्वात् तथाभिधानस्य अनेन वा क्रमेण तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वप्रदर्शनार्थत्वात् विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वाद् वा तदभिधानस्य अदुष्टता । तथाहि—आस्रवति कर्म यतः स आस्रवः काय-वाग्-मनोव्यापारः स च जीवाजीवाभ्यां कथंचिद् भिन्नः तथैव प्रतीतिविषयत्वात् । अथ बन्धाभावे कथं तस्योपपत्तिः ? प्राक् तत्सद्भावे वा न तस्य बन्धहेतुता न हि यद् यद्धेतुकं तत् तदभावेऽपि भवति अतिप्रसङ्गात्, असदेतत्; पूर्वोत्तरापेक्षया अन्योन्य कार्यकारणभावनियमात् । न च इतरेतराश्रयदोषः प्रवाहापेक्षया अनादित्वात् । पुण्यापुण्यबन्धहेतुतया चासौ द्विविधः उत्कर्षाऽपकर्षभेदेन अनेकप्रकारोऽपि दण्ड-गुप्त्यादित्रित्वादिसंख्याभेदमासादयन् फलानुबन्ध्यननुबन्धिभेदतः अनेकशब्दविशेषवाच्यतामनुभवति एकान्तवादिनां च नायं संभवतीति **कम्मं जोगनिमित्तं** [प्र० का० गा० १९] इति गाथार्थं प्रदर्शयद्भिः प्राक् प्रतिपादितत्वात् । तन्निमित्तः सकषायस्य आत्मनः कर्मवर्गणापुद्गलैः संश्लेषविशेषो बन्धः स च सामान्येन एकविधोऽपि प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशभेदेन चतुर्धा पुनः एकैको ज्ञानावरणीयादि-मूलप्रकृतिभेदादष्टविधः पुनरपि मत्यावरणाद्युत्तरप्रकृतिभेदाद् अनेकविधः अयं च कश्चित् तीर्थकरत्वादिफलनिर्वर्तकत्वात् प्रशस्तः अपरश्च नारकादिफलनिर्वर्तकत्वाद् अप्रशस्तः प्रशस्ताऽप्रशस्तात्मपरिणामोद्भूतस्य कर्मणः सुख दुःखसंवेदनीयफलनिर्वर्तकत्वात् ।

---

१ कणादमतमेतत्, अस्य स्थापन-निरसने पूर्वं समायाते द्रष्टव्ये । २ अक्षपादमतमेतत् ।

३ न्यायद० १-१-१ । ४ "प्रकृतेर्महान् ततोहंकार"-साख्यका० ।

५ बौद्धमते दु खकारणभूतद्वितीयार्यसत्यपरत्वं समुदयपदस्य प्रसिद्धम् । तद्यथा-
"समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः । आत्मात्मीयभावाख्यः समुदयः स उदाहृत." ॥ ६ ॥—षड्द० स० ।

६ आश्रव-बृ० विना । ७ अत्र आस्रवस्य निरूपणीयत्वेन तत्र च मनोदण्डादित्रिविधदण्डस्य समावेशोऽपि त्रिविधाया गुप्ते· संवररूपत्वेन आस्रवविरोधितया आस्रवे समावेशाभावात् 'दण्डागुप्त्यादि' इति पाठं कल्पयित्वा अर्थसंगतिर्युक्ता(?)उचिता । ८ पृ० ४१८ गा० १९ ।

९ "ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्ध."-साख्यका० ४४ । "ज्ञानस्य विपर्ययोऽज्ञानं तेनाज्ञानेन × × × आत्मानं निबध्नाति-न मोक्षं गच्छतीत्यर्थः × × × स च बन्धस्त्रिविधः प्रकृतिबन्ध. वैकारिकबन्धः दक्षिणाबन्धश्चेति । तत्र प्रकृतिबन्धो नाम अष्टासु प्रकृतिषु परत्वेनाभिमान." [का० ४४ माठरवृ० पृ० ६२] इत्यादिना साख्या अपि बन्धं प्रतिपन्नाः ।

[ध्यानचतुष्कस्य सभेदप्रभेदं व्यावर्णनम्]

अप्रशस्तश्च आत्मपरिणामो द्विविधः आर्त-रौद्रभेदात् आमुहूर्तस्थायी आक्रन्दन-विलपन-
परिदेवन-शोचन-परविभवविस्मय-विषयसंगादिकश्च स्वसंवेद्य आत्मनः अनुमेयश्च परेषाम् क्लिष्ट
परिणामविशेष आर्तध्यानशब्दवाच्यो बाह्यः आभ्यन्तरश्च अमनोज्ञसंप्रयोगानुत्पत्त्यध्यवसानम्
उत्पन्नस्य च विनाशाध्यवसायः मनोज्ञसंप्रयोगस्य उत्पत्तिकल्पनाध्यवसायः उत्पन्नस्य अविनाश-
संकल्पाध्यवसानम् इत्येतत् चतुर्विधमार्तध्यानम् अमनोज्ञसंप्रयोगश्च बाह्याध्यात्मजत्वेन द्विधा-
शीताऽऽतप-व्यालादिजनितो बाह्यः वात-पित्त-श्लेष्मादिप्रादुर्भूतोऽभ्यन्तरः शारीरः भय-विषा
दाऽरति-शोक-जुगुप्सा-दौर्मनस्यादिप्रभवो मानसः अयममनोज्ञसंप्रयोगः कथं नाम मे न संपद्यत
इति संकल्पप्रबन्ध आर्तध्यानम् कृष्ण-नील-कापोतलेश्याबलाधायकं प्रमादाधिष्ठानम् आप्रमत्त
गुणस्थानात् तिर्यग्-मनुष्यगतिनिर्वर्तकम् उत्कर्षाऽपकर्षभेदात् क्षायोपशमिकभावरूपं परोक्षज्ञान
रूपत्वात्। एवं रुद्रे भवं रौद्रं हिंसाऽनृत-स्तेय-संरक्षणाऽऽनन्दभेदेन चतुर्विधम् तत्र हिंसायामा
नन्दो रुचिर्यस्मिन् तद् हिंसानन्दम् एवमुत्तरत्रापि योज्यम् एतदपि बाह्याध्यात्मभेदाद् द्विविधम
परुषनिष्ठुरवचनाक्रोशनिर्भर्त्सनताडनपरदारातिक्रमाभिनिवेशादिरूपं बाह्यम्—स्वपराभ्यां स्वसंवेदना
ऽनुमानगम्यं बाह्यम्; आध्यात्मिकं हिंसायां संरम्भ-समारम्भादिलक्षणायां नैर्घृण्येन प्रवर्तमानस्
संकल्पाध्यवसानम्-संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धस्तस्याध्यवसानम्—तीव्रकषायानुरक्तत्वं प्रथमं हिंसानन्द
नाम। परेषामनेकप्रकारैर्मिथ्यावचनैर्वञ्चनं प्रति संकल्पाध्यवसानं मृषानन्दं नाम। परद्रव्यापहरणं
प्रति अनेकोपायैर्यत् तत् स्तेयानन्दम्। परिग्रहे 'मम एव इदं स्वम् अहमेव अस्य स्वामी' इति
अभिनिवेशः तदपहर्तृविघातेन संरक्षणं प्रति संकल्पाध्यवसानं संरक्षणानन्दम्। चतुर्विधमप्येतत
कृष्णादिलेश्याबलाधायकं प्राक् प्रमत्तगुणस्थानात् प्रमादाधिष्ठानं कषायप्राधान्यादौदयिकभावरूपं
नरकगतिफलनिर्वर्तकं पापध्यानद्वयमपि हेयम्।

उपादेयं तु प्रशस्तं धर्म-शुक्लध्यानद्वयम्। तत्र पर्वतगुहा-जीर्णोद्यान-शून्यागारादौ मनुष्याद्या
पातविकले अवकाशे मनोविक्षेपनिमित्तशून्ये सत्त्वोपघातरहिते उचिते शिलातलादौ यथासमाधानं
विहितपर्यङ्कासन ऊर्ध्वस्थानस्थो वा मन्दमन्दप्राणाऽपानप्रचारः—अतिप्राणनिरोधे चेतसो व्याकुल
त्वेन एकाग्रतानुपपत्तेः—निरुद्धलोचनादिकरणप्रचारो हृदि ललाटे मस्तके अन्यत्र वा यथापरिचयं
मनोवृत्तिं प्रणिधाय मुमुक्षुर्ध्यायेत् प्रशस्तं ध्यानम्। तत्र बाह्याध्यात्मिकभावानां याथात्म्यं धर्मः
तस्माद् अनपेतं धर्म्यम्। तच्च द्विविधम् बाह्यम् आध्यात्मिकं च। सूत्रार्थपर्यालोचनम् दृढव्रतता
शीलगुणानुरागः निभृतकायवाग्व्यापारादिरूपं बाह्यम् आत्मनः स्वसंवेदनग्राह्यमन्येषामनुमेय
माध्यात्मिकं तत्त्वार्थसंग्रहादौ चातुर्विध्येन प्रदर्शितं संक्षेपतः अन्यत्र दशविधम्। तद्यथा—अपा
योपायजीवाऽजीवविपाकविरागभवसंस्थानाज्ञाहेतुविचयानि चेति। लोक-संसारविचययोः संस्थान
भवविचययोरन्तर्भावान्नोद्दिष्टदशभेदेभ्यः पृथगभिधानम्। तत्र अपाये विचयो विचारो यस्मिन
तद् अपायविचयम्। एवम् अन्यत्रापि योज्यम्। 'दुष्टमनो-वाक्-कायव्यापारविशेषाणामपायः कथं नु
नाम स्यात्' इत्येवंभूतः संकल्पप्रबन्धो दोषपरिवर्जनस्य कुशलप्रवृत्तित्वाद् अपायविचयम्। 'तेषामेव
कुशलानां स्वीकरणमुपायः स कथं नु मे स्यात्' इति संकल्पप्रबन्ध उपायविचयम्। असंख्ये
यप्रदेशात्मकसाकाराऽनाकारोपयोगलक्षणाऽनादिस्वकृतकर्मफलोपभोगित्वादिजीवस्वरूपानुचिन्तनं
जीवविचयम्। धर्माधर्माकाशकालपुद्गलानामनन्तपर्यायात्मकानामजीवानामनुचिन्तनमजीवविचयम्
मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नस्य पुद्गलात्मकस्य मधुरकटुफलस्य कर्मणः संसारिसत्त्वविषयविपाकविशेषा
नुचिन्तनं विपाकविचयम्। 'कुत्सितमिदं शरीरकम् शुक्रशोणितसमुद्भूतम् अशुचिभृतघटोपमम्
अनित्यम् अपरित्राणम् गलदशुचिनवच्छिद्रतया अशुचि आधेयशौचम् न किञ्चिदत्र कमनीयत
समस्ति किंपाकफलोपभोगोपमाः प्रमुखरसिका विपाककटवः प्रकृत्या भङ्गुराः पराधीनाः संतोषा
मृतास्वादपरिपन्थिनः सद्भिर्निन्दिता विषयाः तदुद्भवं च सुखं दुःखानुषक्ति दुःखजनकं च नात
देहिनां तृप्तिः न च एतद् आत्यन्तिकमिति नात्र आस्था विवेकिना आधातुं युक्तेति विरतिरेव अत

---

१ आर्तध्यानादिध्यानचतुष्टयस्य विशेषस्वरूप भगवतीसूत्र-स्थानाङ्गसूत्र-आवश्यकसूत्रेभ्योऽवसेयं भवेत्—श० २
उद्दे० ७। स्था० ४ उद्दे० १। ध्यानशतकम् पृ० ५८२-६०२। २-यमनोज्ञ-मु० मा० बा०। ३-नैर्वचनं बा० मा० विना
४ वाचकउमास्वातिप्रणीततत्त्वार्थसू० अ० ९।

श्रेयस्कारिणी' इत्यादिरागहेतुविरोधानुचिन्तनं वैराग्यविचयम्। 'प्रेत्य स्वकृतकर्मफलोपभोगार्थं पुनः प्रादुर्भावो भवः स च अरघट्टघटीयन्त्रवद् मूत्र-पुरीषाऽन्त्रतन्त्रनिबद्धदुर्गन्धजठरपुटकोटरादिषु अजस्रमावर्तनम् न चात्र किञ्चिद् जन्तोः स्वकृतकर्मफलमनुभवतः चेतनमचेतनं वा सहायभूतं शरणतां प्रतिपद्यते' इत्यादि भवसंक्रान्तिदोषपर्यालोचनं भवविचयम्। 'भवन-नग-सरित्-समुद्र-भूरुहादयः पृथिवीव्यवस्थिताः साऽपि घनोदधि-घनवात-तनुवातप्रतिष्ठा तेऽपि आकाशप्रतिष्ठाः तदपि स्वात्मप्रतिष्ठम् तत्र अधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्णयन्ति अधोलोकम्' इत्यादि च संस्थानानुचिन्तनं संस्थानविचयम्। अतीन्द्रियत्वाद् हेतूदाहरणादिसद्भावेऽपि बुद्ध्यतिशयशक्तिविकलैः परलोक-बन्ध-मोक्ष-धर्माऽधर्मादिभावेषु अत्यन्तदुःखबोधेषु आप्तप्रामाण्यात् तद्विषयं तद्वचनं तथैवेति आज्ञाविचयम्। आगमविषयविप्रतिपत्तौ तर्कानुसारिबुद्धेः पुंसः स्याद्वादप्ररूपकागमस्य कष-च्छेद-तापशुद्धितः समाश्रयणीयत्वगुणानुचिन्तनं हेतुविचयम्। एतच्च सर्वं धर्मध्यानम् श्रेयोहेतुत्वात् एतच्च संवररूपम् अशुभास्रवप्रत्यनीकत्वात् "आस्रवनिरोधः संवरः" [तत्त्वार्थ० ९-१] इति वचनात्। गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षादीनां चास्रवप्रतिबन्धकारित्वात्। अयमपि जीवाऽजीवाभ्यां कथंचिदभिन्नः भेदाभेदैकान्ते दोषोपपत्तेः। न चायमेकान्तवादिनां घटते मिथ्याज्ञानाद् मिथ्याज्ञानस्य निरोधानुपपत्तेः। संवरश्च द्विविधः सर्व-देशभेदात्। पीत-पद्मलेश्याबलाधानमप्रमत्तसंयतस्य अन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणं स्वर्गसुखनिबन्धनमेतद् धर्मध्यानं प्रतिपत्तव्यम्।

कषायदोषमलापगमात् शुचित्वम् तदनुषङ्गात् शुक्लं ध्यानम्। तच्च द्विविधम्-शुक्ल-परमशुक्लभेदात्। तत्र पृथक्त्ववितर्कवीचारम् एकत्ववितर्कावीचारं चेति शुक्लं द्विधा। परमशुक्लमपि सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवर्ति चेति द्विधा। बाह्याध्यात्मिकभेदाच्च एतदपि द्विविधम्-गात्र-दृष्टि-परिस्पन्दाभावः जृम्भोद्गारक्षवथुविरहः अनभिव्यक्तप्राणाऽपानप्रचारत्वमित्यादिगुणयोगि बाह्यम् परेषामनुमेयम् आत्मनश्च स्वसंवेद्यम्-आध्यात्मिकं तु पृथग्भावः पृथक्त्वम्-नानात्वम्, वितर्कः-श्रुतज्ञानम्-द्वादशाङ्गम्, वीचारः-अर्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रान्तिः-व्यञ्जनम्-अभिधानम् तद्विषयोऽर्थः मनोवाक् कायलक्षणो योगः संक्रान्तिः परस्परतः परिवर्तनम् पृथक्त्वेन वितर्कस्य अर्थ-व्यञ्जन-योगेषु संक्रान्तिर्वीचारः यस्मिन् अस्ति तत् पृथक्त्ववितर्कवीचारम्। तथाहि—असावुत्तमसंहननो भावयति विजृम्भितपुरुषकारवीर्यसामर्थ्यः संहृताशेषचित्तव्याक्षेपः कर्मप्रकृतीः स्थित्यनुभागादिभिर्ह्रासयन् महासंवरसामर्थ्यतो मोहनीयमचिन्त्यसामर्थ्यमशेषमुपशमयन् क्षपयन् वा द्रव्यपरमाणुम् भावपरमाणुं चैकमवलम्ब्य द्रव्य-पर्यायार्थाद् व्यञ्जनम् व्यञ्जनाद् वा अर्थम् योगाद् योगान्तरम् व्यञ्जनाद् व्यञ्जनान्तरं च संक्रामन् पृथक्त्ववितर्कवीचारं शुक्लतरलेश्यमुपशमक-क्षपकगुणस्थानभूमिकमन्तर्मुहूर्तार्ध(र्द्धं) क्षायोपशमिकभूमिकं प्रायः पूर्वधरनिषेव्यमाश्रितार्थं व्यञ्जनयोगसंक्रमणं श्रेणिभेदात् स्वर्गापवर्गफलप्रदमाद्यं शुक्लध्यानमवलम्ब्यते एतच्च निर्जरात्मकम् आत्मस्थितकर्मक्षयकारणत्वात् तस्याः "तपसा निर्जरा च" [तत्त्वार्थ० ९-३] इति वचनात् ध्यानस्य चान्तरोत्कृष्टतपोरूपत्वाद् जीवाजीवाभ्यां कथंचिदसावभिन्ना द्व्यङ्गुलवियोगवत् वियुक्तात्मनो वियोगस्य कथंचिद् अभेदात् एकान्तवादे तु पूर्ववत् पश्चादपि अवियोगः अतद्धर्मत्वात् वियोगे वा पूर्वमपि तत्स्वभावत्वाद् अयुक्तस्य वियोगाभाव एव न हि बन्धाभावे तद्विनाशः संभवी तस्य वस्तुधर्मत्वात् न हि अङ्गुल्योः संयोगाभावे तद्वियोग इति व्यवहारः। तस्माद् निर्जराया अपि एकान्तवादे अनुपपत्तिः। एकत्वेन वितर्को यस्मिन् तद् एकत्ववितर्कम् विगतार्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रमत्वाद् अवीचारं द्वितीयं शुक्लध्यानम्। तथाहि—एकपरमाणौ एकमेव पर्यायमालम्ब्यत्वेन आदाय अन्यतरैकयोगबलाधानमाश्रितव्यतिरिक्ताशेषार्थव्यञ्जनयोगसंक्रमविषयचिन्ताविक्षेपरहितं बहुतरकर्मनिर्जरारूपं निश्शेषमोहनीयक्षयानन्तरं युगपद्भाविघातिकर्मत्रयध्वंसनसमर्थमकषायच्छद्मस्थवीतरागगुणस्थानभूमिकं क्षपको द्वितीयं शुक्ल-

१ पीत-पद्मादिकाना षण्णा लेश्याना सविस्तरं स्वरूपं प्रज्ञापनासूत्रीयलेश्यापदतोऽवगन्तव्यम्—प० १७ पृ० ३३०-३७३। २ अत्र मूलतत्त्वार्थे तदीये भाष्ये च 'क्रियानिवृत्ति' इत्येव पाठो मुद्रितो दृश्यते-अ० ९-४१। सर्वार्थसिद्धि-राजवार्तिक-श्लोकवार्तिकेषु तु 'क्रियानिवर्ति' इत्येव पाठो मुद्रितो वर्तते, परन्तु सर्वार्थसिद्धौ तालपत्रगतपाठान्तरत्वेन 'क्रियानिवृत्ति' इति पाठोऽधस्तादुपन्यस्त -अ० ९-३९।

न वा क्वचित् भेदनिबन्धनत्वात् प्रवृत्तेः सामान्यस्य अनर्थक्रियाकारितया च प्रवृत्तिनिबन्धनत्वायोगात् । अथापि स्यात् यदाऽयं प्रतिपत्ता वाक्यमश्रुतपूर्वं शृणोति तदा पदानां संकेतकालानुभूतानामर्थं सामान्यलक्षणमेव प्रतिपद्यते या तु वाक्यार्थप्रतिपत्तिः सा अपेक्षा-सन्निधानाभ्यां विशेषणविशेष्यभावात् पदार्थप्रतिपत्तिनिबन्धना न पुनस्ततो वाक्यात् तथाविधस्य तस्य स्वार्थेन सह संबन्धाप्रतिपत्तेः वाक्यमेव च प्रवृत्ति-निवृत्तिव्यवहारक्षमम् न पदम् तस्य अनर्थक्रियाकारिसामान्यप्रतिपादकत्वेनाप्रवृत्त्यङ्गत्वात् । अत एव न विवक्षाप्रतिभासिनमर्थं प्रतिपादयन्तः शब्दा अनुमानतामासादयन्ति अगृहीतप्रतिबन्धादपि वाक्यविशेषाद् यथोक्तन्यायतो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः । अनेनैव अभिप्रायेण सौगता वाक्यगतां चिन्तामनादृत्य पदमेव अनुमानेऽन्तर्भावितवन्तः । उक्तं च मीमांसकैः—

"वाक्यार्थे तु पदार्थेभ्यः संबन्धानुगमाद् ऋते ।
बुद्धिरुत्पद्यते तस्माद् भिन्ना साऽप्यक्षबुद्धिवत्" ॥

[श्लो० वा० शब्दप० श्लो० १०९] तथा,

"वाक्येष्वदृष्टेष्वपि सार्थकेषु पदार्थचिन्मात्रतया प्रतीतिम् ।
दृष्ट्वानुमानव्यतिरेकमीताः क्लिष्टाः पदाभेदविचारणायाम्" ॥

[श्लो० वा० शब्दप० श्लो० १११] इति,

असदेतत्; एवंकल्पनायां पदार्थानामपि वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वासंभवात् । तथाहि—'घटः पटः कुम्भः' इत्यादिपदेभ्यः यथा अन्योन्याननुषक्तस्वतन्त्रसामान्यात्मकार्थप्रतिपत्तिस्तथा संबद्धपदसमूहश्रवणादपि किं न तथाभूतसामान्यप्रतिपत्तिर्भवेत् ? न हि ततः सामान्यमात्राधिगमे तत्परित्यागतो विशिष्टार्थप्रतिपत्तौ निमित्तमस्ति न चापेक्षा-सन्निधानादिकं पदार्थानां तत्प्रतिपत्तौ निमित्तम् पदार्थस्य पदार्थान्तरं प्रत्युत्पत्तौ प्रतिपत्तौ वा अपेक्षादेरयोगात् तस्य सामान्यात्मकत्वेन उत्पत्तेरसंभवात् स्वपदेभ्य एव प्रतिपत्तेः तत्रापि पदार्थान्तरापेक्षाद्यनुपपत्तेः । अर्थशक्तित एव ततो विशेषप्रतिपत्तिरिति चेत् तर्हि पदार्थानामेकार्थसंभवा प्रतिपत्तिर्यस्य तस्यापि ततस्तत्प्रतिपत्तिर्भवेत् । न च सामान्यत्यागे किञ्चिन्निबन्धनम् बाधकाभावात् सति अर्थित्वे उभयप्रतिपत्ति-प्रवृत्ती स्याताम् । न च वाक्यार्थप्रत्यय एव बाधकः तेन तस्य विरोधाभावात् सामान्य-विशेषयोः साहचर्यात् सामान्यप्रत्ययस्य च विशेषप्रतिपत्तिं प्रति निमित्तत्वाभ्युपगमात् निमित्तस्य च निमित्तिना अबाध्यत्वात् अन्यथा तस्य तन्निमित्तत्वायोगात् । अथ प्रागपि एवमयं व्युत्पादितः—यत्र पदार्थानामेकद्रव्यसंभवस्तत्र पदार्थसामान्यत्यागाद् विशेषः प्रतिपत्तव्यः यथा नीलोत्पलादौ, नन्वेवं सर्ववाक्यानि अस्य व्युत्पादितान्येव भवन्ति । तथाहि—यः कश्चित् संभवदेकद्रव्यार्थनिवेशः पदसमूहः स संकेतसमयावगतसामान्यात्मकावयवार्थपरित्यागतस्तेषामेव विशेषणविशेष्यभावेन विशिष्टार्थगोचरः प्रतिपत्तव्यः, यथा 'नीलोत्पलं पश्य' इत्यादिपदसंघातः, तथा चायमपूर्ववाक्यात्मकः पदसमुदायः इति संकेतमनुसृत्य यदा ततस्तथाभूतमर्थं प्रत्येति तदा कथं न विशिष्टार्थवाचकं वाक्यम् ? अनेनैव च क्रमेण शब्दविदां समयव्यवहार उपलभ्यते । यथा 'धात्वादिः क्रियादिवचनः कर्त्रादिवचनश्च लँडादिः'[1] इति समयपूर्वकं प्रकृति-प्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत इति व्युत्पादितोऽनर्थक्रियाकारित्वेन सामान्यमात्रस्य विशेषनिरपेक्षस्य प्रतिपादयितुमनिष्टेः तत्परित्यागेन व्यवहारकाले विशेषमवगच्छति व्यवहारी । न च प्रकृति-प्रत्ययार्थावेव अत्र पदार्थौ प्रतिपादयतः न पदमिति मन्तव्यम्,

"अशाब्दे वापि वाक्यार्थे न पदार्थेष्वशाब्दता ।
वाक्यार्थस्येव नैतेषां निमित्तान्तरसंभवः" ॥ [श्लो० वा० वाक्याधि० श्लो० २३०]

इत्यस्य विरोधप्रसक्तेः । न च वाक्यस्य वाक्यार्थे संकेतकरणे अनुमानात् शब्दस्य अविशेषप्रतिपत्तिः, विशेषस्य प्राक् प्रतिपादितत्वात् केवलस्य च पदस्य प्रयोगानर्हत्वात् वाक्यस्य तु प्रयोगार्हस्य सामान्यानभिधायकत्वात् कथं सामान्यं शब्दार्थः स्यात् ?

---

1 लगडादिः भा० हा० वि० । लगुडादिः वृ० । नियोगस्वरूपप्रतिपादन-निरसनपरा अष्टसहस्रीगता चर्चाऽत्र-पृ० ५ पं० १७-पृ० १० ।

यैस्तु पूर्वपदानुरञ्जितं पदमेव वाक्यम् पदार्थ एव पदार्थान्तरविशेषितो वाक्यार्थोऽभ्युपगतः। तथाहि—'दण्डी' 'छत्री' इत्यादिव्यपदेशं यथा पुरुष एव समासादयति नान्यस्तद्व्यतिरिक्तः तथा 'अपाक्षीत्' 'पचति' 'पक्ष्यति' इत्याद्यतीतकालाद्यवच्छिन्नः क्रियाविशिष्टश्च देवदत्त एव प्रतीयते-'अपाक्षीत्' इत्यादिशब्दानां देवदत्तशब्देन सामानाधिकरण्यात्-न तु तद्व्यतिरिक्तोऽर्थः। अथ यद्यत्र कालाद्यवच्छिन्नपुरुष एव प्रतीयते तदा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' 'ग्रामं गच्छ' 'स्वाध्यायः कर्तव्यः' इति लिङ्-लोट्-कृत्यप्रयोगेषु कस्यार्थस्य प्रतीतिः? अत्रापि कर्मणि नियुक्तः क्रियाविशिष्टोऽध्येषणादिविशिष्टश्च देवदत्त एव प्रतीयते केवलं वर्तमानादिः कालो न विशेषणत्वेन अत्र अवतिष्ठते। अथ यदि नात्रार्थातिरेकावगतिर्भावसंपादने कथं पुरुषः प्रवर्तते? यथा हि देवदत्तः 'पचति' इत्यादिवाक्यान्न प्रवर्तते तथा 'जुहुयात्' इत्यस्मादपि नैव प्रवर्तेत प्रवृत्तिनिमित्तस्य अनवबोधात्, असदेतत्; 'जुहुयात्' इत्यादिवाक्यजनितविज्ञानस्यैव प्रवर्तकत्वात् प्रवृत्तेस्तद्भावभावित्वेन उपलम्भात् एतद्वाक्यसमुत्थं ज्ञानं पुरुषं स्वर्गादिसाधने नियोजयद् उपलभ्यते न 'पचति' आदिवाक्यसमुत्थम्। तथाहि—विध्यादिवाक्यजनितज्ञानानन्तरमिच्छा तदनन्तरं प्रयत्नः तदनन्तरं च पुरुषस्य स्वर्गादिफलार्थः परिस्पन्दः ततोऽपि फलपर्यन्तात् स्वर्गफलावाप्तिः इत्यभिधानात्। तेऽपि अयुक्तिकारिणः एकान्तपक्षे विशेषण-विशेष्ययोरत्यन्तभेदे अभेदे वा विशेषणानुरागस्य पद-पदार्थेष्वसंभवात् वाक्यार्थकल्पनादेरनुपपत्तेः अत एव 'अपाक्षीद् देवदत्तः' इत्यादौ न कालक्रियाविशिष्टपुरुषप्रतिपत्तिः क्रियादेः पुरुषाद् भेदे संबन्धासिद्धितो व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः अभेदेऽपि एकस्य तात्त्विकविशेषणविशेष्यरूपताऽसंगतेः अन्यथा अतिप्रसङ्गात् कल्पनारचितस्य तद्रूपत्वस्य सर्वत्राविशेषात् विशिष्टप्रत्ययोत्पत्तेश्च अन्यनिमित्तत्वात् विरोधादिदोषस्य च तत्र प्रागेव प्रतिविहितत्वात्। एतेन लिङादियुक्तवाक्यजनितविज्ञानस्य प्रवर्तकत्वमेकान्तवादिप्रकल्पितं प्रतिक्षिप्तम् तद्भावभावित्वस्य अन्यथासिद्धत्वप्रतिपादनात्। यदपि अत्र

'"संसर्गमोहितधियो विविक्तं धातुगोचरात्।
भावात्मानं न पश्यन्ति ये तेभ्यः स विविच्यते"॥ [ ]

इत्यादिना ग्रन्थसंदर्भेण प्रतिपादयन्ति—भाव एव साध्यतया लिङादिभिरभिधीयते न कर्ता "पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातमाचष्टे" [ ] इति वचनाद् भाव एव च कालत्रयशून्यः साध्यतया प्रतीयमानो विधिरिति अभिधीयते स च आत्मलाभाय प्रेरयन् पुरुषं लिङर्थः' इति, तदपि अनुपपन्नम्; भावस्य फलसापेक्षत्व-निरपेक्षत्वविकल्पद्वयेऽपि साध्यत्वानुपपत्तेः। न तावत् फलनिरपेक्षो भाव आत्मविषयसाध्यतायां पुरुषं प्रेरयितुं समर्थः, प्रेक्षापूर्वकारिणः फलविकले कर्मणि कुतश्चिदप्रवृत्तेः। अपि च, असौ भावः स्वात्मनिष्पादनाय पुरुषं प्रेरयन् निष्पन्नः अनिष्पन्नो वा प्रेरयेत्? न तावद् निष्पन्नः तत्सद्भावस्य सिद्धत्वात्। नापि अनिष्पन्नः अविद्यमानस्य अतिप्रसङ्गतः प्रेरकत्वायोगात्। न च सामान्याकारेण विद्यमानो विशेषाकारसंपादनाय भावः पुरुषं प्रेरयतीति वक्तव्यम् सामान्याकारेण विद्यमानतया तस्य साध्यत्वानुपपत्तेः विद्यमानस्य च वर्तमानत्वेन लिङर्थत्वानुपपत्तेः त्रिकालशून्यस्य लिङर्थत्वाभ्युपगमाद् विशेषाकारतायाश्च संपाद्यत्वेऽपि प्रेरकत्वानुपपत्तिरित्युक्तम्। अथ फलापेक्षो भावः स्वात्मसंपादनाय पुरुषं प्रेरयतीत्यभ्युपगमस्तर्हि फलस्यैव प्रेरकत्वम् न भावस्य स्यात् तथाभ्युपगमेऽपि दोष एव-तत्रापि विद्यमानाविद्यमानविकल्पद्वयानतिवृत्तेः। तथाहि—यद्यपि सर्वाः क्रियाः प्रयोजनवत्त्वेन व्याप्ता इति तदेव भावसंपादने पुरुषं प्रेरयति तथापि तत् एकान्ततो विद्यमानं कथं पुरुषं प्रेरयेत्? न हि यद् यस्यास्ति स तदर्थमेव लोके प्रवर्तमानो दृष्टः प्रयोजनमनुद्दिश्य प्रेरकसद्भावेऽपि कस्यचित् प्रवृत्त्यनुपलब्धेः। न च प्रयोजनस्य आत्मसंबन्धितामुत्पादयितुमसौ प्रवर्तते, आत्मसंबन्धिताया अपि विद्यमानत्वेन प्रवृत्तिविषयत्वानुपपत्तेः। किञ्च, दुःखविरहसुखस्वभावलक्षणं प्रयोजनमुपजायमानमात्मसंबन्धितयैव उपजायते इति न तदर्थोऽपि प्रयासः सफलः। न च प्रयोजनमविद्यमानं पुरुषं प्रेरयति अविद्यमानस्य कारकत्वायोगात्। कार्यतया तत् तत्र प्रेरयतीति चेत्, ननु साऽपि यदि भावरूपा न तर्हि विद्यमानत्वात् पुरुषप्रवर्तिका भवेत्। न च विद्यमानस्य कार्यरूपता संभवति तस्य कार्यताविरोधात्। अथ अभावरूपा तथापि

१-वर्तेत वृ०। २-वर्तेत वृ०। ३-वर्तते वा० बा०। ४ अयुक्तका-वा० बा०। ५-सुख भा-भां०।

अनेकार्थराशिसूचनात् सूते वा अस्माद् अर्थराशिः शेते वा अस्मिन् अर्थसमूहः श्रूयते या अस्माद् अनेकोऽर्थ इति निरुक्तवशात् **सूत्रम्**। अर्यत इति अर्थः साक्षात् तस्याभिधेयः गम्यश्च सामर्थ्यात् तस्य स्थानमेव सूत्रम् यथार्थ सूत्रार्थव्यवस्थापनात् सूत्रान्तरनिरपेक्षस्य तस्य अर्थव्यवस्थापने प्रमाणान्तरबाधया तदर्थस्य तत्सूत्रस्य उन्मत्तकवाक्यवत् असूत्रत्वापत्तेः। अत एव निर्युक्त्याद्यपेक्षत्वात् सूत्रार्थस्य न सूत्रमात्रेणैव अर्थस्य पौर्वापर्येण अविरुद्धस्य प्रतिपत्तिः अयथार्थतयाऽपि अविवृतस्य तस्य श्रुतेः। **अर्थस्य** तु यथाव्यवस्थितस्य **गतिः** प्रतिपत्तिः पुनर्द्रव्यार्थ-पर्यायार्थलक्षण**नयवादावेव गहनं** विपिनम् तत्र **लीना** तथा च **दुरधिगम्या** दुरवबोधा सकलनयसम्मतार्थस्य प्रतिपादकं सूत्रम्—"जीवो अणाइणिहणो" [ ] इत्यादिवाक्यवद् न प्रमाणार्थसूचकं स्यात् प्रवृत्तानि च नयवादेन सूत्राणि। तथा च आगमः—

"णत्थि णएण विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमए किञ्चि।
आसज्ज उ सोआरं णए णअविसारओ बूआ"॥

[आवश्यकनि० उवग्घायनि० गा० ३८] इति॥ ६४॥

[अधीतसूत्रस्यार्थसंपादने प्रयत्नाभावे शासनविडम्बकत्वकथनम्]

यत एवम् अनेकान्तात्मकार्थप्रतिपादकत्वेन सूत्रं व्याख्येयम्—

तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्मि जइयव्वं।
आयरियधीरहत्था हंदि महाणं विलंवेन्ति॥ ६५॥

तस्मात् इति पूर्वोक्तार्थप्रत्यवमर्शार्थः **अधिगतम्** अधीतम् अशेषं **सूत्रं** येन असौ तथा-अधीततत्कालव्यावहारिकाशेषसिद्धान्तेन इति यावत् **अर्थसंपादने** तद्विषयप्रमाण-नय-स्वरूपावधारणे **यतितव्यम्**। अधीत्य सूत्रं श्रोतव्यम् श्रुत्वा च नयसर्वसंवादविनिश्चयपरिशुद्धं भावनीयम् अन्यथा **आचार्या धीरहस्ता** अशिक्षितशास्त्रार्था अनभ्यस्तकर्माऽपि कर्मणि धृष्टतया व्याप्रियते येषां हस्तस्ते धीरहस्ता आचार्याश्च ते अशिक्षितधृष्टाश्च इति यावत् **हंदि** गृह्यताम् ते तादृशा **महाज्ञाम्** आप्तशासनं विगोपयन्ति विडम्बयन्ति इति यावत्।

[निर्ग्रन्थानां वस्त्रपात्रादिनिषेधकस्य दिगम्बरीयमतस्य[2] पूर्वपक्षतयोपन्यासः]

तथा च दृश्यन्त एव सर्वज्ञवचनं यथावस्थितमनवगच्छन्तो दिग्वाससो वस्त्र-पात्रादिधर्मोपकरणसमन्वितानां यतीनां नैर्ग्रन्थ्याभावाद् न सम्यग्व्रतानि तीर्थकृद्भिः प्रतिपादितानीति प्रतिपादयन्तः। तथाहि—यद् रागाद्यपचयनिमित्तनैर्ग्रन्थ्यविपक्षरूपं तत् तदुपचयहेतुः यथा विशिष्टशृङ्गारानुपक्ताङ्गनाङ्गसंगादिकम् यथोक्तनैर्ग्रन्थ्यविपक्षभूतं च वस्त्रादिग्रहणं श्वेतवाससामिति। तथा, यः स्वीकृतग्रन्थः सोऽध्वनि संचरन् न अभीष्टस्थानप्राप्तिमान् भवति, यथा चौराद्युपद्रुते[3] पथि संचरन् असहायः स्वीकृतग्रन्थोऽध्वगः, स्वीकृतग्रन्थश्च मोक्षाध्वनि संचरन् वस्त्राद्युपकरणवान् सितपट इति। तथा, यो यद्विनेयः स तल्लिङ्गानुकारी, यथा चीवरादिलिङ्गधारिसुगतविनेयो रक्तपटः व्युत्सृष्टसकलदेहतीर्थकृद्विनेयाश्च भिक्षव इति। न च वस्त्राद्युपकरणाऽऽग्रहवत्सु प्रव्रज्यापरिणामः संभवी मिथ्यादृष्टिष्वपि परिग्रहाग्रहवत्सु अन्यथा तत्प्रसक्तेः। तथा च प्रयोग—श्वेतभिक्षवो महाव्रतपरिणामवन्तो न भवन्ति न वा तत्फलसाधकाः, वस्त्र-पात्रादिपरिग्रहाग्रहयोगित्वात्, महारम्भगृहस्थवत्। न च भगवद्भिः वस्त्रग्रहणं यतीनामुपदिष्टम् तदागमे वस्त्रग्रहणप्रतिषेधस्य श्रवणात्। तथाहि—स्थितकल्प[4] "आचेलक(कु)द्देसिय"[5]-[ ] इत्यादिसूत्रे चेलग्रहणप्रतिषेधः आचेलक्यपदेन

---

१ पृ० १३६। विशेषाव० गा० २२७७।
२ दिगम्बरीयमतमेतत् प्रमेयकमलमार्तण्डतोऽवगन्तव्यम्—पृ० ९५ प्र० पं० ५-द्वि० पं० ९।
३-राद्युपद्रुते आ०। ४ स्थितकल्पा आ-बृ० आ० हा० वि०। ४ स्थितिकल्पे आ-वा० बा०।
५-चेलुकद्देसि-भां० मां०।-चेलुकेद्देसि-आ० हा० वि०।-चेलुकद्देसि-वा० बा०।
"आचेलक्कुद्देसियसिज्जायररायपिंडकिइकम्मे। वयजेट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो"॥
—पञ्चाश० पृ० २६४ गा० ६।

कृत एव । तथा, परीषहेषु, अचेलपरीषहस्य यतेरुपदेशात् । तथा, "णगिणस्स वा वि मुण्डस्स" [ ] इत्याद्यागमे बहुशो यतेर्वस्त्रादिपरित्यागो भगवद्भिः प्रतिपादित इति । तत् प्रतिषिद्धं वस्त्रादिग्रहणमाचरन्तः परतीर्थिका इव कथं सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्रलक्षणमुक्तिमार्गसमन्विताः श्वेताम्बरा इति ।

[सिद्धान्तिना पूर्वपक्षं प्रतिविधाय निर्ग्रन्थानां धर्मोपकरणतया वस्त्रपात्रादिधारणस्य समर्थनम्]

अत्र प्रतिविधीयते—'यत् तावद् रागाद्यपचयनिमित्त-इत्यादिप्रयोगोपादानम्, तत्र रागाद्यपचयनिमित्तं किमेकदेशनैर्ग्रन्थ्यम्, आहोस्वित् सर्वथा नैर्ग्रन्थ्यम् इति ? यदि सर्वथा नैर्ग्रन्थ्यं रागाद्यपचयनिमित्तम् तन्न तथाभूतनैर्ग्रन्थ्यस्य मुक्तव्यतिरेकेण असंभवात् मिथ्यात्वाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योग-बलप्रवृत्ताष्टविधकर्मसंबन्धस्य ग्रन्थत्वात् तदभावस्य च आत्यन्तिकस्य निःशेषतो मुक्तेषु एव संभवात् ततश्च कथं तस्य रागाद्यपचयहेतुतेति कथं न विशेषणासिद्धो हेतुः । अथ देशनैर्ग्रन्थ्यं रागाद्यपचयनिमित्ततयाऽत्र विवक्षितं तदाऽत्रापि वक्तव्यम्—किं तत् सम्यग्ज्ञानादितारतम्येन उपचीयमानम् आहोस्विद् बाह्यवस्त्राद्यभावरूपम् ? तत्र यदि आद्यः पक्षः स न युक्तः तथाभूतस्य सम्यग्ज्ञानादिविपक्षत्वेन वस्त्रादिग्रहणस्य असिद्धेः हेतोर्विशेष्यासिद्धताप्रसक्तेः । नापि द्वितीयः वस्त्राद्यभावस्य रागाद्यपचयनिमित्तत्वासिद्धेः हेतोर्विशेषणासिद्धतादोषात् । न च वस्त्राद्यभावो रागाद्यपचयहेतुत्वेन सिद्ध इति वक्तव्यम् अतिशयरागवद्भिः पाशुपतादिभिर्व्यभिचारात् । न च पुरुषत्वे सति वस्त्राभावो रागाद्यपचयहेतुः वस्त्रविकलनाहलैर्व्यभिचारात् । न च आर्यदेशोत्पत्तिमत्पुरुषत्वे सति असौ तद्धेतुरिति वक्तव्यम् तथाभूतकामुकपुरुषैर्व्यभिचारात् । न च व्रतधारितथाभूतपुरुषत्वे सति असौ तन्निमित्तम् तथाभूतपाशुपतैर्व्यभिचारात् । न च 'जैनशासनप्रतिपत्तिमत्तथाभूतपुरुषत्वे सति' इति विशेषणोपादानात् अदोषः, उन्मत्तदिगम्बरैर्व्यभिचारात् । न च 'अनुन्मत्तत्वे सति' इत्यपरविशेषणाद् दोषाभावः मिथ्यात्वोपेतद्रव्यलिङ्गावलम्बिदिग्वाससा व्यभिचारात् । न च सम्यग्दर्शनादिसमन्वितपुरुषत्वे सति असौ तद्धेतुः विशेषणस्यैव तत्र सामर्थ्येन विशेष्यस्यासामर्थ्यतोऽनुपादानप्रसक्तेः । न च विशिष्टश्रुतसंहननविकलानामर्वाक्कालभाविपुरुषाणां वस्त्रादिधर्मोपकरणाभावे यतियोग्याहारविरह इव विशिष्टशरीरस्थितेरभावतः सम्यग्दर्शनादिसमन्वितत्वविशेषणोपपत्तिरिति विशेष्यसद्भावो विशेषणस्य बाधक एव । अथ वस्त्रादिपरिग्रहस्य तृष्णापूर्वकत्वात् तस्यां च रागादेरवश्यंभावित्वात् सम्यग्दर्शनादेश्च तद्विपक्षत्वात्, तृष्णाप्रभववस्त्रग्रहणाभावः स्वकारणनिवृत्तिमन्तरेण अनुपपद्यमानो रागादिविपक्षभूतसम्यग्ज्ञानाद्युत्कर्षविधायकत्वात् कथं तद्भावबाधकत्वेन उपदिश्यत इति न; वस्त्रादिपरिग्रहस्य तृष्णानिमित्तत्वे आहारग्रहणस्यापि तथात्वप्रसक्तेः । न च आहारग्रहणस्य परिग्रहव्यवहाराविषयत्वात् न तृष्णापूर्वकत्वमिति वाच्यम् मूर्छाविषयत्वे तस्य 'परिग्रह'शब्दवाच्यत्वोपपत्तेः "मूर्छा परिग्रहः" [तत्त्वार्थ० ७-१२] इति वचनात् । अथ स्रक्-चन्दनादिवद् उपभोगार्थम् मांसादिभक्षणवत् शरीरबृंहणार्थं वा नासौ गृह्यते किन्तु ज्ञानाद्युपष्टम्भनिमित्तशरीरस्थित्यादिहेतुतया अतो न तृष्णापूर्वकः नापि 'परिग्रह'-शब्दवाच्यः तर्हि वस्त्रादिधर्मोपकरणग्रहणेऽपि समानमेतत् । अथ वस्त्राद्यभावेऽपि शरीरस्थितिसंभवात् तृष्णापूर्वकमेव तद्ग्रहणम्, न; आहारेऽप्यस्य समानत्वात् । अथ तमन्तरेण चिरतरकालशरीरस्थितेरसदादेरदर्शनात् वेदनोपशमादिभिः षड्भिर्निमित्तैस्तस्य ग्रहणं तर्हि अनुत्तमसंहननस्य विशिष्टश्रुताऽपरिकर्मितचित्तवृत्तेः कालातिक्रान्तादिवसतिपरिहारकृतप्रयत्नस्य षड्विधजीवनिकायविध्वंसविधाय्यग्न्याद्यनारम्भिणः शीताद्युपद्रवाद् वस्त्रादिग्रहणमन्तरेण शरीरस्थितेरभावात् तद्ग्रहणमपि न्याय्यम् तथा, वाय्वादिनिमित्तप्रादुर्भूतविक्रियावल्लिङ्गसंवरणप्रयोजनपटलाद्युपधिविशेषस्य च ग्रहणं किं नाभ्युपगम्यते शीतादिबाधोपजायमानार्तध्यानप्रतिषेधार्थं युक्तकल्पादेश्चादानं किमिति

---

१ सविस्तरमेतद् समर्थनं विशेषावश्यकभाष्य–उत्तराध्ययनपाइअटीका–शास्त्रवार्तासमुच्चयटीकातोऽवगन्तव्यम्—गा० २५५०-२६०९ । अ० २ । पृ० ३१७ द्वि०-३२५ द्वि० ।

२-णग्गस्स वा-आ० ज्ञा० वि० ।

नेष्यते? न च स्त्री-स्रक्-चन्दनाद्यभावोपजायमानसंक्लेशपरिणामनिबर्हणार्थं स्त्र्यादेरपि ग्रहणं प्रसज्यत इति वक्तव्यम् क्षुद्वेदनाप्रशमनिमित्तत्रिकोटीपरिशुद्धाहारग्रहणवद् अङ्गनासंप्रयोगसंकल्पप्रभववेदनापरिणामोपशमार्थं वृष्यतरमांसाद्याहारग्रहणस्यापि प्रसक्तेः। अथ तथाभूताहारग्रहणे सुतरां क्लिष्टाध्यवसायोत्पत्तिप्राबल्यमिति न तद्ग्रहणम् तत् स्त्र्यादिग्रहणेऽपि समानम्। यदपि वस्त्राद्यभावे संक्लेशपरिणामोत्पत्तिः कातराणाम् न स्वशरीरमपि काष्ठवद् मन्यमानानां दिग्वाससाम् तथादर्शनात् इति, तदपि अनुभवविरुद्धम्; आर्तध्यानोपगतानामनन्तसत्त्वोपमर्दविधाय्यनलारम्भादिप्रतिषिद्धाचरणवत्तया तेषामुपलम्भात् तदनाचरणवतस्तु आत्महिंसकत्वेन अविरत्याश्रयणाद् अयतित्वं न्यायतः प्रसक्तम्। अथ गण्डच्छेदनादिप्रादुर्भवद्दुःखातिशयमसहमानकातरातुरवत् तद्दुःखान्तं न शीतादिदुःखमसहमानः संसारबाधान्तमुपयातुं क्षमः तर्हि क्षुद्वेदनादुःखासहनेऽपि एतत् समानम्। अथ मुक्तिमार्गाविरोधित्वाद् आहारग्रहणमदुष्टम् वस्त्रादिग्रहणमपि अत एव किं नादुष्टम्? अथ वस्त्रादेर्मलादिदिग्धस्य यूकादिसन्मू(सम्मू)र्छनानेकसत्त्वहेतुतया तद्ग्रहणे तद्व्यापत्तेरवश्यंभावित्वात् मुक्तिमार्गाविरोधित्वं तस्यासिद्धम् तर्हि आहारग्रहणेऽपि एतत् समानम्—सम्मूर्छनाद्यनेकजन्तुसंपातहेतुत्वस्य तत्परिभोगनिमित्ततद्विनाशस्य च तत्रापि संभवात्। तथाहि—संभवन्त्येव आगन्तुकाः सम्मूर्छनजाश्च अनेकप्रकारास्तत्र जन्तवः तत्परिभोगे च अवश्यंभावी तेषां विनाशः भुक्तस्य च तस्य कोष्ठगतस्य संसक्तिमत्त्वात् तदुत्सर्गे अनेककृम्यादिसत्त्वव्यापत्तिरवश्यंभाविनी। अथ विधानेन तत्परिभोगादिकं विदधतो न सत्त्वव्यापत्तिः व्यापत्तो वा शुद्धाशयस्य तद्रक्षादौ यत्नवतो गीतार्थस्य ज्ञानादिपुष्टालम्बनप्रवृत्तेः अहिंसकत्वाद् न तद्ग्रहणं मुक्तिमार्गविरोधि तर्हि वस्त्रादिग्रहणमपि एवं क्रियमाणं कथं मुक्तिमार्गविरोधि स्यात्? अथ वस्त्रादेर्मलदिग्धस्य क्षालने अप्कायादिविनाशः बाकुशिकत्वं च अक्षालने संसक्तिदोष इति उभयतः पाशारज्जुरिति तद्ग्रहणं मुक्तिमार्गविरोधि, न, आहारादिग्रहणेऽपि अस्य समानत्वात्। तथाहि—तद्दिग्धस्य आस्यादेः प्रक्षालनादौ अप्कायादिविनाशः अक्षालने प्रवचनोपघात इति तद्ग्रहणस्य मुक्तिमार्गविरोधित्वं कथं न समानम्? अथ प्रासुकोदकादिना यत्नतस्तद्दिग्धाऽऽस्यादिप्रक्षालने नायं दोषः वस्त्रादिशोधनेऽपि यत्नतः क्रियमाणे अदोष एव। तेन 'न साक्षाद् वस्त्रग्रहणस्य मुक्तिसाधनत्वम् रत्नत्रयस्यैव साक्षात् तत्साधनत्वात्। नापि परम्परया रत्नत्रयकारणत्वेन तद्ग्रहणस्य रत्नत्रयविरोधित्वात्—निष्परिग्रहविरोधि सपरिग्रहत्वमिति सकललोकप्रसिद्धम् रूपज्ञानोत्पत्तेस्तम इव। न च रत्नत्रयहेतुशरीरस्थितिकारणत्वेन वस्त्रादिग्रहणं परम्परया मुक्तिसाधनम् तदन्तरेणापि रत्नत्रयनिमित्तशरीरस्थितिसंभवात्' इति यदुक्तम् तत् प्रदर्शितन्यायेन प्रतिक्षिप्त द्रष्टव्यम्। आहारग्रहणेऽपि अस्य समानत्वेन प्रदर्शितत्वात्। अत एव 'साक्षात् पारम्पर्येण वा मुक्त्यनुपयोगिवस्त्रादिग्रहणं रागाद्युपचयहेतुः तत् स्वीकुर्वंस्तृष्णायुक्तत्वात् यत्याभासो गृहस्थं नातिशेते' इत्यादि अपकर्णनीयम् आगमोक्तविधिना वस्त्रादिग्रहणस्य हिंसाद्यपायरक्षणनिमित्ततया मुक्तिमार्गसम्यग्ज्ञानाद्युपबृंहकत्वात् तत्परित्यागस्य तु अर्वाक्कालीनयत्यपेक्षया तद्बाधकत्वात्। ततो विशेष्यसद्भावे 'सम्यग्ज्ञानाद्यन्वितत्वे सति' इति विशेषणमसिद्धम् सति च अस्मिन् विशेष्यमसिद्धम् इति व्यवस्थितम्। तत्र रागाद्यपचयनिमित्ततापरव्यावर्णितस्वरूपस्य नैर्ग्रन्थ्यस्य सिद्धा। अत एव व्यावर्णितस्वरूपनैर्ग्रन्थ्यविपक्षभूतत्वेऽपि वस्त्रादिग्रहणस्य न रागाद्युपचयं प्रति गमकत्वम् तद्विरुद्धेन सम्यग्दर्शनाद्युपचयेन यथोक्तवस्त्रादिग्रहणस्य व्याप्तत्वेन तद्विरुद्धसाधकत्वात्। दृष्टान्तस्यापि परव्यावर्णितनैर्ग्रन्थ्यविपक्षभूतत्वासिद्धेः साधनविकलता। न च यथोक्ताङ्गनासंगादिरपि उपसर्गसहिष्णोर्वैराग्यभावनावशीकृतचेतसो योगिनो रागाद्युपचयहेतुः भरतेश्वरप्रभृतिषु तस्य तत्प्रक्षयहेतुत्वेन शास्त्रे श्रवणात् "जे जत्तिआ इ हेऊ भवस्स" [ ] इत्याद्यागमप्रामाण्यात्। रागाद्यप[5]यनिमित्तनैर्ग्रन्थ्यविपक्षभूतत्वं च

1-मार्थं दृष्यतरमा-वा० बा०।-मार्थं वृषस्यतरमां-आ० हा० वि०।-मार्थं वृषस्यतरमां-भां० मां०। आ० हा० वि०। ३-म्मूर्छनाश्च भा० मा०।-म्मूर्छजाश्च वा० बा०। ४ संसक्तिर्दो-वा० बा०। ५ जेत्तिआ पु० आ० हा० वि०।

वस्त्राद्युपादानस्य असिद्धम् धर्मोपकरणत्वेन तस्य ग्रन्थत्वानुपपत्तेः। तथा च प्रयोगः—अर्हन्मार्गोक्तक्रियाव्यवस्थितानां सम्यग्दर्शनादिसंपद्युक्तानां यतीनां वस्त्रादिकं न ग्रन्थः, धर्मोपकरणत्वात्, प्रमार्जनादिनिमित्तोपादीयमानपिच्छिकादिवत्, यत् तु कर्मबन्धहेतुतया ग्रन्थत्वेन प्रसिद्धं तत् धर्मोपकरणमपि न भवति, यथा लुब्धकादेर्मृगादिबन्धनिमित्तं वागुरादिकम्। न च धर्मोपकरणत्वं वस्त्रादेरसिद्धम् वस्त्राद्यन्तरेण यतीनामुक्तलक्षणानामर्हत्प्रणीताऽब्रह्मपरित्यागादिलक्षणस्य व्रतसमूहस्य सर्वथा संरक्षणहेतुत्वानुपपत्तेः। यच्च व्रतसंरक्षणहेतुः तद् धर्मोपकरणत्वेन परस्यापि सिद्धम् यथा पिच्छिकादि वैधर्म्येण वागुरादि। न च पिच्छिकादेरभिष्वङ्गहेतुत्वानुपपत्तेर्धर्मोपकरणत्वं युक्तम् न वस्त्रादेः तद्विपर्ययात् इति वाच्यम् अनभिष्वङ्गनिमित्तस्यैव तस्यापि धर्मोपकरणत्वाभ्युपगमात् अभिष्वङ्गनिबन्धनस्य शरीरादेरपि अधर्मोपकरणत्वात्। न च शरीरेऽपि अप्रतिबद्धानां विदितवेद्यानां साधूनां वस्त्रादिषु 'मम इदम्' इति अभिनिवेशः। उक्तं च तत्त्वार्थसूत्रकृता वाचकमुख्येन—

"यद्वत् तुरगः सत्स्वप्याभरणविभूषणेष्वनभिषक्तः।
तद्वद् उपग्रहवानपि न संगमुपयाति निर्ग्रन्थः" ॥ [प्रशमर० का० १४१]

अभ्युपगमनीयं चैतत् परेणापि अन्यथा शुक्लध्यानाग्निना कर्मेन्धनं भस्मसात् कुर्वतः परित्यक्ताशेषसंगस्य केनचित् तदुपसर्गकरणबुद्ध्या भक्त्या वा वस्त्राद्यावृतशरीरस्य ग्रन्थत्वात् परमयोगिनो मुक्तिसाधकत्वं न स्यात्। अथ यत् स्वयमादत्तं वस्त्रादि तद् अभिष्वङ्गनिमित्तत्वाद् न धर्मोपकरणम्, न; स्वयं गृहीतपिच्छिकादिना व्यभिचारात्। अथ पिच्छिकाद्यग्रहे अप्रमार्जितासनाद्युपवेशनादिसंभवतः सूक्ष्मसत्त्वव्यापत्तिसद्भावे प्राणातिपातविरमणादिमहाव्रतधारणानुपपत्तेः तदर्थं तद्ग्रहणम् धर्मोपकरणत्वं च पिच्छिकादेः अत एव उपपन्नम् तर्हि अत एव पात्रस्यापि धर्मोपकरणत्वम् तद्ग्रहणं च उपपन्नम् तदन्तरेण एकत्रैव भुजिक्रियां हस्त एव विदधतामारम्भदोषतः कर-चरणक्षालने च जलगतासंख्येयादिसत्त्वव्यापत्तितो महाव्रतधारणानुपपत्तेः। न च प्रतिगृहम् ओदनस्य भिक्षामात्रस्य उपभोगात् वस्त्रपूतोदकाङ्गीकरणाच्चायमदोषः तथाभूतप्रवृत्तेर्युष्माकु अनुपलम्भात् प्रवृत्तावपि प्रवचनोपघातप्रसक्तेः तस्य च अबोधिबीजत्वात्—

"छक्कायदयावंतो वि संजओ दुलहं कुणइ बोहिं।
आहार" [ ]

इत्याद्यागमप्रामाण्यात्। न च गृहस्थवाससा पूतमपि उदकं निर्जन्तुकं सर्वं संपद्यते तज्जन्तूनां सूक्ष्मत्वात् वस्त्रस्य चाघनत्वाद् गृहिणां तच्छोधने अतिशयप्रयत्नानुपपत्तेश्च। न च कर एव प्रत्युपेक्ष्यतत्सत्त्वानुपलब्धौ तदुपभोगाद् न पूर्वोक्तो दोषः तथा अनिरीक्षणात् तदनुपलब्धावपि तदभावनिश्चयायोगात्। न च यत्ननिरीक्षणानुपलब्ध्या व्यापाद्यमाना अपि सत्त्वा न व्रतातिचारकारिणः विषचूर्णादेरनुपलभ्यभुक्तस्य प्राणनाशहेतुत्वोपलब्धेः। न च चतुर्थरसादेः प्रासुकोदकस्य उपभोगाद् अयमदोषः तत्रापि सत्त्वसंसक्तिसंभवात्—करप्रक्षिप्ते तस्मिन् तन्निरीक्षणे पानोज्झनयोस्तद्व्यापत्तिदोषस्य अपरिहार्यत्वात् पात्रादिग्रहणे तु तत्प्रत्युपेक्षणस्य तद्रक्षणस्य च सुकरत्वात् न व्रतातिचारदोषापत्तिः। न च त्रिवारोद्वृत्तोष्णोदकस्यैव परिभोगात् अयमदोषः तथाभूतस्य प्रतिगृहं तत्कालोपस्थायिनः तस्य अप्राप्तेः प्राप्तावपि तस्य तृडपनोदाक्षमत्वात् तद्युक्तस्य च अनुत्तमसंहननस्य इदानींतनयतेः आर्तध्यानोपपत्तेः तस्य च दुर्गतिनिबन्धनत्वात्। न च तृडादेर्दुःखस्य तपोरूपत्वेन आश्रयणीयत्वात् अयमदोषः अनशनादेर्बाह्यतपस आन्तरतपउपबृंहहेतुत्वेन आधीयमाणत्वात् अन्यादृग्भूतस्य च अतपस्त्वात्—

"सो य तवो कायव्वो जेण मणो मंगुलं न चिंतेइ"। [पञ्चव० पृ० ३५ गा० २१४]

१-त्युपेक्ष्यतत्सत्वा-वृ० वा० बा० भां० मां०। -त्युपेक्षितसत्वा-आ०।

२ "जेण न इंदियहाणी जेण य जोगा न हायंति" इत्युत्तरार्धम्। हरिभद्रः स्वीयेऽष्टकप्रकरणे यशोविजयः ज्ञानसारे च एतामेव गाथामनुसरतः। तथाहि—

"मनइन्द्रिययोगानामहानिश्चोदिता जिनैः। यतोऽत्र तत् कथं त्वस्य युक्ता स्याद् दुःखरूपता"? ॥ ५ ॥—तपोऽष्टकम्।

"तदेव हि तपः कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्। येन योगा न हीयन्ते क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि वा"—अष्ट० ३१ ॥ ७ ॥

इत्याद्यागमप्रामाण्यात्। स्तुतिकृताऽपि उक्तम्–

"बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचंर त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्" [स्वयंभूस्तो० ८३]

इति । तत्र वस्त्र-पात्रादिविकलस्येदानींतनयतेः सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानं संभवतीति कथं न तस्य धर्मोपकरणत्वम्? एवं 'यः स्वीकृतग्रन्थः' इत्यादिप्रयोगेऽपि वस्त्रादिधर्मोपकरणस्याग्रन्थत्वप्रतिपादनात् 'स्वीकृतग्रन्थश्च मोक्षाध्वनि संचरन् वस्त्राद्युपकरणवान्' इति हेतुरसिद्धः। न च तथाविधवस्त्राद्युपकरणधारिणां चौरादिभ्य उपद्रवः संभवति, तद्वस्त्रादेरशोभनत्वाऽल्पमूल्यत्वाभ्यां चौराग्राह्यत्वात् । अथ अधमचौरास्तथाभूतमपि गृह्णन्तीति तदग्राह्यत्वं तस्यासिद्धम्, नन्वेवं पुस्तकाद्यपि मोक्षाध्वसंचारिणा न ग्राह्यं स्यात् तत्रापि अस्य दोषस्य समानत्वात् । अथ तदपि भगवता प्रतिषिद्धम्, न; तत्प्रतिषिद्धपुस्तकादिग्राहिणामिदानींतनऋषीणां तदाज्ञाविलोपकारित्वेन अयतित्वप्रसक्तेः । ज्ञानाद्युपष्टम्भहेतुत्वेन तद्ग्रहणे पात्रादावपि तत एव ग्रहणप्रसक्तिः । न च पाथेयाद्युपकरणरहितस्य अध्वगस्यापि अभीष्टस्थानप्राप्तिः संभविनी इति दृष्टान्तोऽपि असंगत एव सर्वस्य विशिष्टफलारम्भिणस्तदुपकरणरहितस्य तत्फलाऽप्रसाधकत्वात्। तथाहि–यो यत्रोपायविकलो नासौ तत् साधयति, यथा कृष्याद्युपायविकलः तत्फलम्, अशेषकर्मविगमस्वभावमुक्तिफलवस्त्रादिधर्मोपकरणोपायविकलश्च मुनिर्भवद्भिरभ्युपगम्यत इति । न च क्षायिकज्ञान-दर्शन-चारित्राण्येव तदुपाय इति वक्तव्यम्, 'वस्त्रादिधर्मोपकरणविकलस्य क्षायिकज्ञानादेरेव असंभवात्' इति उक्तत्वात्। 'यो यल्लिनेयः' इत्यादिकोऽपि प्रयोगोऽनुपपन्नः, 'सर्वथा परित्यक्तवस्त्रतीर्थकृद्विनेयत्वात्' इत्यस्य हेतोरसिद्धत्वात् भगवत एव परित्यक्तवस्त्रत्वानुपपत्तेः–

"सव्वे वि एगदूसेण णिग्गया जिणवरा" [आवश्यकसू० गा० २२७]

इत्याद्यागमप्रामाण्यात् । न च अस्यान्यार्थत्वम्, आचाराद्यङ्गेषु तैस्तैः सूत्रैर्भगवत्येकवस्त्रग्रहणस्य श्रामण्यप्रतिपत्तिसमये प्रतिपादितत्वात् । न चैवं तदा सर्ववस्त्रपरित्यागावेदकस्तत्र कश्चिदागमः श्रूयते। योऽपि–

"वोसट्ठचत्तदेहो विहरइ गामाणुगामं तु" [ ]

इत्यागमः सोऽपि न श्रामण्यप्रतिपत्तिसमयभाविभगवन्नग्नत्वावेदकः किन्तु तदुत्तरकालं रागादिविप्रमुक्तत्वं भगवति आवेदयति न हि अनेन आगमेन भगवतो वस्त्रवैकल्यमावेद्यते ।

किञ्च, यदि 'यो यल्लिनेयः स तल्लिङ्गधारी तदा भवतामिव भगवतोऽपि कमण्डलु-टट्टिकादिलिङ्गधारित्वप्रसक्तिः। अथ न देवचरितमाचरितुं शक्यत इति तदगृहीतटट्टिकादिग्रहः अस्माभिः तद्व्यतिरेकेण महाव्रतधारणं कर्तुमशक्तैराश्रीयते तर्हि–

"जारिसयं गुरुलिङ्गं सीसेण वि तारिसेण होयव्वं" [ ]

इत्याद्यभिनिवेशस्त्यज्यताम्। यदपि 'न च वस्त्राद्युपकरणाग्रहवत्सु प्रव्रज्यापरिणामः संभवति' इत्याद्यभिधानम् तदपि असंगतम्, परिग्रहाग्रहवत्सु प्रव्रज्यापरिणामस्य अस्माभिरपि अनिष्टेः। न च सर्वसावद्ययोगविरतिप्रतिज्ञानिर्वाहनिमित्तवस्त्रादिधर्मोपकरणयोगिषु परिग्रहाग्रहवत्त्वम् अन्यथा शरीरयोगिष्वपि परिग्रहाग्रहवत्त्वं स्यात् । अथ तत्र परित्यक्तुं शक्यत इति, अविधानेन तत्परित्यागे अनेकभवानुबन्धितदनुपक्तिप्रसक्तिः विधानपरित्यागस्तु तस्य प्रस्तुतविधिनैव तर्हि वस्त्राद्युपकरणत्यागेऽपि अयमेव विधिः अन्यथा प्रव्रज्यापरिणामस्य प्रकृष्टफलनिर्वर्तकस्य वस्त्राद्युपादानमन्तरेण असंभवात् तत्संभवे च शरीरत्यागवद् वस्त्रादित्यागस्यापि स्वतः सिद्धत्वात् उत्तीर्णमहार्णवपुरुषयानपरित्यागस्येव प्राक् तु तत्परित्यागो महार्णवयानमध्यासीनयानपरित्यागवद् अपायहेतुरेव । तेन 'श्वेतभिक्षवो महाव्रतपरिणामवन्तो न भवन्ति' इत्यादिप्रयोगे 'परिग्रहाग्रहयोगित्वात्' इत्यस्य

१-चार (चरे) स्त्व-भां० मां० ।-चरस्त्व-वृ० वा० बा० ।

२ "चउव्वीस । न य नाम अण्णलिंगे नो गिहिलिंगे कुलिंगे वा" ॥–आवश्यकसू० पृ० १३७ । विशेषाव० टी० पृ० १०२२, १०३२ ।

३ न देव-भां० मां० ।

४ "न हि होइ सुद्धसीसो सेयवडो नग्गसवणो वा" ॥ इत्युत्तरार्धम् ।–विशेषा व० टी० पृ० १०३२ ।

५-यानमध्यमध्यासीन-आ० हा० वि० विना ।

हेतोरसिद्धतैव । यदपि 'न च भगवद्भिर्वस्त्रग्रहणं यतीनामुपदिष्टम्' तदपि अनधीतागमस्याभिधानम्, आचाराद्यङ्गेषु वस्त्र-पात्रैषणाध्ययनादिषु तद्ग्रहणस्य यतीनां विस्तरतो भगवता प्रतिपादनात् । तथा च औधिकोपधिर्जिनकल्पिकानां द्वादशविधः स्थविरकल्पिकानां चतुर्दशविधः निर्ग्रन्थीनां पञ्चविंशतिविधो भगवद्भिरनुज्ञातः—

"जिणा बारसरूवा ओ थेरा चोद्दसरूविणो ।
अज्जाणं पणवीसं तु अओ उड्ढमुवग्गहो[1]" ॥ [पञ्चव० गा० ७७१]

इत्याद्यर्हदुक्तागमप्रामाण्यात् । यदपि 'स्थितकल्पे आचेलक्यम् परीषहेषु वा अचेलत्वं यतेरुपदिष्टम्' तदपि शुक्लाऽकृत्स्नवस्त्रग्रहणापेक्षया वस्त्राभावेऽपि अनेषणीयतद्ग्रहणापेक्षया च अन्यथा वस्त्रादिग्रहणाभिधायकस्य अनेकस्य आगमस्य एतदागमबाधितत्वेन अप्रामाण्यप्रसक्तेः यथा च भुञ्जानोऽपि एषणीयमाहारम् क्षुत्परीषहजेता यतिः अनेषणीयाहारपरित्यागात् तथा वस्त्रैषणापरिशुद्धवस्त्रा-ग्रहणात् शुक्लजीर्णवस्त्रवानपि मुनिः अचेलपरीषहजेता किं न स्यात् ?

"णगिणस्स वा वि" [ ]

इत्याद्यपि आगमः तथाविधवस्त्रवतोऽपि नग्नत्वमाह उक्तन्यायात् दृश्यन्ते हि लोके तथाविधवस्त्र-वन्तोऽपि 'नग्ना वयम्' इत्यात्मानं व्यपदिशन्तः ।

"जे भिक्खू कसिणं वत्थं पडिगाहेइ" [ ]

इत्यादेः प्रमाण-मूल्याधिकवस्त्रग्रहणप्रतिषेधविधायिनः योग्यायोग्य-तद्ग्रहण-प्रतिषेधविधायिनश्च आगमस्य

"पिण्डं सेज्जं च वत्थं च चउत्थं पायमेव य ।
अकप्पियं ण इच्छेज्जा पडिगाहेज्ज कप्पियं" ॥ [ ]

इत्यादेर्द्वादशाङ्गयन्तर्गतस्य अनेकस्य सद्भावाच्च गौणार्थवृत्तेरुत्तमसंहननपुरुषविशेषविषयप्रतिनियता-वस्थागोचरवस्त्रमोक्षप्रतिपादकतया मुख्यवृत्तेर्वा आगमलेशस्य श्रवणमात्राद् भगवत्प्रतिपादितं यतीनां वस्त्रादिग्रहणं प्रतिक्षेप्तुं युक्तम् । तत्प्रतिक्षेपकारिणो बृहस्पतिमतानुसारिण इव [illegible]दृष्टित्वप्रसक्तेः । अतो वस्त्राद्युपकरणसमन्विताः श्वेतभिक्षवो निर्वाणफलहेतुसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-युक्ताः, अविकलार्हत्प्रणीतमहाव्रतसंपन्नत्वात्, गणधरादिवत् । तदेवं धर्मोपकरणयुक्तस्य महाव्रतधारिणो निर्ग्रन्थत्वाद् आर्यिकाणामपि मुक्तिप्राप्त्यविरोधः ।

[स्त्रीणां मोक्षाधिकारसमर्थनपरा चर्चा]

अथ स्त्रियो मुक्तिभाजो न भवन्ति, स्त्रीत्वात्, चतुर्दशपूर्वसंविद्भागिन्य[7] इव । अत्र यदि 'सर्वाः स्त्रियो मुक्तिभाजो न भवन्ति' इति साध्येत तदा सिद्धसाध्यता अभव्यस्त्रीणां मुक्तिसद्भावानभ्युपगमात् । अथ 'भव्या अपि तास्तद्भाजो न भवन्ति' इति साध्यते[8] तदा अत्रापि सिद्धसाध्यता भव्यानामपि सर्वासां मुक्तिसंगानिष्टेः—

"भव्वा वि ते अणंता सिद्धिपहं जे ण पावेंति" [ ]

इति वचनप्रामाण्यात् । अथ अवाप्तसम्यग्दर्शना अपि ता न तद्भाजः इति पक्षः अत्रापि सिद्धसाध्यता तदवस्थैव प्राप्तोज्झितसम्यग्दर्शनानां तासां तद्भाक्त्वानिष्टेः । अथ अपरित्यक्तसम्यग्दर्शना अपि न तास्तद्भाजः तथापि सिद्धसाध्यता अप्राप्ताऽविकलचारित्राणां सम्यग्दर्शनसद्भावेऽपि तत्प्राप्त्यनभ्युपगमात् । अथ अविकलचारित्रप्राप्तिरेव तासां न भवति, कुत एतत् ? यदि स्त्रीत्वात् पुरुषस्यापि सा न स्यात् पुरुषत्वात् । अथ पुरुषे सकलसावद्ययोगनिवृत्तिरूपा चित्तपरिणतिः स्वसंवेदना-

१-मुवग्गहो वा० बा० । २ पञ्चव० पृ० १२१ । ३-वस्त्रादिग्रहणावानपि मुनिः आ० हा० वि० ।–वस्त्राग्रहणात् शुक्लजीर्णवानपि मुनिः बृ० । ४ पृ० ७४७ पं० ११ । ५-शस्याश्रवमा-आ० ।

६ दिगम्बरमार्गानुयायिनः स्त्रीमोक्षं न संमन्यन्ते तन्मतं प्रमेयकमलमार्तण्डतोऽवबोद्धव्यम्—पृ० ५४ प्र० पं० १०-१६ ।

सविस्तरं स्त्रीमोक्षसमर्थनं च उत्तराध्ययनपाइअटीका–प्रज्ञापनाटीका–शास्त्रवार्तासमुच्चयटीकातोऽवगन्तव्यम्–अ० ३६ । पृ० २०-२२ । पृ० ४२४-४३० ।

७-पूर्वविद्भा- बृ० आ० हा० वि० । ८ साध्ये तदा बृ० सं० विना ।

ध्यक्षसिद्धा स्वात्मनि अन्यैरनुमानादवसीयते; ननु सा स्त्रियां तथैव किं नावसीयते येन तत्र तस्याः स्वाग्रहावेशवशादभावः प्रतिपाद्यते । अथ तासां भगवता नैर्ग्रन्थ्यस्य अनभिधानाद् न तत्प्राप्तिः, असदेतत्; तासां तस्य भगवता—

"णो कप्पइ निग्गंथस्स णिग्गंथीए वा अभिन्नतालपलंबे पडिगाहित्तेए" [कप्पसु० उ० १ सू० १]

इत्याद्यागमेन बहुशः प्रतिपादनात् अयोग्यायाश्च प्रव्रज्याप्रतिपत्तिप्रतिषेधस्य—

"अट्ठारस पुरिसेसुं वीसं इत्थीसु" [ ]

इत्याद्यागमेन विधानाच्च । विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञापरत्वाच्च न तासां भगवत्प्रतिपादितनैर्ग्रन्थ्यनिमित्ताऽविकलचारित्रप्राप्त्यनुपपत्तिः। अथ तथाभूतचारित्रवत्त्वेऽपि न तासां तद्भाक्त्वमिति साध्यार्थः तथापि अनुमानबाधितत्वं पक्षस्य दोषः । तथाहि—यद् अविकलकारणं तद् अवश्यमुत्पत्तिमत् यथा अन्त्यावस्थाप्राप्तबीजादिसामग्रीकोऽङ्कुरः अविकलकारणश्च तस्यामवस्थायां सीमन्तिनीमुक्त्याविर्भावः इति कथं न पक्षस्य अनुमानबाधा? अथ स्त्रीवेदपरिक्षयाभावात् न अविकलचारित्रप्राप्तिस्तासामिति न मुक्तिभाक्त्वम् तर्हि पुरुषस्यापि पुरुषवेदापरिक्षयात् न अविकलचारित्रप्राप्तिरिति न मुक्तिप्राप्तिर्भवेत् । अथ तत्परिक्षये शैलेश्यवस्थाभाविचारित्रप्राप्तिमतः पुरुषस्य मुक्तिप्राप्तिर्न प्राक् तर्हि सीमन्तिन्या अपि एवं मुक्तिप्राप्तौ न कश्चिद् दोषः संभाव्यते । अथ अस्याः स्त्रीवेदपरिक्षयसामर्थ्यानुपपत्तेर्नायं दोषः; ननु तत्परिक्षयसामर्थ्याभावस्तस्याः कुतः सिद्धः? आगमात् इति चेत्, न; तस्य तथाभूतस्य द्वादशाङ्ग्यामनुपलब्धेः । तत्परिक्षयसामर्थ्यप्रतिपादकस्यापि तस्य अनुपलब्धिरिति चेत्, न;

"सव्वत्थोवा तित्थयरिसिद्धा तित्थयरितित्थे अतित्थयरिसिद्धा असंखेज्जगुणा" [ ]

इत्यादिसिद्धप्राभृतागमस्यानेकस्य सामर्थ्यवृत्त्या सीमन्तिनीनां स्त्रीवेदपरिक्षयसामर्थ्यप्रतिपादकस्य उपलम्भात् न हि सर्वकर्मानीकनायकरूपमोहनीयकर्माङ्गभूतस्त्रीवेदपरिक्षयमन्तरेण तासां मुक्तिप्राप्तिरिति मुक्तिसद्भावावेदकमेव वचस्तासां सामर्थ्यावेदकं सिद्धम् । अथ स्त्रीत्वादेव न तासां तत्परिक्षयसामर्थ्यम्, न; स्त्रीत्वस्य तत्परिक्षयसामर्थ्येन विरोधासिद्धेः न हि अविकलकारणस्य तत्परिक्षयसामर्थ्यस्य स्त्रीत्वसद्भावादभावः क्वचिदपि निश्चितः येन अग्नि-शीतयोरिव सहानवस्थानविरोधस्तयोः सिद्धो भवेत् । नापि भावाभावयोरिव अनयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपता अवगता येन परस्परपरिहारस्थितलक्षणविरोधसिद्धिर्भवेत्। न चाविरुद्धविधिरन्यस्याभावावेदकः अतिप्रसङ्गात्। तत्र स्त्रीत्वादपि तासां तत्परिक्षयसामर्थ्यानुपपत्तिसिद्धिः। प्रत्यक्षस्य तु इन्द्रियजस्य अतीन्द्रियपदार्थभावाभावविवेचने अनधिकार एवेति नातोऽपि तत्परिक्षयसामर्थ्यानुपपत्तिसिद्धिस्तासाम् । अतोऽनेकदोषदुष्टत्वान्न प्रकृतपक्षः साधनमर्हति। 'स्त्रीत्वात्' इति हेतुरपि यदि 'उदितस्त्रीवेदत्वात्' इति उपात्तस्तदाऽसिद्धः मुक्तिप्राप्तिप्राक्तनसमयादिषु स्त्रीवेदोदयस्य तासामसंभवात् अनिवृत्तिगुणस्थान एव तस्य परिक्षयात्। 'परिक्षीणस्त्रीवेदत्वात्' इति च हेतुर्विपर्ययव्याप्तत्वाद् विरुद्धः। न च 'स्त्रीत्वात्' इत्यस्य 'परिक्षीणस्त्रीवेदत्वात्' इत्ययमर्थः अत्रार्थे प्रकृतशब्दस्य अरूढत्वात् । अथ 'स्त्र्याकारयोगित्वात् स्त्रीत्वात्' इति हेत्वर्थस्तदा विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वाद् अनैकान्तिको हेतुः । चतुर्दशपूर्वसंवित्संबन्धित्वाभावोऽपि तासां कुतः सिद्धः येन साध्यविकलो दृष्टान्तो न स्यात्? सर्वज्ञप्रणीतागमात् इति चेत्, तत एव मुक्तिभाक्त्वस्यापि तासां सिद्धिरस्तु न हि एकवाक्यतया व्यवस्थितः दृष्टेष्टादिषु बाधामननुभवन् आप्तागमः क्वचित् प्रमाणं क्वचिन्नेति अभ्युपगन्तुं प्रेक्षापूर्वकारिणा शक्यः । अथ विवादगोचरापन्नाऽबला अशेषकर्मक्षयनिबन्धनाध्यवसायविकला, अविद्यमानाऽधःसप्तमनरकप्राप्त्यविकलकारणकर्मबीजभूताध्यवसानत्वात्, यस्तु अशेष-

---

१ स्त्रिया त-वा० बा० भां० मां० ।

२ "नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहेत्तए—कप्पसु० पृ० १ पं० १।

३ वीसुं इ-वृ० से विना । ४-रित्र्यप्रा-वा० बा० भां० मा० । ५-कस्या सा-आ० । ६-विरुद्ध-बा० आ० दा० वि० । ७-न्यस्य भा-भां० मां० । ८-णधर्म-भां० मां० ।

र्मपरिक्षयनिबन्धनाध्यवसायविकलो न भवति नासौ अविद्यमानाधःसप्तमनरकप्राप्त्यविकलकारण-र्मबीजभूताध्यवसानः, यथोभयसंप्रतिपत्तिविषयः पुरुष इति वैधर्म्यदृष्टान्तः । असदेतत्, तोऽत्रापि प्रयोगे साध्य-साधनयोः प्रतिबन्धाभावान्नातो हेतोर्विवक्षितसाध्यसिद्धिः । तथाहि—थोक्ताध्यवसानं निवर्तमानमवलातः अशेषकर्मक्षयाध्यवसायनिवर्तकं कारणं वा भवद् भवेत् ापकं वा? अन्यस्य निवृत्तावपि अपरनिवृत्तेरवश्यंभावाभावात् अन्यथा अश्वनिवृत्तावपि गवादे-र्यमेन निवृत्तिप्रसक्तेः। आह च न्यायवादी—

"तस्मात् तन्मात्रसंबन्धः स्वभावो भावमेव वा।
निवर्तयेत् कारणं वा कार्यमव्यभिचारतः"॥ [ ] इति।

त्र न तावत् कारणं यथोक्ताध्यवसानमशेषकर्मक्षयाध्यवसानस्य येन तन्निवृत्त्या तस्यापि निवृत्तिः ात्। कारणत्वे वा यत्र अशेषकर्मक्षयाध्यवसानं योगिनि संभवति तत्र अधःसप्तमनरकपृथिवीप्राप्त्यव-यकारणस्य बीजभूताध्यवसानसद्भावात् कार्यस्य कारणाव्यभिचारित्वात् तस्य नरकप्राप्तिसद्भाव इति निष्टापत्तिः। न च योगिनि अशेषकर्मक्षयनिबन्धनमध्यवसानं जनयदपि नरकप्राप्तिनिबन्धनकर्मबी-भूतमध्यवसानं नरकप्राप्तिलक्षणं स्वकार्यं न जनयतीति वाच्यम्, अविकलकारणस्य अवश्यंतया कार्यनिर्वर्तकत्वात् अन्यथा अविकलकारणत्वायोगात् । न च यदेव तथाभूतकर्मनिर्वर्तनसमर्थं देव तत्क्षयहेत्वध्यवसायनिबन्धनं भवति, भावाभावयोरेकस्मिन्नेकदा विरोधात् तन्निर्वर्तकस्य हेतोः भावान्तरमप्राप्नुवतस्तन्निर्व(न्निवर्त)र्तकत्वविरोधात् न हि यदेव यदैवाङ्गुलिद्रव्यस्य ऋजुत्वोत्पादकम् देव तदैव तस्य विनाशकं संभवति एकनिमित्तयोरेकदा भावाभावयोर्विरोधात् । नापि तत् तस्य ापकम् येन ततस्तन्निवर्तमानं तदपि आदाय निवर्तेत, व्यापकत्वे वा यत्र अशेषकर्मक्षयनिबन्धना-वसायसद्भावस्तत्र व्यापकस्य अवश्यंभावित्वात् अन्यथा तस्य तद्व्यापकत्वायोगात् योगिनस्तदध्य-सायवतोऽधःसप्तमनरकप्राप्तिप्रसङ्गोऽनिष्टस्तदवस्थ एव स्यात्। न च यत्र क्लिष्टतराध्यवसायसद्भा-स्तत्र अतिशुभतराध्यवसायेन भाव्यमिति प्रतिबन्धसंभवः तन्दुलमत्स्येन व्यभिचारात् । न च नुष्यजातियोगित्वे सति अव्यभिचारः उत्तमसंहननेन चारित्रप्राप्तिकालार्वाक्समयभाविना सर्व-र्याप्तिसंपन्नेन तथाविधक्लिष्टपरिणामवता पुरुषेण व्यभिचारात्। न च यत्र अतिशुभतरः परिणाम-त्रापि अशुभतरपरिणामेन भाव्यमित्यत्रापि प्रतिबन्धः तथाविधयोगिना व्यभिचारात्।

किञ्च, स्त्रीणां सप्तमनरकपृथ्वीप्राप्तिनिबन्धनकर्मबीजाध्यवसायाभावः कुतः प्रतिपन्नः? आप्ता-मात् इति चेद् अशेषकर्मशैलवज्राशनिभूतशुभाध्यवसायसद्भावोऽपि तत एव अभ्युपगन्तव्यः। न अतीन्द्रिये एवंविधेऽर्थे अस्मदादेरर्वाग्दृशः आप्तागमाद् ऋते अन्यत् प्रमाणमस्ति। न च दृष्टेष्टाविरो-ाप्तवचनमसत्तर्कानुसारिजातिविकल्पैर्बाधामनुभवति तेषां प्राप्ताऽप्राप्तव्यापादकमतंगजविकल्पवद् वस्तुसंस्पर्शित्वात्। उक्तं च भर्तृहरिणा—

"अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते"॥ [ ]

च अत्र वस्तुनि आगमनिरपेक्षमनुमानं प्रवर्तितुमुत्सहते, पक्षधर्मादेर्लिङ्गरूपस्य प्रमाणान्तरतः प्रति-तुमशक्तेः प्रतिपत्तौ वा साध्यस्यापि प्रतिबन्धग्राहिणा प्रमाणेन प्रतिपत्तेर्नैकान्ततोऽतीन्द्रियता भवेत्। ागमानुसारि चानुमानं प्रकृते वस्तुनि संवादकदेव न बाधकमिति प्रदर्शितम् । न च आप्तवचनं ोनिर्वाणप्रतिपादकमप्रमाणम् सप्तमनरकप्राप्तिप्रतिषेधकं प्रमाणमिति वक्तव्यम् उभयत्र आप्तप्रणीत-ादेः प्रामाण्यनिबन्धनस्य अविशेषात्। न च एकमाप्तप्रणीतमेव न भवति, इतरत्रापि अस्य समान-ात् पूर्वापरोपनिबद्धादोषदृष्टादृष्टप्रयोजनार्थप्रतिपादकाऽवान्तरवाक्यसमूहात्मकैकमहावाक्यरूप-या अर्हदागमस्य एकत्वात् तथा चान्तरवाक्यानां केषांचिद् अप्रामाण्ये सर्वस्यापि आगमस्य प्रामाण्यप्रसक्तेः अङ्गदुष्टत्वे तदात्मकाङ्गिनोऽपि दुष्टत्वापत्तेः। न च प्रदर्शितवाक्यात्मकः सर्वज्ञप्रणी-ागमत्वेन अस्मान् प्रति असिद्ध इति वक्तव्यम् नास्तिक-मीमांसकान् प्रति उ० ... त्प्रणीतत्वेन असिद्धेः। या च तान् प्रति तस्य तत्प्रणीतत्वावेदिका युक्तिः सा इतरत्रापि सम

। विधेयं स्यात् । अथ मेरुमस्तकादिषु तदभिषेकादौ इन्द्रादिभिस्तस्य विहितत्वात् असदादिभिरपि तानुकरणादिभिः प्रयोजनैस्तत् तत्र विधीयते तर्हि तत एव आभरणादिभिर्विभूषादिकमपि धेयम् कृतानुकरणादेः समानत्वात् । एवमन्यदपि आगमबाह्यं स्वमनीषिकया परपरिकल्पित-गम-युक्तिप्रदर्शनेन प्रतिषेद्धव्यम् न्यायदिशः प्रदर्शितत्वात् । तदेवम् अनधीताऽश्रुतयथावदपरि-विताागमतात्पर्या दिग्वासस इव आशाम्बरां विगोपयन्तीति व्यवस्थितम् ॥ ६५ ॥

[बहुश्रुतत्वादिदर्पात् तात्पर्यापरिज्ञानाच्चानिश्चितशास्त्रार्थस्य सिद्धान्तप्रत्यनीकत्वकथनम्]

यत एवं ततः—

जह जह बहुस्सुओ संमओ य सिस्सगणसंपरिवुडो य ।
अविणिच्छिओ य समए तह तह सिद्धंतपडिणीओ ॥ ६६ ॥

यथा यथा बहुश्रुतः सम्यगपरिभावितार्थानेकशास्त्रश्रवणमात्रतः तथाविधाऽपराऽविदित-स्त्राभिप्रायजन**संमतश्च** शास्त्रज्ञत्वेन अत एव श्रुतविशेषानभिज्ञैः **शिष्यगणैः समंतात्** रेवृतश्च **अविनिश्चितश्च समये** तथाविधपरिवारदर्पात् समयपर्यालोचनेऽनादृतत्वात् **था तथा सिद्धान्तप्रत्यनीकः** यथावस्थितवस्तुस्वरूपप्रकाशकार्हदागमप्रतिपक्षः निस्सारप्र-णया अन्यागमेभ्योऽपि भगवदागममधः करोतीति यावत् ॥ ६६ ॥

[क्रियाप्रधानानां ज्ञानयोगमसाधयतां क्रियाफलानुभवाभावकथनम्]

तस्मात् शास्त्रमधीत्य तदर्थावधारणं विधेयम् अवधृतश्च तदर्थो नय-प्रमाणाभिप्रायतो यथावत् भावनीयः अन्यथा तत्फलपरिज्ञानविकलताप्रसक्तिरित्याह—

चरण-करणप्पहाणा ससमय-परसमयमुक्कवावारा ।
चरण-करणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण याणंति ॥ ६७ ॥

चरणं श्रमणधर्मः—

"वय-समणधम्म-संजम-वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ ।
णाणाइतियं तव-कोहणिग्गहाई चरणमेयं ॥ [ओघनि० गा० २]

इ वचनात् । व्रतानि हिंसाविरमणादीनि पञ्च, श्रमणधर्मः क्षान्त्यादिर्दशधा, संयमः पञ्चास्रव-विरमणादिः सप्तदशभेदः, वैयावृत्यं दशधा आचार्याराधनादि, ब्रह्मगुप्तयो नव वसत्यादयः, ज्ञानादित्रितयं ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि, तपो द्वादशधा अनशनादि, क्रोधादिकषायषोडशकस्य निग्रहश्च इति अष्टधा चरणम् । **करणं** पिण्डविशुद्ध्यादिः—

"पिंडविसोही समिई भावण-पडिमाइ-इंदियनिरोहो ।
पडिलेहण-गुत्तीओ अभिग्गहा चेव करणं तु" ॥ [ओघनि० गा० ३]

इ वचनात् । तत्र पिण्डविशुद्धिः त्रिकोटिपरिशुद्धिराहारस्य—

"संसट्ठमसंसट्ठा उद्धड तह अप्पलेविया चेव ।
उग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्माय सत्तमिया" ॥ इति

सप्तधा वा, समितिः ईर्यासमित्यादिः पञ्चधा, भावना अनित्यत्वादिका द्वादश, प्रतिमा मासादिका द्वादश भिक्षूणाम् दर्शनादिका एकादश उपासकानाम्, इन्द्रियनिरोधः चक्षुरादिकरणपञ्चकसंयमः प्रतिलेखनं मुखवस्त्रिकाद्युपकरणप्रत्युपेक्षणमनेकविधम्, गुप्तिः मनो-वाक्-कायसंवरणलक्षणा त्रिधा, अभिग्रहा वसतिप्रमार्जनादयोऽनेकविधाः—एतयोश्चरण-करणयोः **प्रधाना**स्तदनुष्ठान-पराः **स्वसमय-परसमयमुक्तव्यापाराः** अयं स्वसमयः अनेकान्तात्मकवस्तुप्ररूपणात् अयं परसमयः केवलनयाभिप्रायप्रतिपादनात् इत्येतस्मिन् परिज्ञानेऽनादृता अनेकान्तात्मकवस्तुतत्त्वं यावत् अनवबुध्यमानाः तदितरव्यवच्छेदेन इति यावत् । **चरणकरणयोः सारं** फलम् **निश्च-**

१ १-स्थकूप-भां० मां० । २ ओघनि० पृ० ५ । ३ ओघनि० पृ० ६ । ४ उब्धड आ० हा० वि० । पञ्चाशकटी० पृ० २७१ द्वि० पं० ४ । ६ भिक्षूणां द्वादशानामपि प्रतिमानां स्वरूपनिरूपणं पञ्चाशकमूलतोऽवगन्तव्यम्- १२७७—२९१ गा० १—५० ।

यशुद्धं निश्चयश्च तत् शुद्धं च ज्ञान-दर्शनोपयोगात्मकं निष्कलङ्कम् न जानन्ति न अनुभवन्ति ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मककारणप्रभवत्वात् तस्य कारणाभावे च कार्यस्य असंभवात् अन्यथा तस्य निर्हेतुकत्वापत्तेः चरण-करणयोश्च चारित्रात्मकत्वात् द्रव्य-पर्यायात्मकजीवादितत्त्वावगमसमानरुच्यभावेऽभावात्।

अथवा चरण-करणयोः सारं निश्चयेन शुद्धं सम्यग्दर्शनं ते न जानन्ति न हि यथावस्थितवस्तुतत्त्वावबोधमन्तरेण तद्रुचिः न च स्वसमय-परसमयतात्पर्यार्थानवगमे तदवबोधः चोदिकादेरिव संभवी। अथ जीवादिद्रव्यार्थ-पर्यायार्थापरिज्ञानेऽपि यद् अर्हद्भिरुक्तं तदेव एकं सत्यमित्येतावतैव सम्यग्दर्शनसद्भावः—

"मण्णइ तमेव सच्चं णिस्संकं जं जिणेहिं पन्नत्तं" [ ]

इत्याद्यागमप्रामाण्यात्, न; स्वसमयपरसमयपरमार्थानभिज्ञैर्निरावरणज्ञान-दर्शनात्मकजिनस्वरूपाऽज्ञानवद्भिस्तदभिहितभावानां सामान्यरूपतयाऽपि अन्यव्यवच्छेदेन सत्यस्वरूपत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात्, नन्वेवमागमविरोधः सामायिकमात्रपदविदो माष-तुषादेर्यथोक्तचारित्रिणस्तत्र मुक्तिप्रतिपादनात् सकलशास्त्रार्थज्ञताविकलव्रतस्य व्रताद्याचरणनैरर्थक्यापत्तिश्च तत्साध्यफलानवाप्तेः। न च यथोपवर्णितचरण-करणसम्यग्दर्शनवैफल्ये भवतः ज्ञानादित्रितयस्यापि तत्र पाठात्। न, ये यथोदितचरण-करणप्ररूपणासेवनद्वारेण प्रधानात् आचार्यात् स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापारा न भवन्तीति-नञोऽत्र संबन्धात्-ते चरण-करणस्य सारं निश्चयशुद्धं जानन्त्येव गुर्वाज्ञया प्रवृत्तेः चरणगुणस्थितस्य साधोः सर्वनयविशुद्धतया अभ्युपगमात्—

"तं सव्वणयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू" [आवश्यकनि० सामाइअनि० गा० १०२]

इत्याद्यागमप्रामाण्यात् अगीतार्थस्य तु स्वतन्त्रचरण-करणप्रवृत्तेः व्रताद्यनुष्ठानस्य वैफल्यमभ्युपगम्यत एव—

"गीयत्थो य विहारो बीओ गीयत्थमीसओ भणिओ।" [ ]

इत्याद्यागमप्रामाण्यात् ॥ ६७ ॥

[ज्ञानक्रिययोरन्यतरवैकल्ये मोक्षफलाभावप्रतिपादनम्]

अत्र च सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानादभेदाज्ज्ञा(दाद् ज्ञा)न-क्रिययोरन्यतरविकलयोर्नाशेषकर्मक्षयलक्षणफलनिर्वर्तकत्वं संभवतीति प्रतिपादयन्नाह—

णाणं किरियारहियं किरियामेत्तं च दो वि एगंता।
असमत्था दाएउं जम्म-मरणदुक्ख मा भाई ॥ ६८ ॥

ज्ञायते यथावद् जीवाजीवादितत्त्वमनेनेति ज्ञानम् क्रियत इति क्रिया यथोक्तानुष्ठानम् तया रहितम् 'जन्म-मरण-दुःखेभ्यो मा भैषीः' इति दर्शयितुं दातुं वा असमर्थम् न हि ज्ञानमात्रेणैव पुरुषो भयेभ्यो मुच्यते क्रियारहितत्वात् दृष्टप्रदीपनकपलायनमार्गपङ्गुवत्। क्रियामात्रं वा ज्ञानरहितम् न 'तेभ्यो मा भैषीः' इति दर्शयितुम् दातुं वा समर्थम्-न हि क्रियामात्रात् पुरुषो भयेभ्यो मुच्यते संज्ञानविकलत्वात् प्रदीपनकभयप्रपलायमानान्धवत्। तथा चागमः—

"हयं णाणं कियाहीणं हया अण्णाणओ किया।
पासंतो पंगुलो डड्ढो धावमाणो य अंधओ" ॥

[आवश्यकनि० पढमाव० गा० २२]

---

१ स्वसमयपरमा-वा० बा० भां० मां० आ०। २-रणे नै-मां०। ३-न्वैकल्ये भां० मा०। नविकल्पे भ-वा० बा०। ४ "सव्वेसिं पि नयाण बहुविहवत्तव्वय निसामित्ता"। इति पूर्वार्धम्।—आवश्यकनि० पृ० १९७। ५ "एतो तइयविहारो णाणुण्णाओ जिणवरेहिं" इत्युत्तरार्धं हरिभद्रीयानुयोगद्वारवृत्तौ पृ० १२६।

६ अस्मदीयायां मूलप्रतौ इतोऽनन्तरमेका गाथा अधिका विद्यते। सा चेयम्—

जेण विणा लोगस्सवि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो नमो अणेगंतवायस्स ॥

-इयं च गाथा टीकाप्रतिषु न क्वापि उपलभ्यते।

७ सज्ञान-पू० सं० विना। ८ आवश्यकनि० पृ० १५।

उभयसद्भावस्तु 'तेभ्यो मा भैषी.' इति दर्शयितुं समर्थ. । तथाहि—सम्यग्ज्ञान-क्रियावान् भयेभ्यो मुच्यते उभयसंयोगवत्त्वात् प्रदीपनकभयान्धस्कन्धारूढपङ्गुवत्। उक्तं च—

"संजोगसिद्धीए फलं वयंति" [आवश्यकनि० पढमाव० गा० २३] इत्यादि ।

तस्मात् सम्यग्ज्ञानादित्रितयनयसमूहाद् मुक्तिः नयसमूहविपर्यं च सम्यग्ज्ञानम् श्रद्धानं च तद्विषयं सम्यग्दर्शनम् तत्पूर्वं च अशेषपापक्रियानिवृत्तिलक्षणं चारित्रम्—प्रधानोपसर्जनभावेन मुख्यवृत्त्या वा-तत् त्रितयप्रदर्शकं च वाक्यमागमः नान्यः एकान्तप्रतिपादकस्य असदर्थत्वेन विसंवादकतया तस्य प्राधान्यानुपपत्ते. जिनवचनस्य तु तद्विपर्ययेण दृष्टवद् अदृष्टार्थेऽपि प्रामाण्यसंगतेः ॥ ६८ ॥

[अनेकान्तमयत्वेन जिनवचनस्य स्तवनं पार्यन्तिकमङ्गलविधानं च]

तस्य तथाभूतस्य स्तुतिप्रतिपादनाय मङ्गलार्थत्वात् प्रकरणपरिसमाप्तौ गाथासूत्रमाह—

भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥ ६९ ॥

भद्रं कल्याणम् **जिनवचनस्य** अस्तु इति संबन्ध. **मिथ्यादर्शनसमूहमयस्य**; ननु यद् मिथ्यादर्शनसमूहमयं तत् कथं सम्यग्रूपतामासादयति ? न हि विषकणिकासमूहमयस्य अमृतरूपतापत्तिः प्रसिद्धा, न, परस्परनिरपेक्षसंग्रहादिनयरूपापन्नसांख्यादिमिथ्यादर्शनानां परस्परसव्यपेक्षतासमासादितानेकान्तरूपाणां विषकणिकासमूहविशेषमयस्य अमृतसंदोहस्येव सम्यक्त्वापत्ते. । दृश्यन्ते हि विषादयोऽपि भावा परस्परसंयोगविशेषसमासादितपरिणत्यन्तरा अगदरूपतामात्मसात्कुर्वाणाः मध्वाज्यप्रभृतयस्तु विशिष्टसंयोगावाप्तद्रव्यान्तरस्वभावा मृतिप्राप्तिनिमित्तविषरूपतामासादयन्त' । न च अध्यक्षप्रसिद्धार्थस्य पर्यनुयोगविषयता अन्यथा अग्न्यादेरपि दाह्यदहनशक्त्यादिपर्यनुयोगोपपत्ते. । अत एव निरपेक्षा नैगमाद्यो दुर्नया. सापेक्षास्तु सुनया उच्यन्ते । अभिहितार्थसंवादि चेदं वादिवृषभस्तुतिकृत्सिद्धसेनाचार्यवचनम्—

"नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातव. ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्या. प्रणता हितैषिण." ॥ [ ] इति ।

अथवा सांख्याद्येकान्तवादिदर्शनसमूहमयैकस्य चूर्णनस्वभावस्य मिथ्यादृष्टिपुरुषसमूहवियदन समर्थस्य वा यद्वा मिथ्यादर्शनसमूहा नैगमादय.—एकैकस्य नैगमादेर्नयस्य शतविधत्वात्—

"एक्केको वि सयविहो" [आवश्यकनि० उवग्घायनि० गा० ३६]

इत्याद्यागमप्रामाण्यात्—अवयवा यस्य तद् मिथ्यादर्शनसमूहमयम् जिनवचनस्य नैगमादयः सापेक्षाः सप्त अवयवाः तेषामपि एकैकः शतधा व्यवस्थित. इत्यभिप्रायः ।

[सप्तभङ्ग्यादिप्रदर्शनेनानेकान्तसमर्थनम्]

समूहरूपसप्तनयावयवोदाहरणापेक्षया च सप्तभङ्गीप्रदर्शनमागमज्ञा विदधति सामान्यविशेषात्मकत्वाद् वस्तुतत्त्वस्य—

---

१ "न हु एगचक्केण रहो पयाइ । अंधो अ पंगू अ वणे समिच्चा ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥" इति संपूर्णा गाथा आवश्यकनि० पृ० १५ ।

२ सिद्धसेनीयत्वेन प्रसिद्धाया लभ्यायां च क्वापि स्तुतौ नेदं पद्यमुपलभ्यते ।
समन्तभद्रकृतित्वेन प्रसिद्धे स्वयंभूस्तोत्रे पद्यघटितत्वेन इदं पद्यं 'नयास्तव स्यात्पदसत्यलाञ्छिता' इति 'भवन्त्यभिप्रेतगुणा यतस्ततो' इति च पाठान्तरेण सहितं दृश्यते ।
हरिभद्रेण अनुयोगद्वारवृत्तौ "तदुक्तं च" इति निर्दिश्य 'भवन्त्यभिप्रेतगुणा' इति पाठसहितं पद्यमिदं समुद्धृतम् पृ० ११८ ।
आचाराङ्गटीकायां शीलाङ्काचार्येण एतादृशमेव एतत् पद्यं "स्वयूथ्यैरत्र बहु विजृम्भितम्" इति उक्त्वा उद्धृतम् पृ० ८५ ।
हेमचन्द्रेण पुनः स्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ "स्तुतिकारोऽप्याह" इत्युक्त्वा इदं पद्यं उद्धृतम् स्वकीये च न्याये विशेष० नामग्रहणं विनैव-"परोक्तेनापि दृढयति" इत्युक्त्वा व्याख्यातम् १-१-२ ।

३-मयिक-ग्रा० या० त्रिमा।।४।"सत्त नयसया हवंति एव-तु । अन्नो वि य आएसो पञ्चसया हुंति उ नयाण" ॥—आवश्यकनि० पृ० १३६ । विशेषाव० गा० २२६४ ।

सामान्यस्य एकत्वात् तद्विवक्षायां यदेव घटादिद्रव्यम् 'स्याद् एकम्' इति प्रथमभङ्गविषयः।

तदेव देश-काल-प्रयोजनभेदात् नानात्वं प्रतिपद्यमानं तद्विवक्षया 'स्याद् अनेकम्' इति द्वितीयभङ्गविषयः।

तदेव उभयात्मकमेकदा एकशब्देन यदा अभिधातुं न शक्यते तदा 'स्याद् अवक्तव्यम्' इति तृतीयभङ्गविषयः।

यदेव[1] चावकाशदातृत्वेन असाधारणेन एकमाकाशम् तदेव[2] अवगाह्यावगाहकावगाहनक्रियाभेदाद् अनेकं भवति तद्रूपैर्विना तस्य अवस्तुत्वापत्तेः प्रदेशभेदापेक्षयाऽपि च तद् अनेकम् अन्यथा हिमवत्-विन्ध्ययोरपि एकदेशताप्राप्तेः तस्य च तथाविवक्षायाम् 'स्याद् एकं च अनेकं च' इति चतुर्थभङ्गविषयता।

यदेव चैकमाकाशं भवतः प्रसिद्धं तद् एकस्मिन् अवयवे विवक्षिते[3] एकम् अवयवस्य अवयवान्तराद्[4] भिन्नत्वात् भिन्नानां च अवयवानां वाचकस्य शब्दस्य अभावात् अवक्तव्यं चेति तथाविवक्षायाम् 'स्याद् एकम् अवक्तव्यं च' इति पञ्चमभङ्गविषयस्तत्[5]।

यदेव एकमाकाशं प्रसिद्धं भवतः तत् अवगाह्याऽवगाहकाऽवगाहनक्रियाभेदाद् अनेकम् एकानेकत्वप्रतिपादकशब्दाभावात् अवक्तव्यं च अतः 'स्याद् अनेकम् अवक्तव्यं च' इति षष्ठभङ्गविषयः।

यदेव एकमाकाशात्मकतया आकाशं भवतः प्रसिद्धं तदेव तथैकम् अवगाह्याऽवगाहकाऽवगाहनक्रियापेक्षया अनेकं च युगपत्प्रतिपादनापेक्षया अवक्तव्यं चेति 'स्याद् एकम् अनेकम् अवक्तव्यं च' इति सप्तमभङ्गविषयः।

एवं 'स्यात् सर्वगतः' 'स्याद् असर्वगतो घटादिः' इत्यादिकाऽपि सप्तभङ्गी वक्तव्या। यतः य एव पार्थिवाः परमाणवो घटः त एव विस्रसादिपरिणतिवशात् जलानिलानलावन्यादिरूपतामात्मसात्कुर्वाणाः 'स्यात् सर्वगतो घटः' इत्यादिसप्तभङ्गविषयतां यथोक्तन्यायात् कथं नासादयन्ति? न च घटपरमाणूनां पुद्गलरूपतापरित्यागे पूर्वपर्यायापरित्यागे च घटपर्यायापत्तिः क्षणिकाक्षणिकैकान्तयोरर्थक्रियानुपपत्तेरसत्त्वापत्तेः परिणामिन एव सुवर्णात्मना व्यवस्थितस्य केयूरात्मना विनाशमनुभवतः कटकाद्यात्मना उत्पद्यमानस्य वस्तुनः सत्त्वात् अन्यथा कचित् कस्यचित् कदाचित् अनुपलब्धेः। न च अध्यक्षाद् अन्यद् गरिष्ठं प्रमाणान्तरमस्ति यतस्तद्विपरीतभावाभ्युपगमः क्रियते अन्तर्बहिश्च हर्षविषादाद्यनेकाकारवितर्कात्म(विवर्तात्म)कैकचैतन्य-स्थास-कोश-कुशूलाद्यनेकाकारस्वीकृतैकमृत्पिण्डादेः स्वसंवेदनाक्षजाध्यक्षतः प्रतिपत्तेः। सर्वथोपलभ्यमध्यरूपं पूर्वापरकोट्योरसत् इति वदतः सर्वप्रमाणविरोधात् कुण्डलाऽङ्गदादिषु पर्यायेषु तादृग्भूतसुवर्णद्रव्योपलब्धेः कार्योत्पत्तौ कारणस्य सर्वथा निवृत्त्यनुपलब्धेः। न च सादृश्यविप्रलम्भात् तदध्यवसायकल्पनेति वक्तव्यम् तदेकान्तभेदसाधकप्रमाणस्यापास्तत्वात्। न च कथंचित् स्वभावभेदेऽपि तादात्म्यक्षि(क्ष)तिः ग्राह्यग्राहकाकारसंविद्वत् विविक्तपरमाणुषु स्थूलैकघटादिप्रतिभासवद्वा ग्राह्यग्राहकाकारविविक्तसंवित्प्रकल्पने अध्यक्षधियोऽपि विवक्षिताकारविवेकानुपलब्धेरध्यक्षेतरस्वभावाभ्यां विरोधस्वरूपासिद्धौ अन्यत्राऽपि कः प्रद्वेषः? तथाहि—शक्यमन्यत्रापि एवमभिधातुम्—एकमेव पार्थिवद्रव्यं लोचनादिसामग्रीविशेषात् वर्णादिप्रतिपत्तिभेदेऽपि भिन्नमिव प्रतिभाति प्रत्यासन्नेतररूपताव्यवस्थितैकविषयवत्। न हि स्पष्टास्पष्टनिर्भासभेदेऽपि तदेकत्वक्षितिस्तत्र तद्वद् इहापि रूपादिप्रतिभासभेदेऽपि एकत्वं किं न स्यात् प्रतीतेरविशेषात्। एवं च स्याद्वादिनः अग्नेरपि अनुष्णत्वप्रसक्तिरिति असंगतमभिधानम् यतस्तत्रापि स्यात् 'उष्णोऽग्निः' इति स्पर्शविशेषेण उष्णस्य भास्वराकारेण पुनरनुष्णस्य तस्यैकस्य नानास्वभावशक्तेरबाधितप्रमाणविषयस्यैवं वचने दोषासंगासंभवात्। तस्मात् एकस्यैव सामग्रीभेदवशात् तथाप्रतिभासाविरोधः। कारणस्य च कार्यात्मनोत्पत्तौ न किञ्चिद् अपेक्षणीयमस्ति यतस्तथोत्पित्सुस्वभावता न भवेत्। अत एव मृदादिभावो घटस्वभावेन नश्वरः कपालस्वरूपेण चोत्पत्तौ तिष्ठतीति स्वभावत एव नश्वरः उत्पित्सुः स्थास्नुश्च अन्यतमापाये पदार्थस्यैव असंभवात् त्रितयभावं प्रत्यनपेक्षत्वाच्च न हि उत्पन्नः पदार्थः किञ्चिद् स्थितिं प्रत्यपेक्षते स्थित्यात्मकत्वात् उत्पादस्य, न च अवस्थित उत्पत्तौ

---

१ यदेव बृ० आ० हा० वि०। २ तदेव बृ० आ० हा० वि०। ३ विवक्षितं। पे-बृ०। ४-त्वमिति ० भां०। ५-स्तद्वद् वा० बा० आ० हा० वि०। ६-त् तृतीय-बृ० आ० हा० वि०।

किञ्चिद् अपेक्षते उत्पत्तिसभावत्वात् स्थितेः, न च विनष्ट उत्पत्तिं प्रति हेत्वन्तरापेक्षः विनाशस्य उत्पत्त्यात्मकत्वात् ततः पूर्वापरस्वभावपरित्यागावाप्तिलक्षणं परिणाममासादयन् भावो व्यवतिष्ठते इति प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरमेतत्। अतः शब्द-विद्युत्-प्रदीपादेरपि निरन्वयविनाशकल्पना असंगतैव तेषामादौ स्थितिदर्शनात् अन्तेऽपि तत्स्वभावानतिक्रमात् न हि भावः स्वं स्वभावं परित्यजति प्रागपि तत्स्वभावपरित्यागप्रसक्तेः अन्ते च क्षयदर्शनात् प्रागपि नश्वरस्वभाववत् आदौ उत्पत्तिसमये स्थितिदर्शनात् अन्ते स्थितिः किं नाभ्युपेयते? न च विद्युत्-प्रदीपादेस्तैजसरूपपरित्यागात् तामसरूपस्वीकरणे किञ्चिद् विरुद्धं भवेत्। न च स्वभावभेदस्तदेकत्वविघातकृत् ग्राह्यग्राहकाकारसंवेदनवत् वेद्यवेदकाकारविवेकपरोक्षापरोक्षसंवित्तिवद्वा। यथा च ध्वंसहेतोस्तदतदकरणविरोधात् अकिञ्चित्करत्वम् तथा स्थित्युत्पादहेत्वोर्विशरारुधर्मणः स्थास्नुताकरणाभावात् स्वत एव स्थितिस्वभावस्य स्थितिहेतोरानर्थक्यात्। अथ स्थितिहेतुः अपातं करोतीत्युच्यते तर्हि पातं न करोतीति प्रसक्तम् एवं च अकिञ्चित्करत्वमेव तस्य। यदि वा अर्थान्तरं ततोऽपातः तर्हि तस्य करणे विनश्वरस्वभावः किं न विनश्येत्? अथासौ स्थास्नुस्तथापि स्थितिहेतोरानर्थक्यम् स्वत एव तस्य स्थितेः। तथा उत्पत्तिहेतुरपि यदि भावं करोति तदा तस्य अकिञ्चित्करत्वमेव भावस्य स्वयमेव भावरूपत्वात्। अथ अभावं भावरूपतां नयति तर्हि नाशहेतुरपि भावमभावीकरोतीति कथमकिञ्चित्करः स्यात्? न हि अभावस्य भावीकरणे भावस्य वा अभावीकरणे कश्चिद् विशेषः संभवी अत एव तेषामन्यतमस्य सहेतुकत्वमहेतुकत्वं वा अभ्युपगच्छन् सर्वेषां तद् अभ्युपगन्तुमर्हति अविशेषात्। न च भिन्नयोगक्षेमत्वात् कार्य-कारणयोरेकत्वमनुपपन्नम् स्वभावभेदेऽपि एकत्वप्रतिपत्तेः सर्वसंवित्क्षणानामेकदोत्पत्तिविनाशवतामभिन्नयोगक्षेमत्वेऽपि च परस्परतः पृथग्भावसिद्धेः। अथ अत्र अभिन्नयोगक्षेमपक्षेऽपि प्रतिभासभेदाद् भेदस्तर्हि यत्र प्रतिभासाभेदस्तत्र भिन्नयोगक्षेमत्वेऽपि अभेदः प्रतिभासभेदाभेदयोर्वस्तुभेदाभेदव्यवस्थापकत्वात् समुदायस्य च देश-कालभेदाभावात् सकृदेव संवित्त्यात्मनोत्पत्तेरेकत्वं च प्रसज्येत। यदि च स्वभावभेदो वस्तुभेदलक्षणम् तदा संतानान्तरयोरिव विषयविषयिरूपायाः संवित्तेरेकत्वेऽपि प्रत्यक्षेतरयोर्वा असौ विद्यत इति नानात्वं भवेत्। यदि पुनः स्वभावभेदाविशेषेऽपि विवक्षितज्ञानक्षणाकारयोरेव तादात्म्यम् न पुनः संतानान्तरसंवित्तीनामिति प्रत्यासत्तेः कुतश्चिद् व्यवस्थाप्यते तर्हि परस्यापि विवक्षितकार्योपादानोपादेयभूतयोरेव अवस्थयोस्तादात्म्यं कथंचिद् वदतो न कश्चिद् दोषः प्रसक्तिमान्। निराकृतश्च अनेकश एकान्तवादः तत्प्रसाधकहेतूनां सर्वेषामनेकान्तव्याप्ततया विरुद्धताप्रदर्शनात् तत्प्रदर्शनं च एकान्तवादिनिग्रहस्थानमनेकान्तवादिविजयस्यैवेतरपराजयाधिकरणप्राप्तिलक्षणत्वात्—

"विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः" [ ]

इत्यस्य वचसो न्यायानुगतत्वात्।

[प्रासङ्गिकी निग्रहस्थानस्वरूपपर्यालोचना]

यदि पुनः असाधनाङ्गवचनं वादिनः पराजयाधिकरणमभ्युपगम्येत तदा वादाभ्युपगमं विधाय तूष्णींभावमात्रेण असाधनाङ्गस्य अवचनात् वादिनो विजयः किं न स्यात्? प्रतिवादिनोऽपि स्वपक्षसिद्धिमकुर्वतः कथं न विजयस्तत एव भवेत्। अथ साधनाङ्गावचनमपि निग्रहस्थानं तर्हि वादि-प्रतिवादिनोर्यौगपद्येन निग्रहाधिकरणता भवेत् तूष्णींभावाविशेषात्। तूष्णींभावोपलम्भेन इतरो विजयवानिति चेत्; नन्वेवमितरजयस्य अन्यतरपराजयाधिकरणतैव प्राप्ता। न च स्वपक्षसिद्धिम कुर्वत इतरोपलम्भमात्रेण जयप्राप्तिः तदप्राप्तौ च कथं तदितरस्य पराजयः? यदपि 'इष्टस्यार्थस्य सिद्धि(द्धिः) साधनं तस्याङ्गं स्वभाव-कार्याऽनुपलम्भलक्षणं हेतुत्रयं पक्षधर्मत्वादि वा त्रैरूप्यं तस्य अवचनं निग्रहस्थानं वादिनः' इत्युक्तम्, तदपि अचारु; प्रतिवादिनोऽपि पक्षधर्मत्वादेरन्यतमस्य अनुक्तौ असमर्थने वा विजयाप्राप्तेः तदप्राप्तौ च वादिनो निग्रहस्थानानुपपत्तेः इतरजयनान्तरीयकत्वात् इतरपराजयस्य। एवं हेत्वाभासादेरसाधनाङ्गस्य वचनं वादिनो निग्रहस्थानमिति प्रतिक्षिप्तमुक्तन्यायाद् द्रष्टव्यम्। अथ ततः साध्यसिद्धेरभावात्। तस्य निग्रहस्थानमेव न भ्रूविक्षेपादेर-

---

१ स्थाणुता-भां० मां० विना। २-यस्यैवे-वा० पा० आ०। ३ विजयप्रा-ध०।

साधनाङ्गकरणस्य तत एव तत्प्राप्तेः। ततो वादिनमसाधनाङ्गमभिदधानम् कुर्याणं वा स्वपक्षसिद्धिं निदधदेव प्रतिवादी तत्पक्षप्रतिक्षेपेण निगृह्णाति इत्येतदेव न्यायोपेतमुत्पश्याम. । एवं प्रतिवादिनो दोषमनुद्भावयतो न निग्रहस्थानम् तावता स्वपक्षसिद्धिमकुर्वाणस्य वादिनो विजयप्राप्त्ययोगात् तत्साधनस्य सदोषत्वसंभवात् तस्य सदोषत्वेऽपि तदुद्भावनासमर्थत्वात् प्रतिवादिनो निग्रहस्थानं तदिति चेत्, न, दोषवत्साधनाभिधानाद् वादिनोऽपि पराजयाधिकरणत्वात् द्वयोरपि युगपत् पराजयप्राप्तेः अत एव प्रतिवादिनो दोषस्यानुद्भावनमपि न निग्रहस्थानम्। यच्च वादिपक्षसिद्धेरप्रति बन्धकं पक्षादिवचनाधिक्योद्भावनं प्रतिवादिपक्षसिद्धौ असाधकतमम् तत् सर्वं न वादिनः पराजयाधिकरणम् अन्यथा तत्पादप्रसारिकाद्युद्भावनमपि तस्य पराजयाधिकरणं स्यात्। अथ पक्षादि वचनस्य असाधनाङ्गत्वात् तदुद्भावने वादिनस्तदपरिज्ञाननिबन्धनपराजयाधिकरणता तर्हि 'यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्' इति व्याप्तिवचनादेव शब्दस्यापि क्षणिकत्वसिद्धौ 'संश्च शब्दः' इत्यभिधानं तत एव तस्य पराजयाधिकरणं भवेत्। न च शब्दे शब्दविप्रतिपत्तिर्येन तन्निरासाय सत्त्वाभिधानं तत्र अपुनरुक्तं भवेत् तद्विप्रतिपत्तौ वा तत्साधकहेतु(तो)रसिद्धत्वादिदोषत्रयानतिवृत्तेर्भवतैव अभ्युपगमात् तत्साध्यत्वानुपपत्तिः। यदि च संक्षिप्तवचनात् साध्यसिद्धौ तद्विस्तराभिधानं निग्रहस्थान तर्हि सत्त्वात् क्षणक्षयसिद्धौ कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्यभिधानं कथं न निग्रहस्थानं स्यात्? कथं वा 'कृतक'-'प्रयत्नानन्तरीयक'आदिषु स्वार्थिकस्य तस्योपादानं तत्र स्यात्? 'यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्' इत्यादिसाधनवाक्यमभिधाय पक्षादिवचनवत् तत्समर्थनमपि निग्रहस्थानं प्रसक्तम् असमर्थितमपि सत एव तत्त्वेनोक्तमेव स्वसाध्याविनाभूतस्य हेतोः प्रदर्शनमात्रात् साध्यसिद्धेः सद्भावात् स्वभावकार्याऽनुपलम्भप्रकल्पनया तद्वचनं निग्रहस्थानं परस्य प्रसक्तम् अनुपलब्धौ 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य' इति विशेषणोपादानं निग्रहस्थानम् अदृश्यानामपि व्याधि-भूत-ग्रहादीनां कुतश्चिद् व्यावृत्तिसिद्धेः। यदि तु उपलभ्यानुपलब्धेरेव अभावसिद्धिः तदा 'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम् प्राणादिमत्त्वात्' इत्यत्र घटादेरात्मनोऽक्षणिकस्यादृश्यानुपलम्भात् अभावासिद्धेः 'यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्' इति सामस्त्येन व्याप्त्यसिद्धितः क्षणक्षयानुमानं नानवद्यं स्यात्।

किञ्च, देश-काल-स्वभाव-विप्रकृष्टभावानुपलब्धेरभावासिद्धौ 'सर्वत्र सर्वदा सर्वो धूमोऽग्निमन्तरेण अनुपपत्तिमान्' इति व्याप्तेरसिद्धेर्न ततस्तत्सिद्धिः स्यात्। न च अध्यक्षाऽनुपलम्भो तत्कार्यकारणभावप्रसाधको अभ्युपगम्यमानो सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च इयतो व्यापारान् विधातुं क्षमौ तत्पृष्ठभाविविकल्पस्य तन्निर्वर्तनसामर्थ्याभ्युपगमे सविकल्पकस्यानिष्टं प्रामाण्यं प्रसज्येत अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् अविसंवादित्वाच्च तस्य अविकल्पकस्य तु हिंसाविरति-दान चेतसां स्वर्गादिफलनिव(र्व)र्तनसामर्थ्यस्वभावसंवेदनस्येव सर्वात्मना वस्तुसंवेदनेऽपि निर्णयवशादेव प्रामाण्योपपत्तेः अन्यथा 'अनुमानस्य अप्रामाण्यप्रसक्तेः तद्गृहीतग्राहितया' इत्युक्तं प्राक्। अदृश्यानामनुपलम्भात् अभावासिद्धौ अर्थक्रियया सत्ता भावानां व्याप्तेत्येतद् अपि परस्य निग्रहस्थानमेव ततः स्वपक्षसिद्धिः इतरस्य पराजयाधिकरणम् सा च परोपन्यस्तहेतोर्विरुद्धताप्रदर्शनेन स्वतन्त्रनिर्दोषहेतुसमर्थनेन वा परोपन्यस्तहेत्वसिद्धतादिदोषप्रतिपादनपुरस्सरा कर्तव्या अन्यथा परपराजयनिबन्धनस्वविजयायोगात्। यदा च विजिगीषुणा स्वपक्षस्थापनेन परपक्षनिराकरणेन च सभाप्रत्यायनं विधेयम् अन्यथा जयपराजयानुपपत्तेः तदा असिद्धाऽनैकान्तिकत्वसाधनदोषोद्भावनेऽपि न वादिप्रतिवादिनोर्जय-पराजयौ प्रकृतार्थापरिसमाप्तेः। अथ स्वपक्षसिद्धेरभावात् हेत्वाभासात् असाधनाङ्गवचनं वादिनो निग्रहस्थानम्, न, इतरत्रापि तत्प्रसङ्गात्। अथ वादिनः साधनत्वेन अभिमतस्य असाधनत्वप्रदर्शनेन प्रतिवादिकृतेन पराजयः प्रतिवादिनस्तु संद्भूतदोषोद्भावनाद् जयः, न, यदि स्वपक्षसिद्धिमकुर्वता प्रतिवादिना स्व-परोत्कर्षापकर्षप्रत्यायनमात्रेण वादी

१-सिद्धिः य-भां० मां० विना। २ तन्निवर्तन-भां० मां० विना। ३-नस्येव पा० बा०। ४-माण्याप्र-वृ० आ० हा० वि०। ५-भावसि-वृ० आ० हा० वि०। ६ व्याप्ते तदपि आ० हा० वि०। व्याप्तेरित्येतदपि भां० मां०। ७-प्रवादि-वृ० भां० मां०। ८-भावात् हेत्वाभावादसाध-वृ० आ० हा० वि०। भावात् हेत्वाभासादसाध पा० बा०। ९ सद्भूतासद्भूतदो-वृ० आ० हा० वि०। १०-त्कर्षाप्रक-

निगृह्यते इत्यभ्युपगमस्तर्हि असद्भूतदोषोद्भावनेनापि निरुत्तरीकरणात् आत्मोत्कर्षसंभवात् प्रतिवादिनो विजयप्राप्तिः वादिनो निर्दोषसाधनाभिधायिनोऽपि पराजयप्रसक्तिः । अथ समर्थस्यापि साधनस्य असमर्थनेन स्वपक्षसिद्धेरभावात् वादिनोऽपराजयो न्यायप्राप्त एव, न; उभयत्र पराजयप्रसक्तेः । न हि अभूतदोषपक्षोपनयनिगमनाद्युद्भावनमात्रेण प्रतिवादिना प्रकृतं वस्तुतत्त्वं प्रसाधयन् स्वपक्षसाधनसामर्थ्यविकलेन वादी निगृह्यते इति न्यायोपपन्नम् । अथ प्रतिवादी अपि असाधनाङ्गस्य साधनाङ्गत्वेन उपादानात् स्वपक्षसिद्धिमकुर्वन् मिथ्याभिनिवेशी निगृह्यते इति चेत्, न; उभयोर्निग्रहप्राप्तेरित्युक्तत्वात् । तस्माद्—

"असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः । निग्रहस्थानमन्यद्धि न युक्तमिति नेष्यते" ॥ [ ]

इत्यादिवादन्यायलक्षणमेकान्तवादिनां सर्वमसंगतमुक्तन्यायात् सर्वस्य चैकान्तसाधनाङ्गत्वात् तस्य असत्त्वेन साधयितुमशक्यत्वात् अनेकान्तस्य च निर्दोषत्वेन तत्र दोषोद्भावनस्य अदोषोद्भावनरूपत्वात् दोषानुद्भावनस्य च निर्दोषे पराजयानधिकरणत्वात् तदुद्भावनस्यैव तत्र निग्रहार्हत्वात् इत्यलं पिष्टपेषणेन इति व्यवस्थितम् **मिथ्यादर्शनसमूहमयत्वं** मयिकत्वं वा । न विद्यते मृतं मरणं यस्मिन् असौ अमृतो मोक्षः तं सारयति गमयति प्रापयतीति वा तस्य अवन्ध्यमोक्षकारणत्वात् मोक्षप्रतिपादकत्वाच्च । '**अमयसायस्स**' वा इति पाठे अमृतवत् स्वाद्यते इति अमृतस्वादम् अमृततुल्यमिति यावत् । तथा रागाद्यशेषशत्रुजेतृपुरुषविशेषैरुच्यत इति **जिनवचनम्** तस्य अनेन विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वनिबन्धनं प्रामाण्यं निगमयति । क्षीराश्रवाद्यनेकलब्ध्याद्यैश्वर्यादिमतो भगवत इत्यनेनापि विशेषणेन तस्य ऐहिकसंपद्विशेषजनकत्वमाह । संविग्नैः संसारभयोद्वेगाविर्भूतमोक्षाभिलाषैःअपकृष्यमाणराग-द्वेषाऽहंकारकालुष्यैः 'इदमेव जिनवचनं तत्त्वम्' ईत्येवं सुखेन अवगम्यते यत् तत् संविग्नसुखाभिगम्यम् । एतेनापि विशिष्टबुद्ध्यतिशयसंवित्समन्वितयतिनृपतिसेव्यत्वमस्य प्रतिपादयति । एवंविधगुणाध्यासितस्य जिनवचनस्य सामायिकादिबिन्दुसारपर्यन्तश्रुताम्भोधेः कल्याणमस्तु इति प्रकरणसमाप्तौ अन्त्यमङ्गलसंपादनार्थं विशिष्टां स्तुतिमाह ।

॥ इति तत्त्वबोधविधायिन्यां संमतिटीकायां तृतीयं काण्डं समाप्तम् ॥

इति कतिपयसूत्रव्याख्यया यद् मयाऽऽप्तं कुशलमतुलमस्मात् सैन्मतेर्भव्यसार्थैः ।
भवभयमभिभूय प्राप्यतां ज्ञानगर्भं विमलमभयदेवस्थानमानन्दसारम् ॥

पुष्यद्वाग्दानवादिद्विरदघनघटाकुण्ठपीकुम्भपीठ-
प्रध्वंसोद्भूतमुक्ताफलविशदयशोराशिभिर्यस्य तूर्णम् ।
गन्तुं दिग्दन्तिदन्तच्छलनिहितपदं व्योमपर्यन्तमागान्
स्वल्पब्रह्माण्डभाण्डोदरनिविडभरोत्पिण्डितैः संप्रतस्थे ॥

प्रद्युम्नसूरेः शिष्येण तत्त्वबोधविधायिनी । तस्यैषाऽभयदेवेन सैन्मतेर्विवृतिः कृता ॥

अङ्कतो ग्रन्थप्रमाणं २५००० ।

मैत्र्यादिमदमर्दनप्रकटसन्मतिव्याजतो निवेशितजगत्त्रयस्फुरितमान्द्यकीर्तिर्गुरुः ।
समस्तजगतीतले गुणवतां शिरःशेखरो जयत्यतुल्याग(?)भयदेवसूरिः प्रभुः ॥

१-न्यद्धि यु-वृ० आ० हा० वि० । २-कान्ते सा-वृ० हा० । ३-षोद्भव-वृ० हा० । ४-निर्दोष वृ० आ० हा० वि० । ५-णीततत्त्व-वृ० भा० मा० ६-णीतनत्त्वतत्त्व-आ० मा० । ७ इत्येव सु-वृ० हा० । ८ प्रतिक्रमण-भा० मा० । ९ स्मसम्भि-भा० मा० । स्वराग्नि-मां० मां० आ० हा० वि० । -वार्थं विशा-१०-तीयका-वृ० मां० मां० । ११ सम्मते-मां० मां० । १२-मतिसु-वृ० । १३ स्वयम-मां० मां० आ० । १४ इदं पद्य आ० हा० वि० प्रतिषु नास्ति ।

परिशिष्टानि

सन्मतिमूलगाथानामकाराद्यनुक्रमः ।

श्वेताम्बर-दिगम्बरजैनाचार्यैः स्वे स्वे ग्रन्थे समुद्धृतानां यथोपलब्धानां च सन्मतिगाथानां सूचिः।

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण

सन्मतिप्रकरण	विशेषावश्यक
१,११	गाथा २५४८
१,१९	१९३५
१,६	२९४०
२,१५	१४१
२,४३	७७४
३,४७	२२६५
३,५२	२१०४
३,४९	२१९५

सिंहक्षमाश्रमण

सन्मति०	नयचक्रटीका (लिखित प्रेसकोपी)
१,३१	पृ० २
१,४७	८
१,२८	५०
३,६९	१२३ अने १०३२
१,३	३५९
३,५८	६६०
१,४७	७४८
१,६	७६०
१,५	९२८
१,५ अने ३,४५	९०१

सिद्धसेनगणी (गन्धहस्ती)

सन्मति०	तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति
१,२८ अने १,२०	अ० १ सू० ७ पृ० ५३

हरिभद्र

सन्मति०	पञ्चवस्तु
३,५३	गाथा १०४९
	उपदेशपद
३,५३	पृ० १४०
	दशवै० टीका
३,५२	पृ० ३२
१,१८	३८

शीलाङ्क

सन्मति०	आचाराङ्गटीका
१,२१	पृ० ८०
१,१२	८५
३,४५	१४७
१,३१	१७१
	सूत्रकृताङ्गटीका
३,५३	पृ० २११
१,२२	”
१,२३	”
१,२४	”
१,२५	”

वादिवेताल शान्तिसूरि

सन्मति	उत्तराध्ययनपाइअटीका
१,३ अने १,६	पृ० २१
३,४७	६७

हेमचन्द्र

सन्मति०	प्रमाणमीमांसा
३,४९	पृ० ४०

मलधारी हेमचन्द्र

सन्मति०	विशेषाव० टीका
३,५२	पृ० ३३
१,४७	”
१,३	१३४६

मल्लिषेण

सन्मति	स्याद्वादमञ्जरी
३,४७	पृ० ३११

विद्यानन्दी

सन्मति०	तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक
३,४५	पृ० ३

अनन्तवीर्य

सन्मति०	सिद्धिविनिश्चयटीका (लिखित)
३,५०	पृ० ३२४

अमृतचन्द्र

सन्मति०	पञ्चास्तिकायटीका
३,६७	पृ० २५०

यशोविजयोपाध्यायैः स्वरचिता अनेके ग्रन्थाः सन्मतिप्रकरणमाश्रित्यैव कृता इति सूचनाय तत्तद्ग्रन्थोद्धृतानां सन्मतिगाथानां सूचिः।

सन्मति०	शास्त्रवार्तास० टीका	३,५७	२५६ प्र०	१,३५	५१
१,३५	पृ० २५२ द्वि०	३,३८	३६ प्र०	१,८	५४
१,४७	११५ प्र०	३,९	२६१ द्वि०	१,९	,,
१,३७	२५३ प्र०	३,१०	,,	१,१०	५५
१,३९	,,	३,३९	२७४ प्र०	१,११	,,
१,११	२३१ द्वि०	३,३	२५ प्र०	१,१२	,,
१,४९	११५ द्वि०	३,१२	२६१ द्वि०	१,१३	,,
१,५३	११६ प्र०	३,४०	२३५ प्र०	१,१४	,,
१,५०	११५ द्वि०	३,२७	२२३ द्वि०	१,१५	,,
१,४४	२५८ प्र०	३,४४	५८ प्र०	१,१६	,,
१,६	२४२ प्र०	३,८	२६१ प्र०	१,२१	५६
१,२८	२३० द्वि०	३,३४	२२१ द्वि०	१,२२	५७
	२४३ ,,	३,३३	२२० द्वि०	१,२३	,,
१,२१	२३० प्र०	३,५६	२५६ प्र०	१,२४	,,
१,५२	११६ प्र०	सन्मति०	नयोपदेश	१,२५	,,
१,१०	२३१ द्वि०	१,१३	पृ० ३५ द्वि०	१,२६	५८
१,५१	११६ प्र०	१,३१	३ द्वि०	१,२७	,,
१,९	२३१ प्र०	१,४१	१३ द्वि०	१,२८	५९
१,१२	२२४ प्र०	१,१५	३६ द्वि०	१,५	१०२
१,४३	२५८ प्र०	१,५३	८८ प्र०	१,४१	१०८
१,५४	११६ प्र०	१,१४	३५ द्वि०	१,५३–५४	१२३
१,४८	११५ प्र०	१,२८	२८ द्वि०	१,३६	१३०
१,४०	१५३ द्वि०	१,३	२९ प्र०	१,३७–३८	१३२
१,४८	,, द्वि०	१,१०	३१ प्र०	१,३९	१३३
२,३५	३४२ प्र०	१,९	३० द्वि०	१,४०	१३४
३,३६	,, द्वि०	१,१२	३५ द्वि०	१,४१	१३५
३,३९	३६ प्र०	१,८	३० द्वि०	३,४९	७
३,३२	२१९ द्वि०	१,५४	१५ द्वि०	३,५–६	१३९
३,५३	७९ द्वि०	१,३४	१२ प्र०	३,७	१४०
३,३१	२६० प्र०	१,३५	,,	३,८–१५	१४१–१४२
३,२९	२५९ द्वि०	१,१६	३६ प्र०	३,३९	१४३
३,३०	,,	३,३७	४३ द्वि०	३,३३	१४३
३,१४	२६१ द्वि०	३,५३	९२ द्वि०	३,१२	,,
३,१५	२६१ द्वि०	३,४७	८९ प्र०	३,१९–२०	१४४
३,४७	२७४ प्र०	३,५४	८९ द्वि०	३,२१	,,
३,५०	२४ द्वि०	३,२८	९६ द्वि०	३,२२–२३	१४५
३,४८	२७४ प्र०	३,६	११ द्वि०	३,२४–२५–२६	१४६
३,११	२६१ द्वि०	३,२५	१५ द्वि०	३,२७	१४७
३,१३	,,	सन्मति०	अनेकान्तव्यवस्था	३,२८–२९	१४८
२८	२५९ प्र०		(लिखित प्रेसकोपी)	३,३०–३१	१६०
३५	३५ प्र०	१,४	पृ० २०	३,६७	,,

सन्मति०	ज्ञानबिन्दु
१,८	पृ० १५२ द्वि०
१,३५	,,
२,१२	१५८ द्वि०
२,१३	,,
२,३२	१६३ द्वि०
२,२४	१६१ द्वि०
२,४	१५५ प्र०
२,१४	१५९ प्र०
२,५	१५६ प्र०
२,२०	१६० द्वि०
२,२३	१६१ द्वि०
२,१०	१५८ प्र०
२,१९	१६२ द्वि०
२,२८	१६२ द्वि०
२,३०	,,
२,२९	१६२ प्र०
२,२५	१६१ द्वि०
२,९	१५७ प्र०
२,२२	१६१ प्र०
२,२१	१६० द्वि०
२,१६	१५९ प्र०
२,१८	१६० प्र०
२,११	१५८ प्र०
२,१५	१५९ प्र०
२,२७	१६२ प्र०
२,३	१५४ द्वि०
२,२६	१६३ प्र०
२,३३	१६३ द्वि०
२,३१	,,
२,७	१५६ द्वि०
२,८	१५७ प्र०

सन्मति०	द्रव्यगुणपर्यायनो रास	
१,४७	दा० १३	गा० १०
१,४१	४	१३
२,३५	९	१४-१५
२,३६	९	१४-१५
३,३९	९	२१
,,	१४	१६
३,३७	९	१२
३,३२	९	१९
३,१४	२	१२
३,६७	१	२
३,१५	२	१२
३,११	२	१२
३,१३	२	१२
३,३८	९	२१
३,१०	२	१२
३,४९	५	६
३,१२	२	११
३,३४	९	२६
३,३३	९	२०-२३

सन्मति०	महावीरस्तव
१,२८	पृ० ५४ प्र०
१,८	४२ द्वि०
३,२९	१६ द्वि०
३,६	५६ प्र०
३,३५	५४ द्वि०
सन्मति०	**धर्मपरीक्षा**
१,३	पृ० ८९
३,४९	८८
३,४८	,,
३,२७	२४०
सन्मति०	**गुरुतत्त्वविनिश्चय**
१,२८	पृ० १२ द्वि०
३,५४	१८० प्र०
३,३७	१७ द्वि०

शब्द	काण्ड	गाथा	व्या. पृ.
उच्छिण्णेसु	१	१९	४१८
उच्छेअ	१	१७	
उच्छेअवाईआ	१	१७	
उज्जुसुय	१	५	३१७,३१८, ३४९,३६६, ३७८
उज्जुसुयवयणविच्छेदो	१	५	३१७
उड्ढ	३	२९	६४०
उड्ढगईयं	३	२९	६४०
उण	१	२१,२८,३०, ४१	४१९,४२९, ४३०
	३	१०,१६,२१, ६४	६३४,६३६, ६३७,७४६
उत्तूणा	२	३४	६२२
उवेसुं	१	२	१५३
उप्पज्जंति	१	११	४०९
उप्पज्जमाण	३	३७	६४५
उप्पज्जमाणकालं	३	३७	६४५
उप्पण्णं	३	३७	६४५
उप्पण्णो	२	३६	६२३
उप्पाओ	२	९,३१	६०८,६२१
	३	३३,४०,४२	६४१,६४९, ६५०
उप्पाय	१	१२	
उप्पायट्ठिइभंगा	१	१२	४१०,४१५
उप्पायत्था	३	३८	
उप्पायत्थाकुसला	३	३८	६४६
उप्पायंतो	३	७	६३१
उप्पायं	३	३८	६४६
उप्पायसमा	३	४१	६४९
उप्पाया	३	४१	६४९
उप्पायाई	३	३५	६४३
उभय	१	१६	
उभयत्थ	२	४०	६२४
उभयवायपण्णवओ	१	१६	४१६
उभयहा	१	३८,३९,४०	४४६,४४७
उयाहरणं	२	३९	६२३
उल्लएण	३	४९	६५६
उल्लया	३	५०	
उवउत्तो	२	२९	६२०
उवएसम्मि	३	२६	६३८
उवओगा	२	९	६०८
उवओगो	१	८	

शब्द	काण्ड	गाथा	व्या. पृ.
उवगयाणं	१	१	१३३,१५०, १६६
उवणीओ	१	२६	
उवणीयं	३	३२,५८	६३७,७२६
उवणीया	३	५१	७०९
उवलंभो	२	२७	
उववण्णं	२	३३	६२२
उवसमियाई	२	३६	६२३
उवसमियाईभावं	२	२	५९६
उवसमियाईलक्खणविसेसओ	२	३६	६२३
उवाओ	३	५५	
उस्सग्गओ	३	४१	६४९
ए			
एए	१	१३,१५	४१५,४१६
	३	५५,५७	७२५
एएसु	१	५३	४५५
एक्कसमएण	२	१०	६०८
एग	१	३१	४३०
	२	१२,३१	६०८,६२१
	३	१७,४०,४१	६३६,६४९
एगगुण	३	६	६३०
एगगुणाईया	३	६	६३०
एगगुणो	३	१३	६३५
एगदवियम्मि	१	३१	४३०
एगदवियस्स	३	४१	६४९
एगंत	२	३९	
	३	२	६२७
एगंतणिव्विसेसं	३	२	६२७
एगंतपक्खपडिसेहे	२	३९	६२३
एगंता	१	१४	४१६
	३	५३	७१०
	३	६८	
एगंतिओ (एगत्तिओ)	३	३३	६४१
एगंतुच्छेयम्मि	१	१८	४१७
एगंतो	३	२२	६३१
एगपुरिससंबंधो	३	१७	६३५
एगयरम्मि	२	२७	६१९
एगविभागम्मि	३	४०	६४९
एगसद्दे	३	४०	६४९
एगसमयंतरुप्पाओ	२	३१	६२१
एगसमयम्मि	२	१२	६०९
	३	४१	६४९

शब्द	काण्ड	गाथा	व्या. पृ.
	२	१७	६१६
झिणे	२	६	६०७
जिणो	२	४	६०५
जिणोवएसम्मि	३	२६	६३८
जिव्वंतो	३	५८	७२६
जीव	१	४८	
	२	४१,४२,४३	६२४
	३	३१	६४०
जीवदवियं	३	३१	६४०
जीवदवियम्मि	१	४८	४५३
जीवद्दव्वं	२	४१	६२४
जीवपज्जाया	२	४३	६२५
जीवस्स	१	४६	४५०
	३	७	६३१
जीविय	२	४२	६२४
जीवो	२	३७,४२	६२३,६२४
	३	३१	६४०
जुज्जइ	१	४४	४५०
	२	५,१०,११,	६०६,६०८,
		१५,१७	६०९,६१०,
			६१६
	३	२१,२३,४०,	६३७,६३८,
		५२	६४९
जुज्जए	१	१८	४१७
जुज्जंतो	३	१०	६३४
जुत्तं	२	२४,२६	६१८,६१९
जुत्तो	२	३२	६२१
	३	३६	६४४
जे	१	३१,४८,५३	४५३,४५५
	२	३५	६२२
	३	५०	७०४
जेण	१	१४	४१६
	२	११	६१७
जो	१	२७,३३,३५,	४२३,४४०
		५२	४४१,४५५
	३	१६,३६,४५	६३६,६४४
			६५१
जोग	१	१९	
जोगनिमित्तं	१	१९	४१८
जोगसिद्धी	१	४९	
जोया	१	३२	
जोव्वण	१	४३	
जोव्वणत्थो	१	४४	४५०

शब्द	काण्ड	गाथा	व्या. पृ.
	ट		
ढिइ	१	१२,१९	४१८
ढिई	१	१९	४१८
	ठ		
ठवणा	१	६	३७९,३८७
ठाणं	१	१	१३३,१५०,
			१६६
ठाणाइं	३	५४,५५	७१८
ठिई	३	२३	६३८
ठिईउ	३	४१	६४९
ठिई जम्मविगमा	३	२३	६३८
	ड		
डहरओ	३	१९	६३७
	ण		
ण	१	९,१४,१७	४०८,४१६
		१८,२३,२५	४१७,४२१
		२७,२८,३५	४२८,४२९
		४२,४४,५०	४४१,४४९
		५१	४५०,४५३
			४५५
	२	४,६,१०,११	६०५,६०७
		१५,१७,२४	६०८,६०९
		२६,२७,२८	६१०,६१६
		३४,३५,४२	६१८,६१९
			६२२,६२४
	३	५,१०,१७	६३०,६३६
		१९,२१,२२	६३७,६३८
		२६,३१,३६	६४०,६४४
		३८,५२,५४	६४६,७१०
		६३	७१८,७३२
णएहि	३	४९	६५६
णओ	१	३,९,१४,१६	४०८,४१६
	३	१०	६३४
णणु	३	२०,४०	६३७,६४९
णत्तु	३	१७	
णत्थि	१	१२,१६,१९	४१०,४१६
		२०,३७,३९	४१९,४४६
		४०	४४७
	२	८,९,१९,२२	६०७,६०८
			६१७
	३	३४,३५,३६	६३५,६३८,
		५४	६४४,७१८

शब्द	काण्ड	गाथा	व्या. पृ.
णिव्विसेस	३	२	६२७
णिस्सामण्णं	१	७	४०७
णिस्सिआ	१	२१	
णिस्सियं	३	३	६२९
णिहणं	२	४१	
णिहणो	२	३७	
णीअं	३	४९	६५६
णेव	१	१७	
णो	३	२३	६३८
णोइंदियं	१	५०	४५३
णोइंदियम्मि	२	२६	६१९
त			
तइओ	१	१४	४१६,
तइगुणो	३	१४	६३५,
तइआ	२	४	६०५
तओ	२	३५	६२२,
	३	५२	७१०
तत्तो	३	७,३९,	६३१,६४७,
तत्थ	२	२४	६१८,
	३	३३,४३	६५०
तं	१	२,२७,३१, ३७,३८, ३९,४०, ४२,४७,	१७३,४२८, ४४६,४४७, ४४९,४५२,
	२	७,३०	६२०,
	३	१४,२२,२३, २६,२९,५८	६३७,६३८, ६४०,७२६
तम्मि	३	४	६३०
तम्हा	१	९,१३,२१	४०८,४१५, ४१९
	२	८,१७,२८, २९,३०,३८	६०७,६१६, ६१९,६२०, ६२०,६२३
	३	८,१३,३१, ६५	६३३,६३५, ६४०,७४६
तयं	३	१	६२७
तव्वाओ	३	२६	६३८
तस्स	१	४,५,१२,४५	३४९,४३१, ४४०,४५०,
	२	३६,४१	६२३,६२४
तह	१	१०,१५,२३, २५,४६	४१६,४२१, ४५०
	२	५,६,१४, ३९,४३	६०६,६०७, ६२३,६२५
	३	१८,४६९,६६	६३६,६५७,
तहा	२	१५	६१०
	३	२९,३०,५८	६४०,७२६
तहेय	३	१५	६३६
तहेव	१	४२	४४९
	२	१५,२४	६१०,६१८
	३	४	६३०
ता	३	९	६३४
ताव	३	९	६३४
तावइयं	१	३१	४३०
	३	४७	६५५
ति	२	३,७,२३, २६,३१, ३३,३४,३९	५९६,६०७, ६१८,६२१, ६२२
	३	२३,३१, ३७,३९	६४०,६४५, ६४६
तिअणुयं	३	३९	६४६
तिकाल	३	३७	
तिकालविसयं	३	३७	६४५
तिण्णि	३	३५	६४३
तिण्हं	३	३१	६४१
तित्थयर	१	३,५३	२७१,४५५
	२	४	
तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी	१	२	२७१
तित्थयरासायणा	१	५३	४५५
	२	४	६०५
तित्थयरासायणाभीरू	२	४	६०५
तिरिय	२	३१	६२१
तिविह	१	४९	
तिविहजोगसिद्धी	१	४९	४५३
तीय	१	३१	
तीयाणागयभूया	१	३१	४३०
तीसइ	२	४०	
तीसइवरिसो	२	४०	६२४
तु	१	५४	
	२	१९,२२,३६, ३७	६१७,६२३
	३	१४,१६, १९,३०	६४०
तुलं	१	३३	४४०
ते	१	१९,२४,२७, २८,४८	४१६,४२१, ४२३,४२९, ४५३

शब्द	काण्ड	गाथा	व्या. पृ.
°लक्खणविसेसओ	२	३६	६२३
°लक्खणा	३	८	
लज्जइ	१	४३,४४	४४९,४५०
लहइ	१	३३	४४०
	३	१८	६३६
लहंति	१	२२,२५	४२१
लिंगओ	२	२५	६१८
°लीण	३	६४	७४६
लोइय	१	२६	
	३	५९	७२६
लोइयपरिच्छयसुहो	१	२६	४२२
लोइयपरिच्छियाणं	३	५९	७२६
व			
व	१	२०,२७,२८, ३३,४७	४२८,४४०, ४५२
	३	२२	६३७
°वंजण	१	३०,३४,४१	४४०
वंजणओ	३	५	६३०
वंजणणिअओ	१	४३	४३०
वंजणपज्जाए	१	४१	४४८
वंजणपज्जायस्स	१	३४	४४०
वंजणवियप्पो	१	३०	४३०
°वत्तव्व	१	२९	४२९
°वत्तव्वं	१	१०,२९	४२९
	२	३१	६२१
	३	२३,४८,५७	६५६,७२५
°वत्तव्वय	२	१८	६१६
°वत्तव्वा	१	२५	
वत्तव्वो	२	४२	६२४
वत्थुं	१	८	४०८
°वय	१	४४	
°वयण	१	३,५,७,२६, ३१,३६,४१	३७१,३३७
	३	१०,४२,४७	६२७,६५०, ६५५
°वयणं	१	७	४०७
	३	३	
वयणत्थनिच्छओ	१	४	३१६
वयणपज्जाया	१	३१	४३०
वयणपहो	१	४१	४४८
वयणपहा	३	४७	६५५
वयणविणिवेसो	३	१	६२७
वयणवियप्पो	२	१२	६०९

शब्द	काण्ड	गाथा	व्या. पृ.
वयणविसेसाईयं	१	३६	
वयणविही	१	७	४०७
°वयणस्स	३	६९	
°वयणिज्ज	१	२८,५३	
	३	५९,६२	७३२
वयणिज्जपहे	३	५९	७२६
वयणिज्जं	१	८	४०८
	३	५८	७२६
वयणिज्जवियप्पा	१	५३	४५५
वयमाणो	३	२,५९	६२७,६२८, ७२६
°वरिस	२	४०	
वरिसविभागं	२	४०	६२४
°वरिसो	२	४०	
°ववएसं	१	२२	
ववएसो	३	४९	४४६
ववहारो	१	४	३१६
°वसा	१	३८,३९,४०	
	३	२०,२१	६३७
°वहा	३	४७	६५५
वा	१	२८,३१,३५	४३०,४४१
	२	१३	६०९
	३	४,१९,५६	६३०,६३७, ७१९
°वाइआ	१	१७	
वाएउं	३	६८	
°वाओ	३	४३	६५०
°वागरणी	१	३	
वागरिया	३	११	६३५
वारी	३	५९	७२६
°वाय	१	१६,१८,२३	४२१
°वायस्स	३	४४	
°वाया	१	२५	
	३	४७	६५५
°वायी	१	१७	
°वायो	३	३३	
वावडा	१	१९	४१६
वावि	३	४२	
वि	१	१३,१५,१६	४१५,४१६
		२१,२२,२३	४१९
		३१,४४,४५	४२९,४५०
			४५१

सन्मतिमूलगाथागताः शब्दाः ।

शब्द	काण्ड	गाथा	व्या. पृ.
°सम्मद्दंसण	१	२५	
°सम्मद्दंसणं	१	२३	
	३	५१,६२	७०९,७२२
°सम्मद्दंसणणाणचरित्त	३	४४	
सम्मद्दंसणणाणचरित्तपडि- वत्तिसंपन्नो	३	४४	६५१
सम्मद्दंसणसद्दं	१	२३,२५	४२१
°सम्मिया	२	२८	६१९
°संविग्ग	३	६९	
संविग्गसुहाहिगम्मस्स	३	६९	
°संसार	१	२०	४१८
संसारभओघदंसणं	१	२०	४१९
संसारो	१	१७	४१७
°सक्क	३	५०	
सक्कोल्लया	३	५०	७०४
°सच्चा	१	२८	४२९
	३	५०	७०४
सच्चे	१	२८	४२९
°सट्ठि	२	४०	
सट्ठिवरिसो	२	४०	६२४
सणिहणाइ	२	८	६०७
°सण्णा	१	४५	४५०
	३	९,११,३०	६४०
°सण्णाओ	१	२४,२५	
°सत्त	१	४१	
सत्तवियप्पो	१	४१	४४८
°सत्थ	३	१४	
सत्थं	३	४६	६५६
°सद्द	३	३६	७३२
°सद्दं	१	२३,२५	
सद्दहइ	३	२८	६३९
सद्दहंतो	३	२८	६३९
सद्दहणा	३	२८	६४०
सद्दहमाणस्स	२	३२	६२१
सद्दाइआ	१	५	३४९,३७८
°सद्दे	३	९	
°सद्दो	१	३२	
	२	३२,४०	६१८,६२१
°सपक्ख	१	२१	
°सपक्खपडिवक्खा	१	२१	४१९
[illegible]	१	७	४०७
	१	४०	४४७

शब्द	काण्ड	गाथा	व्या. पृ.
°सब्भावा	१	३१	४१९
सब्भावासब्भावे	१	४०	४४७
सब्भावे	१	३७,३८	४४६
सब्भूयं	३	५९	७२६
समए	१	३५	४४१
	३	६६	
°समओ	१	२८	४२९
समं	२	९	६०८
	३	१५	६३६
समण्णेइ	३	३	६२८
°समत्त	२	१६	६१५
	३	६२	७३२
°समत्तसुयणाण	२	१६	६१५
समत्तसुयणाणदंसणावि- सओ	२	१६	६१५
°समय	१	२,४२	४४९
	३	२७	६३९
समयं	१	३६	
°समयंतर	२	३१	६३१
समयपन्नवणा	१	४२	४४९
°समयपरमत्थ	१	२	१७३
समयपरमत्थवित्थरविहा- डजणपज्जुवासणसयण्णो	१	२	१६९,१७२ १७३,२७०
समयमाईहिं	१	३६	
°समयम्मि	१	५०	
	२	१२,२०	६०९,६१७
	३	४०,४१	६३०,६४९
°समया	३	४७	६५५
समयाविरोहेण	३	२७	६३९
समये	२	३५	६२२
	३	१३	६३५
समा	३	६०	७२७
समाणं	२	३	५९६
समाणम्मि	२	९	६०८
समासओ	१	३०	४३०
	३	५३	७१०
°समुदय	३	३२,३३,३४	६४३
समुदयकओ	३	३३	६४१
समुदयजणियम्मि	३	३४	६४३
समुदयवाओ	३	३२	६४१
समुदयविभागमेत्तं	३	३४	६४३
समुब्भावो	३	२५	६३८
°समूह	१	२७	४२२
°समूहमइअस्स	३	६९	

५

सन्मतिटीकागतान्यवतरणानि ।

अ

अगृहीतविशेषणा च विशेष्ये बुद्धिर्नोपजायते ।
[ ] पृ. ४७६ (४)*

अगृहीताच्च चाभावात् प्रमेयाभावनिर्णयः ।
तद्ग्रहोऽप्यन्यतो भावादनवस्था दुरुत्तरा ॥
[ ] पृ. ५८७

अगोतो विनिवृत्तश्च गौर्विलक्षण इष्यते ।
भाव एव ततो नायं गोरगौर्न प्रसज्यते ॥
[तत्त्वसं० का० १०८५] पृ. २१५ (७,८)

अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम् ।
गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम् ॥
[श्लो० वा० अपो० श्लो० १] पृ. १८७ (११,१२)

अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्धा यद्यग्निरेव सः ।
अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत् ॥
[ ] पृ. ५०

अग्निहोत्रं जुहुयात् । [ ] पृ. १९

अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्, वायोस्तिर्यक्पवनम्, अणुमनसोश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम् ।
[वैशेषिकद० अ० ५-२-१३] पृ. १०५

अचेतनः कथं भावस्तदिच्छामनुवर्तते ।
[ ] पृ. ९६,१२१

अज्ञातस्यापि चाक्षस्य प्रमाहेतोः प्रमाणता ।
प्रमाभावस्त्वसामर्थ्यादज्ञातोऽभाववेदकः ॥
[ ] पृ. ५८७

अज्ञेयं कल्पितं कृत्वा तद्व्यवच्छेदेन ज्ञेयेऽनुमानम् ।
[हेतु०] पृ. १९९ (७), २२८ (२०,२१)

अट्ठारस पुरिसेसुं वीसं इत्थीसु ।
[ओघनि० गा० ४८३] पृ. ७५२ (३)

अणंते केवलणाणे अणंते केवलदंसणे ।
[ ] पृ. ६१० (१)

'अत इदम्' इति यतस्तद् दिशो लिङ्गम् ।
[वैशेषिकद० २-२-१०] पृ. ६६९ (३)

अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रसाधनात् ।
सामान्यविषयं प्रोक्तं लिङ्गं भेदाप्रतिष्ठितेः ॥
[ ] पृ. २११ (६,७,८)

अतीतानागताकारकालसंस्पर्शवर्जितम् ।
वर्तमानतया सर्वमृजुसूत्रेण सूत्र्यते ॥
[ ] पृ. ३१२

अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ ।
कालत्वात् तद्यथा कालो वर्तमानः समीक्ष्यते ॥
[ ] पृ. ३१

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥
[ ] पृ. ७५३

अत्यन्तासम्भविनो न विरोधगतिः । [ ] पृ. ५५८

अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ [न्यायबिन्दु० परि० २ सू० १९]
पृ. ३५३ (२)

अथान्यथा विशेष्येऽपि स्याद् विशेषणकल्पना ।
तथासति हि यत् किंचित् प्रसज्येत विशेषणम् ॥
[श्लो० वा० अपो० श्लो० ९०] पृ. १९३.

अथान्यदप्रयत्नेन सम्यगन्वेषणे कृते ।
मूलाभावान्न विज्ञानं भवेद् बाधकबाधनम् ॥
[तत्त्वसं० का० २८६९] पृ. १९

अथासत्यपि सारूप्ये स्यादपोहस्य कल्पना ।
गवाश्वयोरयं कस्मादगोपोहो न कल्प्यते ॥
[श्लो० वा० अपो० श्लो० ७६] पृ. १९० (८)

अथास्त्यतिशयः कश्चिद् येन भेदेन वर्तते ।
स एव दधि सोऽन्यत्र नास्तीत्यनुभयं परम् ॥
[ ] पृ. २४२ (३४)

अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म आरभते, एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्, यो य एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणः स स स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म आरभते, यथा वेगः तथा चादृष्टम्, तस्मात् तदपि स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म आरभते इति । न चासिद्धं क्रियाहेतुगुणत्वम्, 'अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्, वायोस्तिर्यक्पवनम्, अणु-मनसोश्चाद्यं कर्म देवदत्तविशेषगुणकारितम्, कार्यत्वे सति देवदत्तस्योपकारकत्वात्, पाण्यादिपरिस्पन्दवत्, एकद्रव्यत्वं चैकस्यात्मनस्तदाश्रयत्वात्, एकद्रव्यमदृष्टम्, विशेषगुणत्वात्, शब्दवत्' ।

'एकद्रव्यत्वात्' इत्युच्यमाने रूपादिभिर्व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थम् 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्युक्तम् । 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्युच्यमाने मुशलहस्तसंयोगेन स्वाश्रयाऽसंयुक्तस्तम्भादिचलनहेतुना व्यभिचार', तन्निवृत्त्यर्थम् 'एकद्रव्यत्वे सति' इति विशेषणम् । 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुत्वात्' इत्युच्यमाने स्वाश्रयासंयुक्तलोहादिक्रियाहेतुनाऽयस्कान्तेन व्यभिचारः । तन्निवृत्त्यर्थम् 'गुणत्वात्' इत्यभिधानम् । [ ] पृ. १४२ (२)

* परिशिष्टेऽस्मिन् कोष्ठकान्तर्गता अङ्कास्तत्तत्पृष्ठगतटिप्पण्यङ्कसूचकाः ॥

एकादिव्यवहारहेतुः सङ्ख्या ।
[प्रशस्त० भा० पृ० १११ पं० ३] पृ. ५१९
एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते ।
नूनं स चक्षुषा सर्वान्रसादीन् (सर्वान् रसादीन्) प्रतिपद्यते ॥
[श्लो० वा० सू० २ श्लो० ११२] पृ. ४३
एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावस्तत्त्वतस्तेन दृष्टः ॥
[ ] पृ. ६३ (७)
एक्केक्को वि सयविहो ।
[आवश्यकनि० उवग्घायनि० गा० ३६] पृ. ७५७ (४)
एगगुणकालए दुगुणकालए-।
[भगवतीसू० शत० ५ उ० ७ सू० २१७] पृ. ६३५ (४)
एगदवियम्मि—। [प्र० का० गा० ३१] पृ. ६२८ (२)
एगमेगेणं जीवस्स पएसे अणंतेहिं णाणावरणिज्जपोग्गलेहिं आवेढियपवेढिए । [ ] पृ. ४५५-४५६ (२)
एगे आया । [स्थाना० प्रथमस्था० सू० १]
पृ. ९३,४५३ (२)
एगे भवं दुवे भवं । [भगवतीसूत्र शतक १८ उ० १०]
पृ. ६३५ (१)
एते च त्रयो भङ्गा गुण-प्रधानभावेन सकलधर्मात्मकैकवस्तुप्रतिपादकाः स्वयं तथाभूताः सन्तो निरवयवप्रतिपत्तिद्वारेण सकलादेशाः, वक्ष्यमाणास्तु चत्वारः सावयवप्रतिपत्तिद्वारेणाशेषधर्माक्रान्तं वस्तु प्रतिपादयन्तोऽपि विकलादेशाः ।
[ ] पृ. ४४५ (११,१२)
एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः ।
प्रार्थ्यते तावतैवैकं स्वतः प्रामाण्यमश्नुते ॥
[श्लो० वा० सू० २ श्लो० ६१] पृ. ८
एवं धर्मैर्विना धर्मिणामुद्देशः कृतः ।
[प्रशस्तपादभा० पृ० २६ पं० १] पृ. ६६१ (३)
एवं परीक्षकज्ञानत्रितयं नातिवर्तते ।
ततश्चाजातबाधेन नाशङ्क्यं बाधकं पुनः ॥
[तत्त्वसं० का० २८७१] पृ. १९
एवं परोक्तसम्बन्धप्रत्याख्याने कृते सति ।
नियमो नाम सम्बन्धः स्वमतेनोच्यतेऽधुना ॥
[ ] पृ. २०
एवं यत् पक्षधर्मत्वं ज्येष्ठं हेत्वङ्गमिष्यते ।
तत् पूर्वोक्तान्यधर्मत्वदर्शनाद् व्यभिचार्यते ॥
[ ] पृ. ५७०
एष प्रत्यक्षधर्मश्च वर्तमानार्थतैव या ॥
[श्लो० वा० निरा० श्लो० ११४] पृ. ५३७ (१०)
एषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता ।
[श्लो० वा० सू० २ श्लो० १३] पृ. ५०५ (१०)

औ

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः ।
[मीमां० १-१-५ पृ० ५] पृ. ३८६

क

कइविहे णं भंते ! आया पण्णत्ते ?
गोयमा ! अट्ठविहे । तं जहा—दविए आया ।
[भगवतीसू० शत० १२ उ० १०] पृ. ६३१ (१)
कतमत् संवृतिसत्त्वं यावल्लोकव्यवहारः ।
[ ] पृ. ३७८
कम्मं जोगनिमित्तं । [प्र० का० गा० १९] पृ. ७१३ (८)
कर्तुः कार्योपादानोपकरणप्रयोजनसम्प्रदानपरिज्ञानात् ।
[ ] पृ. १०१
कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुर्धर्मः, अधर्मस्तु अप्रियप्रत्यवायहेतुः ।
[प्रशस्तपा० भा० पृ० २७२ पं० ८ तथा पृ० २८० पं० ४]
पृ. ६८५
कर्तृफलदायी आत्मगुण आत्म मनःसंयोगजः स्वकार्यविरोधी धर्माधर्मरूपतया भेदवान् अदृष्टाख्यो गुणः ।
[ ] पृ. ६८५ (६)
कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् । [न्यायबिं० १-४] पृ. ५०८ (१)
कल्पनीयास्तु सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव ।
य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुध्यते ॥
[श्लो० वा० सू० २ श्लो० १३५] पृ. ५३
कस्मात् सास्नादिमत्स्वेवं गोर्त्वं यस्मात् तदात्मकम् ।
तादात्म्यमस्य कस्मात् चेत् स्वभावादिति गम्यताम् ॥
[श्लो० वा० आकृ० श्लो० ४७] पृ. २४० (६)
कस्यचित्तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणता ।
प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः केन हेतुना ॥
[श्लो० वा० सू० २ श्लो० ७६] पृ. ६
कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥
[ ] पृ. ७१२ (१)
कः शोभेत वदन्नेवं यदि न स्यादह्रीकता ।
अज्ञा(ज्ञ)ता वा यतः सर्वं क्षणिकेष्वपि तत्समम् ॥
[हे० बिं० पृ० १२९] पृ ३२९ (१७)
कारणमस्त्यव्यक्तम् । [साङ्ख्यका० १६] पृ. २८४
कारणसंयोगिना कार्यमवश्यं संयुज्यते ।
[ ] पृ. १४९
कारुण्याद् भगवतः प्रवृत्तिः । नन्वेवं केवलः सुखरूपः प्राणिसर्गोऽस्तु, नैवम्; निरपेक्षस्य कर्तृत्वेऽयं दोषः सापेक्षत्वे तु कथमेकरूपः सर्गः ? यस्य यथाविधः कर्माशयः पुण्यरूपोऽपुण्यरूपो वा तस्य तथाविधफलोपभोगाय तत्साधनानि शरीरादीस्तथाविधास्तत्सापेक्षः सृजति । [ ] पृ. ९९
कार्ये धूमो हुतभुजः कार्ये धर्मानुवृत्तितः ।
[ ] पृ. ५७ (४) ५८
कार्यं धूमो हुतभुजः, कार्यधर्मानुवृत्तितः ।
स तदभावेऽपि भवन् कार्यमेव न स्यात् ॥
[ ] पृ. २०

येऽपि सातिशया दृष्टा प्रज्ञा–मेधादिभिर्नराः ।
स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥
[ ] पृ. ४९
येषामप्यनवगतोत्पत्तीनां भावानां रूपमुपलभ्यते तेषां तन्तुव्यतिषङ्गजनितं रूपं दृष्ट्वा तद्व्यतिषङ्गविमोचनात् तद्विनाशाद् वा विनङ्क्ष्यतीत्यनुमीयते ।
[ ] पृ. ९४ (६)
योगिप्रत्यक्षं सम्बन्धग्राहकमाहुः व्याप्तेः सकलाक्षेपेणावगमात् ।
[ ] पृ. ७५–७६
यो ज्ञानप्रतिभासमन्वयव्यतिरेकावनुकारयति ।
[ ] पृ. ५२४,
यो नाम न यदात्मा हि स तस्यापोह उच्यते ।
न भावोऽभावरूपश्च तदपोहे न वस्तुता ॥
[तत्त्वसं० का० १०२] पृ. ३१४ (१७,१८)
यो ह्यन्यरूपसंवेद्यः संवेद्येतान्यथाऽपि वा ।
स भ्रान्तो न तु तेनैव यो नित्यमुपलभ्यते ॥
[ ] पृ. ३७

र

रजतं गृह्यमाणं हि चिरस्थायीति गृह्यते ।
[ ] पृ. ५३९ (२)
रसादिकारणेष्वावल्यादिकार्यं सदेव ।
[सांख्य.] पृ. ७२२
रयणप्पभा सिआ सासया सिआऽसासया ।
[जीवाजीवाभि० प्रतिप० ३ उ० १ सू० ७८] पृ. ६३९(१)
रूप–रस–गन्ध–स्पर्शाः संख्या परिमाणानि पृथक्त्वम् संयोग–विभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धयः सुख–दुःखे इच्छा–द्वेषौ प्रयत्नश्च गुणाः । [वैशेषिकद० १–१–६] पृ. ६७१(५)
रूपासंस्काराभावाद् वायावनुपलब्धिः ।
[वैशेषिकद० अ० ४–१–७] पृ. १००
रूपादिस्वलक्षणविषयमिन्द्रियज्ञानम् आर्यसत्यचतुष्टयगोचरं योगिज्ञानम् । [ ] पृ. ४९९
रूपभावेऽपि चैकत्वं कल्पनानिर्मितं यथा ।
विभेदोऽपि तथैवेति कुतः पर्यायता ततः ॥
[तत्त्वसं० का० १०२२] पृ. २०७ (५)
रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु ।
[आवश्यकनि० गा० ५] पृ. ५४५ (५)

ल

लक्षणयुक्ते बाधासम्भवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात् ।
[ ] पृ. ३७५ (६)
लघवोऽवयवा ह्येते निबद्धा न च केनचित् ।
तृणाद्यभिहतानां तु विक्षेपो लोष्टवद् भवेत् ॥
[श्लो० वा० सू० ६ श्लो० १११] पृ. ३८
लब्धात्मना स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ।
[ ] पृ. १०
लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् ।
[ ] पृ. ४५९ (२,३) ४७५
लिङ्ग–लिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि ।
प्रतिबन्धात् तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥
[ ] पृ. ३०५ (१)

व

वक्ता नहि क्रमं कश्चित् स्वातन्त्र्येण प्रपद्यते ।
[श्लो० वा० शब्दनित्य० श्लो० २८८] पृ. ४३५ (७)
वक्ता नहि क्रमं कश्चित् स्वातन्त्र्येण प्रपद्यते ।
यथैवास्य परैरुक्तः तथैवैनं विवक्षति ॥
[श्लो० वा० सू० ६ श्लो० २८८] पृ. ३९
वचनं राजकीयं वा लौकिकं नापि विद्यते ।
न चाऽपि स्मरणात् पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्त्तनम् ॥
[श्लो० वा० प्रत्यक्ष० श्लो० २३५] पृ. ३१९ (३)
वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं । [भगवतीसू० शत० १४ उ० ४ सू० ५१३] पृ ६३५ (१,२)
वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥
[साङ्ख्यका० ५७] पृ. ३०९
वय–समणधम्म–संजम–वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ ।
णाणाइतियं तव–कोहणिग्गहाई चरणमेयं ॥
[ओघनि० गा० २] ७५५ (२)
वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यं गोत्वं हि गीयते ।
[ ] पृ. २४३ (२)
वर्तमानावभासि सर्वं प्रत्यक्षम् । [ ] पृ. ५९३
वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र सम्भवो दुष्टकारणात् ।
[श्लो० वा० सू० २ श्लो० ६४] पृ. ८ (७–८)
वस्तुत्वे सत्येष दोषः स्यात् नासिद्धं वस्तु वस्त्वन्तरसिद्धये सामर्थ्यमासादयतीति, मायामात्रे तु नेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः । नहि मायायाः कथंचिदनुपपत्तिः–अनुपपद्यमानार्थैव हि माया लोके प्रसिद्धा उपपद्यमानार्थत्वे तु यथार्थभावान्न माया ।
[ ] पृ. २७७ (२३) २७८(१)
वस्तुभेदप्रसिद्धस्य शब्दसाम्यादभेदिनः ।
[ ] पृ ४३
वस्तुभेदे प्रसिद्धस्य । [ ] पृ. ४८४
'वस्त्रस्य रागः' कुङ्कुमादिद्रव्येण संयोग उच्यते, स च अव्याप्यवृत्तिः तत एकत्र रक्ते न सर्वस्य रागः न च शरीरादेरेकदेशावरणे सर्वस्य आवरणं युक्तम् । [ ] पृ. ६६४
वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रया ॥
[श्लो० वा० सू० ५ अभावप० श्लो० २] पृ. २४
वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यमाश्रिता ।
[ ] पृ १६५
वाक्यार्थे तु पदार्थेभ्यः सम्बन्धानुगमाद् ऋते ।
बुद्धिरुत्पद्यते तस्माद् भिन्ना सा'ऽप्यक्षबुद्धिवत् ॥
[श्लो० वा० शब्दप० श्लो० १०९] पृ. ७३८

६

*सन्मतिटीकानिर्दिष्टा ग्रन्था ग्रन्थकृतश्च ।

* परिशिष्टेऽस्मिन् स्थूला अङ्काः पृष्ठाङ्कसूचकाः, सूक्ष्मा अङ्काः पङ्क्त्यङ्कावेदकाः, कोष्ठकान्तर्गताश्चाङ्काष्टिप्पण्यङ्कनिवेदका ज्ञेया इति ॥

*सन्मतिटीकागता दार्शनिकाः पारिभाषिकाश्च शब्दाः।

* मध्ये—एतच्चिह्नभाजः शब्दा ग्रन्थाभिप्रायानुसारेण निदर्शिता । (   ) एतच्चिह्नान्तर्गता अङ्काः सूचयन्ति ॥

*सन्मतिटीकागताः केचिद् विशिष्टाः शब्दाः ।

*परिशिष्टेऽस्मिन् स्थूला अङ्का पृष्ठाङ्क सूचयन्ति, सूक्ष्मा पङ्क्त्यङ्क सूचयन्ति, कोष्ठकान्तर्गता अङ्काश्च टिप्पण्यङ्क ॥

१०

टीकायामनिर्दिष्टस्थलानामवतरणानां सम्पादकैः संशोधितानि स्थलानि।

[परिशिष्टेऽस्मिन् *एतच्चिह्नाङ्कितानि स्थलानि परिशिष्टसमये लब्धानि ॥]

सन्मत्यादर्शगतानि सम्पादकीयानि च टिप्पणानि ।

१४,१६,१७,१९;४२४-५,८,१४,४२५-६,८,९,१५,
१६,१७,१८;४२६-२,४;४२७-१६;४२८-९;४२९-१;
४३०-७,८;४३१-१,२,३;४३२-५,८,१०,११,१३;
४३३-२,४,८,९;४३४-८,११,१३.

ल

ला० टि० ४०६-५;४१०-८,११;४१२-६;४१४-३;४१५-
३;४१९-८;४२०-१२,१३;४२१-४,६,७;४२२-१,
३;४२३-१,५,१०,१६;४२४-१३;४२५-६,८,९,१५,
१६,१७,१८;४२६-२,४,१४,१५;४२७-६;४३०-७;
४३१-१,४३२-५,८,१०,११;४३४-३,६,८,११,१३;
४३५-६;४३७-५;४३८-१,३;४३९-१,२,१२,१५,
१६,१७;४४०-७,८,९;४४१-६,४४५-२;४४७-१,२,
४,४४८-१,४६६-२,६;४६७-५,६,९;४६८-१,४,६;
४७१-६,८;४७२-२,४,६,११,१२;४७४-२,५;४७६-
२,९;४७७-२,१०,११,१२;४७९-१;४८१-१,३;
४८२-१,२,३;४८३-१,२,३,४,१२;४८४-१,३,५,८,
१०,११;४८५-१,२,७,८,९,१०;४८६-३,४,५,८,९,
१३,१४,१५;४८७-१,२,३,४;४८८-२,५,४८९-५;
५००-७,९;५०१-१,२,४,५;५०२-५,६,७,९,१२;
५०३-२,३,७,५०४-१,२,५०५-३,४,५,१०,५०६-४,
५,६,७,८;५०७-१,३,७,१०,११;५०८-७,९,१०,११,
१२,१३,१५,१९; ५०९-२,३,४,७,८,१०,११,५१०-
४,५११-२,६,५१२-४,५,६,१०,१३,१४,१७,१८,२०;
५१३-१,६,८,९,११,१३,१५,५१४-१,३,९,१०,११,
१७;५१५-२,७,११,५१६-७,५१७-३,७,११,१४,१५,
५१८-२,३;५१९-६,९,१०,११,१२,१३;५२१-२;
५२२-१,३,४,८,९,५२३-१,२,३,४,५,१०,११;
५२४-३,५२५-३,५२६-१,७,९;५२७-२,९,१२,१३,
१४;५२८-१,२,३,४,७,१०;५२९-३,८,९,१०,१२,
१४,५३१-६;५३४-३,५३७-७;१२;५३८-१,५,७,९,
१०;५३९-१,७,८,१२,१३;५४०-१,२,४;५४१-४,
५,७,८;५४२-२,४,५,६,१०,११,१२,१३,१४;५४३-
१,२,५,६,७,९,१०,११,१२,१५,१६;५४४-१,५,१०,
१२;५४५-६,७,८,९,१०,११,१४;५४६-२,१२,१३;
५४७-१,३,४,७,९,१२,१७,५४८-२,४,५,८,९,१०;
५४९-४,५,७,९,१०,११,१२,१४;५५०-३,४,९;
५५३-१,७,१२;५५८-६,७,९,१३;५६०-५;५६१-३,
९;५६२-६,७,५६६-५,६,५६७-१,२;५६९-२,६;
५७०-१,५७३-३,५७८-१,१२;५८०-५;५८१-३,५,
९,११;५८३-९;५८८-१५,१७,५९१-२,३,१३;
५९४-२,५९७-१,६०५-४,५;६१४-१४,१५;६१५-
३,४,६,७.

प

नि० टिप्पण ९५-५;९७-३;१०६-२,६;१०७-४;१७८-
३.

स

संपादक टिप्पण ७-१०;९-१२;१२-६;१६-९;१९-३,४;
२०-३,२२-४,२४-४,५,२८-३;२९-५;३०-५,११,
१४;३१-२,३,४,५,८;३२-३,५,९;३३-८;३९-९;
४१-१,४४-३;४६-१;५२-७;६०-५;८७-१;११०-
७;११४-२;११८-४;११९-९;१२०-१;१४२-२;
१४३-७,९;१६९-३;१७७-११;१७९-२,२०७-३,४;
२२१-७,२४८-१;२५०-३;२७६-१४,२८०-६;
३३८-१५,१९;३४२-२१;३४३-७;३४५-५;३४९-१;
३५७-३८;३७०-२१;३९६-४,४००-९;४१६-१,२;
४२१-३;४२३-६;४३२-४,९;४३३-२;४९८-६;
५०२-१;५१९-१४,५२९-१३;५४५-५,५५९-२;
५६१-१७,५७२-३,५७३-४,५८८-७,५९१-४,७,८;
५९२-३,६,५९३-१४,१५;६०६-१,३;६०८-७;
६११-५,६३४-५;७०५-१;७०७-४,७१९-१;
७२९-२;७३२-२;७३३-७,९;७३६-२;७५४-१;
७५६-६,७६१-१४.

सन्मतिटिप्पणीनिर्दिष्टा ग्रन्थकृतो ग्रन्थाश्च।

सन्मतिसम्पादने उपयुक्तानां ग्रन्थानां सूचिः।

अनुयोगद्वारसूत्र (सुरत-आगमोदय समिति)
अनुयोगद्वारवृत्ति हरिभद्रीय (रतलाम आवृत्ति)
अनेकान्तजयपताका (अमदावाद)
अनेकान्तजयपताकाटीका (काशी यशोविजय ग्रंथमाला)
अनेकान्तजयपताकाटीका (लिखिता)
अन्नंभटमिताक्षरा (काशी-विद्याविलास प्रेस)
अपोहसिद्धिप्रकरण (सिक्स बुद्धिस्ट न्याय टेक्स्ट बिब्लिओथेका इंडिका नं. १२२६ स. हरप्रसादशास्त्री)
अभिधानचिन्तामणिकोश (काशी-यशोविजय ग्रंथमाला)
अभिधानप्पदीपिका (अमदावाद गूजरात पुरातत्त्व मंदिर)
अमरकोश (मुंबई राजकीय ग्रंथमाला निर्णयसागर प्रेस)
अष्टशती (मुंबई निर्णयसागर प्रेस)
अष्टसहस्री (मुंबई निर्णयसागर प्रेस)
अष्टसहस्रीटीका (लिखिता पूना भांडारकर प्राच्य विद्यासंशोधनमंदिर)
आचाराङ्गसूत्र (सुरत आगमोदय समिति)
आचाराङ्गसूत्रटीका (सुरत आगमोदयसमिति)
आप्तपरीक्षा (काशी-सनातन जैनग्रंथमाला)
आप्तमीमांसा (काशी-सनातन जैनग्रंथमाला)
आवश्यकनिर्युक्ति (काशी-यशोविजय ग्रंथमाला अपूर्ण)
आवश्यक हरिभद्रीय (सुरत आगमोदयसमिति)
उत्तराध्ययनसूत्र (सुरत देवचंद लालभाइ)
ऋग्वेद
ऋक्संहिता
ओघनिर्युक्ति (सुरत आगमोदयसमिति)
कठोपनिषद् (ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् मुंबई निर्णयसागर प्रेस)
कल्पसूत्र मूल (सुरत देवचंद लालभाई)
कातन्त्रव्याकरण (बिब्लिओथेका इंडिका नं. ८१)
काशिकावृत्ति (काशी-विद्याविलास प्रेस)
कुमारसंभव (मुंबई निर्णयसागर प्रेस)
केवलीभुक्तिप्रकरण (अमदावाद जैन साहित्यसंशोधक)
गणरत्नमहोदधि (प्रयाग सरस्वती प्रेस संपादक भीमनाथ शर्मा)
गोमटसार (मुंबई निर्णयसागर प्रेस)
गौडपादकारिका (पूना आनंदाश्रम ग्रंथमाला)
गङ्गानाथ झा अनुवादित श्लोकवार्तिक } (बिब्लिओथेका इंडिका नं. १८६)
(कलकत्ता सं० योगेंद्रनाथ सेन)
(लिप्जीक १९०२ संपा० ई. विन्डीश)
जीवविचारप्रकरण (मेसाणा)
जीवाजीवाभिगमसूत्र (सुरत आगमोदयसमिति)
जैनतर्कपरिभाषा (भावनगर जैनधर्मप्रसारक सभा)
जैनेन्द्रव्याकरण (काशी-सं. विन्ध्येश्वरीप्रसाद)
जैमिनिसूत्र (काशी-विद्याविलास प्रेस)
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (सुरत आगमोदयसमिति)
ज्ञानबिन्दु (भावनगर जैनधर्मप्रसारक सभा)
तत्त्वार्थव्याख्या (अमदावाद पोथी आकार)
तत्त्वार्थटीका (सुरत देवचंद लालभाई पुस्तकाकार)
तत्त्वार्थभाष्य (पूना आर्हतमत प्रभाकर, कलकत्ता रॉयल एशियाटिक सोसायटी बेंगाल)
तत्त्वार्थराजवार्तिक (काशी-सनातनजैनग्रंथमाला)
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (मुंबई निर्णयसागर आवृत्ति)
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार (मुंबई निर्णयसागर आवृत्ति)
तत्त्वार्थसूत्र (मेसाणा)
तत्त्वसंग्रहकारिका (वडोदरा गायकवाड ग्रंथमाला)
तत्त्वसंग्रह पञ्जिका (वडोदरा गायकवाड ग्रंथमाला)
तत्त्वोपप्लव (लिखित गूजरात पुरातत्त्व मंदिर)
तन्त्रवार्तिक (काशी)
त्रिंशिकाविज्ञप्ति (सं. प्रॉ० सिल्वन् लेवी पेरिस)
त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्य (सं. प्रॉ० सिल्वन् लेवी पेरिस)
दशवैकालिकसूत्र (सुरत देवचंद लालभाई)
दशवैकालिकसूत्रनिर्युक्ति (सुरत देवचंद लालभाई)
देशीनाममाला (मुंबई राजकीय ग्रंथमाला)
द्रव्यगुणपर्यायरास (लिखित)
द्वादशारनयचक्र (लिखित)
धर्मसंग्रह (बौद्ध) (ऑक्स्फर्ड युनिवर्सिटि प्रेस १८
धर्मसंग्रहणी (सुरत देवचंद लालभाई)
धर्मसंग्रहणीवृत्ति (सुरत देवचंद लालभाई)
नयनप्रसादिनी चित्सुखी (मुंबई निर्णयसागर प्रेस)
नयोपदेशवृत्ति (भावनगर आत्मानंदसभा)
नवतत्त्व
नियमसार (मुंबई जैन ग्रंथरत्नाकर कार्यालय)
नैषधकाव्य (मुंबई निर्णयसागर प्रेस)
नन्दिसूत्रचूर्णिः (रतलामनी आवृत्ति)
नन्दिसूत्र मलयगिरिटीका (सुरत देवचंद लालभाई)
नन्दिसूत्रलघुटीका (लिखित)
न्यायकुमुदचन्द्रोदय (लिखित)
न्यायदर्शन (काशी-विद्याविलास प्रेस)